UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186588

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 177 P98B Accession No. 41770

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दू-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला

भारतीय लोकनीति और सभ्यता

(ऐतिहासिक आधार-पृष्ठ और अर्वाचीन समस्याएँ)

पहला खंड

लेखक

श्रीकृष्ण व्यंकटेश पुणतांबेकर

एम० ए० (आक्सफ़र्ड), बेरिस्टर-एट-ला, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में इतिहास और राजनीति शास्त्र के प्रोफेसर, इतिहास विभाग के प्रधान तथा 'An Introduction to Civics & Politics,' के लेखक

प्रकाशक

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय

सं० १९८८ विक्रम

प्रथम संस्करण

मुद्रक—
पं० बिश्वम्भरनाथ भार्गव, स्टैन्डर्ड प्रेस, इलाहाबाद ।

सर्वाधिकार रक्षित

समर्पण

आदर्श नागरिक, आदर्श राजा,
आदर्श पति, आदर्श पुत्र,
मर्य्यादा पुरुषोत्तम भगवान
श्री रामचन्द्र को समर्पित

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु
सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात् ॥

परिभाषा ।

१. एक पति प्रथा	Monandry.
२. एक पत्नि प्रथा	Monogamy.
३. गृह पति	Patriarch.
४. चौड़े मस्तक वाले	Brachycephalic.
५. नागरिक	Citizen.
६. नागरिकता लोकनीति	Citizenship.
७. पितृ प्रधान प्रणाली	Patriarchal systems
८. बहु पति प्रथा	Polyandry.
९. बहु पत्नि प्रथा, बहु विवाह प्रथा	Polygamy.
१०. बहिर्गोत्र प्रथा	Exogamy.
११. भारतीय लोकनीति	Indian civics.
१२. मातृ प्रधान प्रणाली	Matriarchal system.
१३. मस्तक विज्ञान	Craniometry.
१४. मध्यमाकार मस्तक वाले	Mesocephalic.
१५. राजनीति	Politics.
१६. राष्ट्रीयता	Nationalism.
१७. लोकनीति	Civics.
१८. लम्बे मस्तक वाले	Dolicocephalic.
१९. सभ्यता	Civilisation.
२०. संस्कृति	Culture
२१. समाज शास्त्र	Sociology.
२२. समाज शास्त्र वेत्ता	Sociologist.
२३. सगोत्र, सवर्ण प्रथा	Endogamy.

प्रास्ताविक उपोद्घात

हमारे देश में नवीन शिक्षा की स्थापना हुए एक शताब्दी हो चुकी; पर शोक है कि अद्यापि हमको शिक्षा—विशेषतः उच्च शिक्षा—अँगरेज़ी भाषा द्वारा ही दी जाती है।

ई० स० १८३५ में कलकत्ता की 'जनरल कमिटी ऑफ़ एज्युकेशन' ने अपना मत प्रकट किया था कि—

"We are deeply sensible of the importance of encouraging the cultivation of Vernacular languages.....We conceive the formation of a Vernacular Literature to be the ultimate object, to which all our efforts must be directed."

अर्थात्, देश का साहित्य बढ़ाना ही हमारी शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य है।

सन् १८३८ में सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने "हिन्दुस्तान में शिक्षा" विषयक जो लेख लिखा था उस भी उस विद्वान् ने कहा है—

"Our main object is to raise up a class of persons, who will make the learning of Europe intelligible to the people of Asia in their own languages."

अर्थात्, हमारा उद्देश्य ऐसे सुशिक्षित जन तैयार करने का है जो यूरोप की विद्या को एशिया के लोगों की बुद्धि में अपनी भाषा द्वारा उतार दें।

ई० स० १८३९ में लार्ड ऑकलेंड (गवर्नर-जनरल) ने अपनी एक टिप्पणी में लिखा था कि—

"I have not stopped to state that correctness and elegance in Vernacular composition ought to be sedulously attended to in the superior colleges."

अर्थात्, उच्च विद्यालयों में मातृभाषा के निबन्धों में वाणी का यथार्थ रूप और लालित्य लाने पर विशेष ध्यान देने की बात मैं बिना कहे नहीं रह सकता।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने आशा की थी कि अँगरेज़ी शिक्षा पाये हुए लोगों के संसर्ग से साधारण जनता में नवीन विद्या का आप ही आप अवतार होगा। लेकिन यह आशा सफल न हुई। अतएव ईस्ट इंडिया कम्पनी के अन्तिम समय (१८५४) में कम्पनी के 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' (निरीक्षण समिति) के अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड ने एक चिर-स्मरणीय लेख लिखा, जिसमें उन्होंने प्राथमिक शिक्षा से लेकर यूनिवर्सिटी तक की शिक्षा का प्रबन्ध सूचित किया। पश्चात् कम्पनी से हिन्दुस्तान का राज्याधिकार महारानी विक्टोरिया के हाथ में आया और बड़े समारोह से नवीन शिक्षा की व्यवस्था हुई—तथापि पूर्वोक्त उद्देश्य बहुशः सफल नहीं हुआ। यूनिवर्सिटी के स्थापनानन्तर २५–३० वर्ष बाद भी सर जेम्स् पील (बम्बई के कुछ समय तक शिक्षाधिकारी) निम्न-लिखित रूप में आक्षेप कर सके थे—

"The dislike shown by University graduates to writing in their vernacular can only be attributed to the consciousness of an imperfect command of it. I cannot otherwise explain the fact that graduates do not compete for any of the prizes of greater money value than the Chancellor's or Arnold's Prize at Oxford or Smith's or the Members' Prizes at Cambridge. So curious an apathy, so discouraging a want of patriotism, is inexplicable, if the transfer of English thought to the native idiom were, as it should be, a pleasant exercise, and not, as I fear it is, a tedious and repulsive trial."

हमारे नव शिक्षित बन्धुओं ने देश-भाषा द्वारा देश का साहित्य बढ़ाया है। इससे इनकार करना अकृतज्ञता करना है, तथापि इतना कहना पड़ता है कि वह साहित्य-समृद्धि जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं हुई है।

इसका कारण क्या है ? कई विद्वानों ने इसका कारण देशी भाषा का अज्ञान और विश्वविद्यालयों में देशी भाषा के पठन-पाठन का अभाव माना है। लेकिन वास्तविक कारण इससे भी आगे जाकर देखना चाहिए। मूल में बात यह है कि परभाषा द्वारा विद्यार्थियों को जो विद्या पढ़ाई जाती है वह उनकी बुद्धि और आत्मा से मेल नहीं खाती। परिणाम यह होता है कि सब पाठ उनकी बुद्धि में—भूमि में पत्थर के टुकड़े के समान—पड़े रहते हैं, बीज के समान भूमि में मिलकर अंकुर नहीं उत्पन्न करने पाते।

यह सुसिद्धान्तित और सुविदित है कि बालक मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा में सफलता पा सकते हैं क्योंकि मातृभाषा शिक्षा का स्वाभाविक वाहन है। इसलिए हमारी प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा मातृभाषा द्वारा ही होनी चाहिए। केवल सिद्धान्त रूप में ही हम ऐसा नहीं कहते, बल्कि यह व्यवहार में भी हिन्दुस्तान की सब प्राथमिक और अनेक माध्यमिक शिक्षणशालाओं में स्वीकृत हो चुकी है। तथापि उच्च शिक्षा के लिए इस विषय में अभी तक कुछ उपक्रम नहीं हुआ है। विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए जब महाविद्यालय में प्रवेश करता है तब भी मातृभाषा द्वारा ही उच्च शिक्षा ग्रहण करना उसके लिए स्वाभाविक देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान ऐसा विशाल देश है कि इसकी एकता साधने के लिए हर एक प्रान्त की (मातृ) भाषा के अतिरिक्त समस्त देश की एक राष्ट्रभाषा होना आवश्यक है। ऐसी राष्ट्रभाषा होने का जन्मसिद्ध और व्यवहारसिद्ध अधिकार देश की सब भाषाओं में हिन्दी भाषा को ही है। उचित है कि हिन्द के सब विद्यार्थी जब विश्वविद्यालय में प्रवेश करें तो स्वाभाविक मातृभाषा से आगे बढ़के राष्ट्रभाषा—हिन्दी—द्वारा ही शिक्षा प्राप्त करें। वस्तुतः प्राचीन काल में जैसे संस्कृत और पीछे पाली राष्ट्रभाषा थी उसी प्रकार अर्वाचीन काल में हिन्दी है। इस प्रान्त में हिन्दी का ज्ञान मातृभाषा के रूप में होता ही है। लेकिन जिन प्रान्तों की यह मातृभाषा

नहीं है वे भी इसको राष्ट्रभाषा होने के कारण माध्यमिक शिक्षा के क्रम में एक अधिक भाषा के रूप में सीख लें और विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा इसी भाषा में प्राप्त करें; यही उचित है। तामिल देश को छोड़कर हिन्दुस्तान की प्रायः सभी भाषाएँ संस्कृत प्राकृतादि क्रम से एक ही मूलभाषा या भाषामंडल में से उत्पन्न हुई हैं। अतएव उनमें एक कौटुम्बिक साम्य है। इसलिए अन्य प्रान्तीय भी, अपनी मातृभाषा न होने पर भी, हिन्दी सहज ही में सीख सकते हैं। ज्ञान-द्वार की स्वाभाविकता में इससे कुछ न्यूनता ज़रूर आती है तथापि एकराष्ट्र की सिद्धि के लिए इतनी अल्प अस्वाभाविकता सह लेना आवश्यक है। उत्तम शिक्षा की कक्षा में यह दुष्कर भी नहीं है, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे स्वाभाविकता के पार जाने का सामर्थ्य भी कुछ सीमा तक बढ़ता है।

आधुनिक ज्ञान की उच्च शिक्षा में उपकारक ग्रन्थ हिन्दी में, क्या हिन्दुस्तान की किसी भाषा में, अद्यापि विद्यमान नहीं हैं—इस प्रकार का आक्षेप करके अँगरेज़ी द्वारा शिक्षा देने की प्रचलित रीति का कितने ही लोग समर्थन करते हैं। किन्तु इस उक्ति का अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है, क्योंकि जब तक देश की भाषा द्वारा शिक्षा नहीं दी जाती तब तक भाषा के साहित्य का प्रफुल्लित होना असम्भव है और जब तक यथेष्ट साहित्य न मिल सके तब तक देश की भाषा द्वारा शिक्षा देना असम्भव है। इस अन्योन्याश्रय दोषापत्ति का उद्धार तभी हो सकता है जब अपेक्षित साहित्य यथाशक्ति उत्पन्न करके तद्द्वारा शिक्षा का आरम्भ किया जाय। आरम्भ में ज़रूर पुस्तकें छोटी छोटी ही होंगी। लेकिन इन पर अध्यापकों के उक्त-अनुक्त-दुरुक्त आदि विवेचन रूप एवं इष्ट पूर्त्तिरूप वार्तिक, तात्पर्य्यविवरण रूप वृत्ति, भाष्य-टीका, खंडनादि ग्रन्थों के होने से यह साहित्य बढ़ता जायगा और बीच में अहरहः प्रकटित अँगरेज़ी पुस्तकों का उपयोग सर्वथा नहीं छूटेगा। प्रत्युत अच्छी तरह से वह भी साथ साथ रहकर काम ही करेगा। इस रीति से अपनी भाषा की समृद्धि भी नवीनता और अधिकता प्राप्त करती जायगी।

इस इष्ट दिशा में काशी विश्वविद्यालय की ओर से जो कार्य करने का आरम्भ किया जाता है वह दानवीर श्रीयुत घनश्यामदासजी बिड़ला के दिये हुए ५०,००० रुपये का प्रथम फल है। आशा की जाती है कि इस प्रकार और धन भी मिला करेगा और उससे अधिक कार्य भी होगा। इति शिवम्।

अहमदाबाद
वैशाख शुक्ल पूर्णिमा
वि० सं० १९८७

आनंदशङ्कर बापूभाई ध्रुव
प्रो-वाइस चांसलर, काशी विश्वविद्यालय,
अध्यक्ष, श्री काशी विश्वविद्यालय हिन्दी-ग्रन्थमाला-समिति

प्राक्कथन

मेरे मित्र और सहकारी प्रोफेसर श्रीकृष्ण व्यंकटेश पुणताम्बेकर ने यह महत्वपूर्ण छोटी पुस्तक एक ऐसे विषय पर लिखी है जो बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी का एक आवश्यक और महत्वपूर्ण विशिष्ट विषय है; और इसका संक्षिप्त प्राक्कथन लिखते हुए मुझे बहुत अधिक आनन्द होता है। यद्यपि इस विश्वविद्यालय की शिक्षा प्रणाली में शिक्षा के अर्थकर अंग की उपेक्षा नहीं की गई है, बल्कि यों कहना चाहिए कि आधुनिक भारत की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए उस शिक्षा के विकास पर निरन्तर पूरा ध्यान दिया जाता है, तथापि यह बात सदा स्वीकृत की गई है कि बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी का अस्तित्व वास्तव में भारत की प्राचीन संस्कृति की खोज करने और उसपर फिर से विचार करने के लिए ही हुआ है। यही उद्देश्य सामने रखकर मेरे मित्र प्रोफेसर तैलंग ने और मैंने सन् १९२३ में इस विश्वविद्यालय के शिक्षाक्रम में भारतीय तथा समस्त संसार के सामान्य नागरिक शास्त्र और प्राचीन भारत के इतिहास तथा संस्कृति की शिक्षा की व्यवस्था की; और अब यह देखकर बहुत सन्तोष होता है कि ये विभाग दिन पर दिन उन्नति कर रहे हैं और बहुत ही महत्वपूर्ण काम कर रहे हैं। प्रो० पुणताम्बेकर ने दो पुस्तकें लिखी हैं। एक तो Introduction to Civics and Politics और दूसरी Introduction to Indian Citizenship and Civilisation और ये दोनों पुस्तकें यह बात सूचित करती हैं कि बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी में नागरिक शास्त्र की शिक्षा बिलकुल मामूली तौर पर नहीं दी जाती, बल्कि उसमें बहुत कुछ सार और तत्व है।

लेखक ने यह बात बहुत ही ठीक और मार्के की कही है कि—"भारतीय नागरिक के सम्बन्ध की बातों का अध्ययन करते समय हमें इस बात का ध्यान

रखना चाहिए कि स्वयं वह कैसी परिस्थिति में था, वह किस रूप में विकसित हुआ था और उसकी संस्थाएँ आदि कैसी थीं; और साथ ही हमें यह भी देखना चाहिए कि इस समय वह किस रूप में है और भविष्य में किस रूप में होना चाहता है।" और आगे चलकर इस विषय का जो विवेचन किया गया है, वह यद्यपि स्थान की कमी के कारण कुछ संक्षिप्त हो गया है, तथापि वह इतना विचारपूर्ण अवश्य है जिससे विद्यार्थी के मन में विचार पुष्ट हो सकते हैं। इसके सिवा उन्होंने हिन्दू सभ्यता की कई आवश्यक विशेषताओं पर भी ध्यान देकर उनका विवेचन किया है। उदाहरणार्थ एक तो यह कि हिन्दू सभ्यता गतिशील भी है और निश्चल भी। हिन्दू लोग यद्यपि अपनी समझ में संकुचित और संकीर्ण विचारवाले हैं, तथापि अनजान में वे उदार हैं। दूसरे यह कि अपने पड़ोसी के प्रति हिन्दू का यह भाव रहता है कि "संसार में हम भी सुखपूर्वक रहें और तुम भी रहो"। और साथ ही तीसरे यह कि उसकी प्रवृत्ति में बिलकुल उदासीनता या नितान्त एकान्तता नहीं है, बल्कि उसके पड़ोसी के जीवन में जितनी अच्छी से अच्छी और आवश्यक बातें होती हैं, उन्हें वह शान्ति और उदारतापूर्वक ग्रहण कर लेता है।

भारत के प्राचीन इतिहास और संस्कृति के सम्बन्ध में एक बड़ी समस्या यह है कि प्राचीन हिन्दुओं के वास्तविक और आदर्श जीवन के अन्तर का कैसे पता लगाया जाय; और इसी कारण आदर्श की उस वास्तविकता के सम्बन्ध में सन्देह किया जाता है जो प्राचीन ग्रन्थों में अंकित की गई है। उदाहरणार्थ कुछ लोग इस बात में सन्देह किया करते हैं कि क्या आश्रमोंवाली व्यवस्था का कभी वास्तविक जीवन में भी पालन होता था? और क्या रामायण के महानूर नायक के समान राजा भी किसी समय हुए थे? वास्तविक और आदर्श जीवन में जो अन्तर होता है, उसका महत्व तो माना जा सकता है; पर फिर भी ऐसी बहुत सी और विश्वसनीय कसौटियाँ हैं जिनसे यह निश्चित किया जा सकता है कि आदर्श किस सीमा तक वास्तविक माना जा सकता है। व्यक्ति की ही भाँति किसी समाज में भी वास्तविक जीवन कभी पूर्ण रूप से आदर्श जीवन का समकक्ष नहीं हो सकता। लेकिन इतना होने पर भी आदर्श का इतना अधिक ग्रहण और पालन हो सकता है कि वह वास्तविक समझा जा सके। इस प्रकार

आश्रम-व्यवस्था बहुत कुछ आदर्श के ही रूप में थी ; और राजा का आदर्श भी ऐसा ही था, जिसके ज्वलन्त तथा उज्वल उदाहरण वास्तविकता के क्षेत्र में मिला करते थे। इसलिए प्रो० पुणताम्बेकर ने अपने वक्तव्यों का आधार वास्तविक इतिहास पर रखा है; पर साथ ही उन्होंने उस मूल भाव का भी ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है जिससे वह इतिहास अनुप्राणित है। इस प्रकार इतिहास और दर्शन के जो तत्व आपस में मिलते जुलते और समान हैं, उनका उन्होंने ठीक ठीक ग्रहण और अनुकरण किया है।

जो भारतवासी हिन्दू सभ्यता के नागरिक अंग का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों, उनसे मैं लेखक की इन दोनों पुस्तकों का अध्ययन करने की सिफारिश करता हूँ।

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी
रामनवमी, सं० १९८८

ए० वी० ध्रुव।

लेखक की भूमिका

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी में भारतीय लोकनीति और सभ्यता सम्बन्धी विषयों की शिक्षा देने के समय उनको समस्याओं का मुझे जो अध्ययन करना पड़ा था, प्रस्तुत पुस्तक उसी के फल स्वरूप है। इस देश के लोगों को अपने पूर्वजों से जो अच्छी से अच्छी बातें मिली हैं, जिनका परम्परा से अध्ययन होता आया है, भिन्न भिन्न परिस्थियों में जो अच्छी अच्छी बातें ग्रहण की गई हैं तथा एकत्र की गई है और साथ ही संसार की जिन अच्छी से अच्छी बातों का ज्ञान-पूर्वक अध्ययन तथा अनुकरण किया गया है और आदर तथा श्रद्धा के भाव से जिनका ग्रहण किया गया है, उन सबको एकत्र करके एक स्थान पर रखना ही इस विश्वविद्यालय का उद्देश्य और आदर्श है। हिन्दुओं में सदा से उच्च आकांक्षाएँ रही हैं और वे ज्ञान क्षेत्र की सर्वश्रेष्ठ बातों तक पहुँचने की कामना करते रहे हैं। जीवन के भिन्न भिन्न विभागों और अंगों में जितनी जटिलताएँ और जितनी विविधाएँ होती हैं, उन सबके संग्रह की क्रिया ही मानों उनका इतिहास है। इसलिए उनका धार्मिक और सामाजिक संघटन स्वतः बनाए हुए वर्गों की एक ऐसी प्रणाली पर आश्रित है जो मूलतः जन साधारण की स्वाभाविक प्रवृत्ति के नितान्त अनुकूल है और उनकी शिक्षा प्रणाली का आधार व्यक्तिगत प्रयत्न और संघटन है। जीवन के बाह्य विभेदों को वे बिलकुल स्वतन्त्र छोड़ देते हैं और जीवन की आन्तरिक एकता के उद्देश्य से वे उनका एकीकरण करने का प्रयत्न करते हैं। यह पुस्तक दो भागों में प्रकाशित होगी। यह एक प्रकार से केवल आरम्भिक ज्ञान प्राप्त करानेवाली पुस्तक है और इस में मोटे तौर पर यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन काल में नागरिक जीवन के कौन से भिन्न भिन्न अंग और उद्देश्य थे, इतिहास में वे किस प्रकार प्रकट या प्रत्यक्ष हुए और उसकी भिन्न भिन्न श्रेणियों में क्या क्या परिवर्त्तन घटित हुए। उसकी प्रत्येक श्रेणी या अवस्था में उन्नति या वृद्धि का तत्त्व वर्त्तमान है, और सब जगह यही दिखलाई पड़ता है कि सब अंगों को ठीक तरह से स्थापित करने, उन में

बल की समानता बनाए रखने और सामंजस्य स्थापित रखने का प्रयत्न किया गया है। उसमें केवल व्यवस्था का ही तत्व नहीं है, बल्कि इस सभ्यता के विस्तृत और बहुकालव्यापी क्षेत्र में उन्नति भी दृष्टिगोचर होती है। यही एक ऐसा तत्त्व है जो उसका इतिहास केवल मनोरञ्जक ही नहीं बनाता, बल्कि उसे मूल्यवान् या महत्वपूर्ण भी बनाता है।

भारत के इतिहास से महत्व की एक और बात भी प्रकट होती है। और वह यह कि जो लोग यहाँ किसी समय विदेशी के रूप में आते थे, वे कुछ दिनों बाद इसी देश के नागरिक हो जाते थे। इस क्रिया का एक मुख्य अंग यह था कि इसके उदर में सब को स्थान मिल जाता था, यह सबको पचा लेता था, विदेशियों को अपनी सीमा में भुक्त कर लेता था और इस देश के आदिम निवासियों को मनुष्य बनाता था। भारत की प्राचीन लोकनीति के सम्बन्ध में ये तत्व बहुत बड़े और महत्व के हैं। यहाँ आकर विदेशियों को अपने नितान्त आवश्यक विचारों या स्वतन्त्रताओं का परित्याग नहीं करना पड़ता था और वह यहाँ के सीमा सम्बन्धी या राष्ट्रीय वर्ग में सम्मिलित हो जाते थे, उसके संरक्षण और नियमन का भोग करते थे और उसकी सहनशीलता प्राप्त करते थे।

पड़ोसियों के प्रति हिन्दुओं का यही भाव था कि "हम भी सुखपूर्वक रहें और तुम भी रहो।" यह एक बहुत ही मनुष्योचित भाव है और इससे भारत की राष्ट्रीयता तथा मनुष्यत्व की नवीन नागरिकता का निर्माण करने में बहुत सहायता मिलेगी।

आगे के पृष्ठों में मैंने इन में से कुछ समस्याओं का विवेचन किया है और भारतीय लोकनीति तथा सभ्यता के स्थायी महत्व और आवश्यकताओं पर जोर दिया है।

इस प्राचीन विशाल नगर और इस आधुनिक आदर्श विश्वविद्यालय ने मेरे अध्यापन के कार्य में मेरे चारों ओर ज्ञान, संस्कृति और परम्परागत शुभ बातों की जो विशाल परिस्थिति उत्पन्न कर दी है, उसी के कारण मुझे यह पुस्तक लिखने की थोड़ी बहुत प्रेरणा मिली है। इस परिस्थिति में मुझे आधुनिक और प्राचीन दोनों ही प्रकार के बड़े बड़े ऋषियों की उपस्थिति और प्रधानता का अनु-

भव होता है ; और मैं बहुत ही श्रद्धा तथा नम्रतापूर्वक उनका आभार स्वीकृत करता हूँ ।

मैंने यह विस्तृत सिंहावलोकन इसलिए किया है कि विद्यार्थी लोग उस विशाल और उन्नतिशील सभ्यता के भिन्न भिन्न अंगों को अच्छी तरह और विस्तृत दृष्टि से देख सकें जो अपने दीर्घ जीवन में निश्चल होने के साथ ही साथ गतिशील भी है । मैं आशा करता हूँ कि इससे उनकी दृष्टि विस्तृत होगी, उनके विचार गम्भीर होंगे और मातृभूमि की सबसे बड़ी आवश्यकता और ज्ञान सम्बन्धी संघर्ष के समय उसकी सेवा के लिए उनके हृदय को महान् तथा समस्त सद्गुणों से युक्त करने में सहायता मिलेगी ।

वन्देमातरम् ।

यह पुस्तक मेरी अंग्रेज़ी पुस्तक Indian Citizenship and Civilization का हिन्दी अनुवाद है । बनारस निवासी श्रीयुत् बाबू रामचन्द्र वर्म्मा ने कृपाकर अनुवाद को सुसंस्कृत किया है । इस परिश्रम के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ !

हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस ।
रामनवमी, सं० १९८८ ।

श्रीकृष्ण व्यंकटेश पुणताम्बेकर ।

मर्यादा पुरुषोत्तम

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी ॥
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमान् शत्रुनिबर्हणः ।
विपुलांसो महाबाहुः कंबुग्रीवो महाहनुः ॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः ।
आजानुबाहुः सुशिरः सुललाटः सुविक्रमः ॥
समः समविभक्तांगः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
पीनवक्षो विशालाक्षो लक्ष्मीवान् शुभलक्षणः ॥
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसंपन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।
वेदवेदांगतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ॥
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ।
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिंधुभिः ॥
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैकप्रियदर्शनः ।
स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानंदवर्धनः ॥
समुद्र इव गांभीर्ये धैर्येण हिमवानिव ।
विष्णुना सदृशोवीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः ॥
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ।
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः ॥
तमेव गुणसंपन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ।
ज्येष्ठं श्रेष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम् ॥

रामायण, बालकांड, सर्ग १.
(श्लोक ८—१९)

भारतीय लोकनीति

परिच्छेद १

देश

पृष्ठ

नागरिक की परिभाषा—भारतीय नागरिकता का विस्तार—भारतवर्ष की परिपूर्णता—भौगोलिक तत्त्वों का मनुष्य पर प्रभाव—जल-वायु—प्राकृतिक साधन—प्राकृतिक स्थिति और विस्तार—अन्य कारण—स्थान से प्रेम—देश-प्रेम का विकास—पृथ्वी माता—स्थान तथा मनुष्य का एक दूसरे पर प्रभाव—भारतवर्ष की भौगोलिक एकता—देश की सीमा—आर्यावर्त या हिन्दुस्तान—दक्षिणापथ या दक्खिन—द्राविड़ देश—उत्तरी भाग—दक्षिणी भाग—इतिहास में उत्तरी भाग का महत्व—उत्तरी या पश्चिमी भाग—दक्षिण तथा सागर—भिन्नता तथा दूरी के कारण राजनीतिक झगड़े—खैबर की घाटी का प्रभाव—समुद्र का प्रभाव—भारतवर्ष के पड़ोसी देश—आरंभिक काल से ही भारतीय एकता का ज्ञान—हिन्दुस्तान नाम का कारण—देश की धार्मिक एकता का ज्ञान—देश की राजनीतिक एकता का ज्ञान—धर्म-प्रचारकों तथा उपनिवेश-स्थापकों में एकता का ज्ञान—देश की सांस्कृतिक एकता का ज्ञान—देश की सामाजिक एकता का ज्ञान—संस्कृत भाषा में एकता की झलक—एकता के भाव का भारतीय इतिहास पर प्रभाव—माध्यमिक काल में एकता का भाव—आधुनिक काल में एकता का भाव—उच्च कोटि के देश-प्रेम का विकास। १—१७

परिच्छेद २

अधिवासी

पृष्ठ

जातियों के स्थान-परिवर्तन के कारण—मनुष्य जाति का आदि निवासस्थान—भारत का आकर्षण—जातियाँ जो भारत में आईं—मस्तक-विज्ञान के अनुसार जातियों का वर्गीकरण—स्ले का वर्गीकरण—उपादानों की मुख्य विशेषताएँ—(१) आदि उपादान, (२) द्रविड़ उपादान, (३) आर्य-उपादान—जातियों पर प्रभाव डालनेवाले कारण—विदेशियों का प्रभाव—हिन्दू भावना की प्रधानता—ईरानियों का अल्प प्रभाव—यूनानियों का कुछ प्रभाव—शकों और हूणों के प्रभाव का अभाव—रक्त का मिश्रण और हिन्दुओं की जाति-भावना—(१) जातिवाद का पूर्ववर्ती समय या वर्णकाल, (२) जातिवाद का काल—प्राचीन एवं नवीन मुसलमानों में रक्त-मिश्रण का आधिक्य—मुसलमान अधिक पूर्ण हैं—मुसलमानों पर हिन्दुओं का प्रभाव—हिन्दुओं पर मुसलमानों का प्रभाव—मुसलमानों की दो बुराइयाँ—हिन्दुओं के सामाजिक और धार्मिक व्यवहारों पर मुसलमानों का प्रभाव—युरोपीय प्रभाव—भारत पर अंग्रेज़ों की विजय—अतीत में जातिगत संमिश्रण के बाधक कारण—आधुनिक बुरी भली प्रवृत्तियाँ ।

१८—३५

परिच्छेद ३

सांस्कृतिक एकता

भारतीय संस्कृति की एकता—आर्य भावों और पद्धतियों का प्राधान्य—भाषाओं की घनिष्ठता—आर्य भाषाएँ—संस्कृत-उर्दू-द्रविड़ भाषाएँ—मुण्डा भाषाएँ—लिपियाँ—भारत की राष्ट्र भाषा—

पृष्ठ

भारतीय धर्मों की घनिष्ठता—भारतीय मत और विदेशी मत—कला की अन्तर्भूत एकता—साहित्य में सामान्य धारा—जीवन-निर्वाह की सामान्य विधि—खाद्य द्रव्य—वेश भूषा—सामाजिक विधियाँ—अनुभूति, विचार-धारा और जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण—एक सामान्य भाषा की वर्तमान समस्या—अंग्रेज़ी भाषा सामान्य माध्यम के रूप में—'हिन्दुस्तानी' सामान्य माध्यम के रूप में—लिपि की वर्तमान समस्या—देवनागरी, सामान्य लिपि के रूप में—फारसी, सामान्य लिपि के रूप में—रोमन, सामान्य लिपि के रूप में—भारतीय सभ्यता के उपकरण—अरब का प्रभाव—युरोपीय प्रभाव—भारत ने दूसरों से भी लिया है—भारतीय आदर्श आध्यात्मिक और विश्वजनीन हैं—युरोपीय आदर्श तत्वतः लौकिक और जातीय हैं—भारत, विश्व की संस्कृतियों का संगम-स्थल—भारत ने स्वयं अपना स्वरूप स्थिर किया है—भारत की प्रधान ध्वनि—विश्व सभ्यता में भारत का स्थान अतीत काल में—भविष्य—जगदीशचन्द्र बसु का मत—आनन्दकुमार स्वामी का मत—बहन निवेदिता का कथन। ३६—५०

परिच्छेद ४

लोकनीति के अंग

धार्मिक जीवन

धर्म का महत्व—इसकी सार्वदेशिक प्रधानता—इसका प्रभाव—इसका आधार—इसकी मुख्य धारणा—इसके विभिन्न मार्ग और प्रणालियाँ—इसके अध्ययन की विधि।

१—हिन्दू धर्म—हिन्दू धर्म सब से प्राचीन है—यह एक बड़ा धर्म है।

प्रारम्भिक अवस्था (वैदिक काल)—एक महान् धर्म—इसकी मुख्य धारणा—वेद क्या है—वैदिक देवताओं का स्वरूप—ऋग्वेद और उसके देवता—वस्तुतः केवल एक देवता—वैदिक विचार धारा—वैदिक देवताओं की विशेषताएँ—अनेकता के मूल में एकता—वैदिक प्रार्थना—गायत्री, वैदिक यज्ञ—इनका उद्देश्य—अग्नि साधन या द्वार है—गृह्य और श्रौत यज्ञ—पिछले काल में याज्ञिक प्रथा, कर्मकाण्ड तथा पौरोहित्य की वृद्धि—इस अवस्था के विरुद्ध दार्शनिक प्रतिक्रिया—उपनिषद् के सिद्धान्तों का विकास—तीन मार्ग—वैदिक संस्कृति की प्रकृति।

द्वितीय अवस्था (ब्राह्मण काल)—यज्ञों एवं पुरोहितों के महत्व का विकास—ब्राह्मण ग्रन्थ—यज्ञ से मुक्ति।

तीसरी अवस्था (उपनिषद् काल)—सत् ज्ञान पर जोर—मनुष्य ही ईश्वर है—ब्रह्म एक तथ्य है—उसकी अनुभूति द्वारा मुक्ति।

चौथी अवस्था (स्मृति काल)—जन साधारण के लिए नियमबद्धता और संघटित जीवनकी आवश्यकता—महान् स्मृतिकार तथा स्मृतियाँ—मनुस्मृति—वर्णाश्रम-व्यवस्था द्वारा मुक्ति।

पाँचवीं अवस्था (समन्वय तथा भक्ति मार्ग का काल) मुक्ति के लिए भक्तिमार्ग पर जोर।

छठी अवस्था (पौराणिक काल)—पौराणिक प्रभाव एवं लोकप्रिय हिन्दुत्व—हिन्दू धर्म के तात्विक उपकरण—पुराणों ने हिन्दू धर्म को श्रेणीबद्ध किया—वैदिक धर्म एवं समाज का विरोध।

२—**वासुदेवोपासना एवं भागवतवाद**—भक्ति के एक मात्र देवता विष्णु—वेदों में विष्णु—कृष्ण, विष्णु के अवतार रूप में—इस धर्म के सिद्धान्त—इस धर्म का प्राथमिक उल्लेख—बौद्ध एवं जैन धर्मों पर इस धर्म का संभावित प्रभाव।

३—**जैन धर्म**—महावीर द्वारा जैन धर्म का स्थापन—यह वैदिक धर्म के विरोध में चला था—प्रारंभिक जीवन—उनका सन्देश—पूर्ण जैन कौन है—महावीर का संघ—उपनिषदों के भावों का ग्रहण—उपनिषदों से अंतर—पवित्र ग्रन्थ, सम्प्रदाय और संख्या—महावीर की पूजा—तर्क शास्त्र की वृद्धि—ये हिन्दू हैं।

४—**बौद्ध धर्म**—बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम—ज्ञान की प्राप्ति और सन्देश—उनकी शिक्षाएँ—उनके सदाचारिक अनुशासन—उपास्य केरूप में बुद्ध—मत-भेद और विभर्क्ती-करण—हीनयान—महायान—बुद्ध की प्रधान शिक्षाएँ—संघ और नियम-बद्धता—बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्त—इसकी पवित्र पुस्तकें—एशिया में बौद्ध धर्म का प्रचार—ब्राह्मण धर्म का प्रभाव— कोई अभेद्य अन्तर नहीं—भिक्षु प्रणाली पुरानी है—प्रणाली नई थी—औपनिषदिक सिद्धान्तों की कार्य रूप में परिणति।

५—**त्रिमूर्ति**—त्रिमूर्ति की धारणा—पुराणों और तंत्रों में इनका उल्लेख

६—**शैव मत**—वेदों में शिव—उनका स्वरूप—सर्वोच्च देवता के रूप में—उनके तीन मुख्य रूप—उनके धर्म की मूल बातें—शैव मत और तामिल सन्त।

७—**वैष्णव धर्म**—विष्णु की धारणा—अवतार के रूप में

उनका कार्य—विष्णु के तीन रूप—वैष्णव धर्म के पवित्र ग्रन्थ और उसका सन्देश ; वैष्णव धर्म और तामिल सन्त ।

८—शाक्त ।

९—भक्ति आन्दोलन—विकास—रामानन्द—कबीर—दादू—वल्लभाचार्य—चैतन्य—मीराबाई और सूरदास—नरसी मेहता—तुलसीदास—महाराष्ट्र सन्त—इन सन्तों का जीवन और आदर्श ।

१०—सिक्ख धर्म—जन्मदाता नानक—उनका सन्देश—उनकी शिक्षाएँ—उनका तत्वज्ञान—खालसा पन्थ ।

११—लिंगायत—धर्म-साधन के तीन प्रकार ।

१२—राधास्वामीमत ।

१३—सत्नामी ।

१४—आधुनिक धार्मिक आन्दोलन—ब्रह्म समाज या अखिलवादी—राजा राममोहन राय—महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर—केशवचन्द्र सेन—आर्य समाज—स्वामी दयानन्द—इसके दस सिद्धान्त—हिन्दू समाज पर इसका प्रभाव—रामकृष्ण मिशन—स्वामी रामकृष्ण—स्वामी विवेकानन्द—थियासोफी का आन्दोलन—फिरके और उनके धर्म—सम्प्रदायों में परस्पर मौलिक विरोध नहीं—सत्य की अनेक-रूपता और सहन-शीलता की आवश्यकता ।

१५—ज़रदुश्त का पारसी धर्म—जन्मदाता ज़रदुश्त—संघर्ष , फ़ारस के सम्राट् का धर्म-परिवर्तन—शिक्षाएँ—पाप-पुरुष का स्वर्ग-नरक ।

१६—ईसाई धर्म—महात्मा ईसा प्रवर्तक—सुधार आन्दोलन में योग—सन्त पाल तथा युरोप का धर्म-परिवर्तन—

ईसाई धर्म में ही भिन्न भिन्न वर्ग और युद्ध—ईसाई धर्मानुसार ईश्वर का स्वरूप—दूसरों को अपने में मिलानेवाला धर्म।

१७—इस्लाम संस्थापक मुहम्मद—उनकी धार्मिक प्रवृत्तियाँ—हिजरत—प्रतिज्ञा—सफलता—सन्देश और शिक्षाएँ—मुसल्मानों के कर्तव्य—दो सम्प्रदाय—सुन्नी और शिया—मूर्ति-पूजा और पौरोहित्य का विरोध—भारत में इस्लाम—अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति विरोधी भाव—संख्या—सुन्नी—शीया—सूफी—मोपला, बोरा और खोजा।

१६—राष्ट्रीय जीवन में धर्म का स्थान—धर्म की उपयोगिता—राष्ट्र और धर्म—धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धान्त।

५१—१३५

परिच्छेद ५

सामाजिक जीवन

भारत की समाज-संस्थाएँ।

१—वर्ण—वर्ण संबंधी धारणा।

२—जाति—जाति की धारणा का उत्थान—जाति का मूल—सहभोज—भारतीय सामाजिक इतिहास के काल-विभाग—जातियों की वृद्धि—विच्छृङ्खलता के कारण—सुधारकों और सम्राटों के कार्य—चारो वर्णों की तुलनात्मक मर्यादा—ब्राह्मण-शूद्र-जातियों का युरोपीय विभाजन—विभाजन के साधन—पवित्रता और संकरता की धारणाएँ—इसके लाभ—इसकी बुराइयाँ—वर्तमान सामाजिक संघटन में जाति का स्थान—पाश्चात्य प्रभाव—सार्व-प्रान्तीय सम्बन्ध—प्राचीन कट्टरपन में कमी।

३—कुटुम्ब या परिवार—रक्त-सम्बन्ध का विचार—सामाजिक जीवन में परिवार का स्थान—इसकी प्राचीनता—परिवार का अर्थ—दो मूल विचार—परिवार-सम्बन्ध के कुछ और विचार—मातृ-प्रधान तथा दूसरे प्रकार—कुटुम्ब, समाज का स्वतन्त्र वर्ग है—इसका धर्म—अविभक्त कुटुम्ब—स्त्री-पुरुष की तुलनात्मक मर्यादा—उपयोगिता—दोष—क्रमिक विशृङ्खलता और आर्थिक भार—संस्था की हैसियत में—अन्य वर्ग—विदेशी जाति-हीन समाज।

४—सामाजिक रीतियाँ—ब्रह्मचर्य—गृहस्थाश्रम—वानप्रस्थ—संन्यास—यज्ञोपवीत संस्कार—विवाह बिधियाँ—बाल-विवाह—विधवा-विवाह—बहु-विवाह—वैवाहिक बाधाएँ।

५—स्त्रियों की स्थिति और मर्यादा—उच्च जातियों की स्त्रियों की स्थिति, मनु का मत।

६—अस्पृश्यता—इसका आधार—इसके प्रकार—इसका मूल—मनु एवं पराशर—उन पर लगाये हुए अपराध—साधारण मानवी अधिकार भी प्राप्त नहीं—सन्तों और सुधारकों का व्यवहार—नवीन धार्मिक आन्दोलन—हिन्दू सामाजिक जीवन की सामान्य धारा।

७—भारत के मुसलमानों का सामाजिक जीवन—सामाजिक संघटन के सिद्धान्त—सामाजिक कुरीतियों की उपस्थिति—धार्मिक आधार—धर्माधिकार की कल्पना अथवा विचार—सामाजिक बुराइयों के कारण।

८—समाज-सुधार—आधुनिक समाज-सुधार आन्दोलन का विकास—कट्टर लोगों का विरोध—समाज-सुधार की समस्या—समाज-सुधार का लक्ष्य—पुराना समाज नहीं चल सकता—समाज-सुधार की प्रेरक भावना—हमारी दुर्बलताएँ—

पृष्ठ

सुधार के प्रकार—स्वेच्छा-जन्य प्रकार—नक़ल—पुनरुत्थान—युक्तिसंगत पुनर्घटन—विकास-वादिनी प्रणाली—उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में भारतीय सामाजिक सुधार—(१) १८००—१८३० के बीच का काल—(२)१८३०—१८७५ के बीच का काल—(३) १८७५—१८९० के बीच का काल ; (४) १८९०—१९२५ के बीच का काल—(५) १९२५ के बाद्—सामाजिक सुधार में सरकारी हस्तक्षेप—सामाजिक या राजनीतिक किस सुधार की अधिक आवश्यकता है—सामाजिक सुधार का राष्ट्रीय अंग—जातियों और प्रान्तों की समस्या—

९—समाज-सेवा—समाज-सेवा की आवश्यकता—प्राचीन काल में समाज-सेवा—आधुनिक काल में समाज-सेवा—विशेष प्रकार के संघ—सामाजिकचेतना और समाज-सेवा का विज्ञान । १३६—२१०

परिच्छेद ६

सौन्दर्य-मय जीवन

ललित कलाएँ—विभिन्न कलाएँ—कला की प्रवृत्ति और स्वरूप—इसका उद्गम—भारतीय कला की विशेष ध्वनि—इसका आत्म-विकास और विशेषता—भारतीय रस—पाश्चात्य कला—

१—चित्र कला—इसके छः अंग—बौद्ध काल से पूर्व की कला—बौद्ध-कालिक कला—मुग़ल कला—राजपूत कला—आधुनिक कला—

२—मूर्ति-निर्माणकला—मूर्ति-निर्माण कला का महान् युग—उपनिषदों के आधार पर—आदर्श आध्यात्मिक पुरुष—गान्धार शाखा—दक्षिणी शाखा—

पृष्ठ

३—वास्तु कला—इसकी आवश्यकता—इसकी भिन्न-भिन्न शैलियाँ।

४—संगीत कला—कला—इसका धार्मिक स्वरूप—इसके निर्माता।

५—नृत्य कला—इसका उद्देश्य—शिव का नृत्य—काली का नृत्य—कृष्ण का नृत्य—इसका ईश्वरीय सन्देश। २११—२३०

परिच्छेद ७

शिक्षा-मय जीवन

१—हिन्दू शिक्षा—(क) ब्राह्मण प्रणाली—शिक्षा का संचालन सर्वसाधारण द्वारा—सामाजिक संस्था के रूप में शिक्षा की व्यवस्था—शिक्षा के भिन्न भिन्न अंग—चातुर्वर्ण की शिक्षा—इसके प्रारम्भ की अवस्था—शिक्षा का स्वाभाविक काल—शिष्य का नियम—मनु के नियम—उपनिषद्-कालिक शिक्षा—स्नातक के कर्तव्य—अध्ययन के विषय—कौन लोग पढ़ते थे—आर्य के मूल साधन—विश्वविद्यालय और शिक्षा संघ—वातावरण—अध्ययन की रीति—स्त्री शिक्षा—शूद्रों की शिक्षा—विद्या के बड़े केन्द्र—प्रणाली की विशेषताएँ—आधुनिक शिक्षा।

(ख) बौद्ध प्रणाली—इसका स्वरूप—विश्व-विद्यालय—तक्षशिला—ब्राह्मण विश्व-विद्यालय (८०० वर्ष ईसा पूर्व से ६०० ई० तक)—नालन्द बौद्ध विश्व-विद्यालय (३०० ई० से ८५० ई० तक)—काशी—ई० पू० १००० से ब्राह्मण विद्या का बड़ा केन्द्र—राजकुमारों की शिक्षा का कौटिल्य द्वारा अंकित चित्र—वैश्य के ज्ञान के सम्बन्ध में मनुस्मृति के वचन—हिन्दू शिक्षा का सामान्य स्वरूप।

२—मुसलमानों की शिक्षा—मकतब और मदरसे—राजा

पृष्ठ

तथा अमीर, शिक्षा के संरक्षक—पाठ्य विषय—इसके दोष—मध्य युग में इसका महत्व।

३—अंग्रेज़ों के आने के पूर्व प्रारम्भिक शिक्षा प्रणाली—अँगरेज़ जाति के शासन काल की प्रारम्भिक शिक्षा प्रणाली।

४—आधुनिक शिक्षा—शिक्षा की नई शक्तियाँ और साधन—ब्रिटिश शासक—उनकी आवश्यकताएँ और प्रयत्न—ब्रिटिश शासकों के उद्देश्य—ईसाई पादरियों का उद्देश्य—बङ्गाल के आरम्भिक भारतीय कार्यकर्ता—बम्बई में—मद्रास में—नई शिक्षा का प्रभाव—दो प्रकार के अधिकारी—(१)—अँगरेज़ी ढंग सम्बन्धी नीति; (२)—शिक्षा को सरकारी बनाने की नीति—१८५४ का ख़रीता—इस नीति के फल—सार्वजनिक शिक्षा की उपेक्षा—इसकी उन्नति—नये विश्वविद्यालय—कलकत्ता युनिवर्सिटी कमी-शन—मन्त्रीगण और शिक्षा।

५—राष्ट्रीय शिक्षा—भिन्न भिन्नविचार और उनके प्रवर्तक—इनकी मुख्य विशेषताएँ। २३१—२७

परिच्छेद ८

ज्ञानमय जीवन

यह अधिकांश में हिन्दू प्रतिभा का विकास है—इतिहास—काव्य—सामाजिक-धार्मिक ग्रन्थ—कलाओं और शास्त्रों के ग्रन्थ—साम्प्रदायिक साहित्य—मध्ययुगीन और भक्ति साहित्य—फारसी की रचनाएँ—आधुनिक साहित्य का प्रवाह और उसका स्वरूप—गद्य—मुसलमानों का कार्य। २८०—२८८

भारतीय लोकनीति

परिच्छेद १

देश

नागरिक की परिभाषा—नागरिक एक सभ्य व्यक्ति को कहते हैं। नागरिक की यह परिभाषा प्राचीन क़ानूनी परिभाषा की अपेक्षा अधिक विस्तृत है, क्योंकि अब नागरिक जीवन के प्रत्येक अंग अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक अंगों पर विचार करना आवश्यक होता है। "लोकनीति" में नागरिक शब्द का प्रयोग इसी विस्तृत अर्थ में होता है। हम नागरिक का केवल क़ानूनी अर्थ नहीं लेते जिसमें उसके क़ानूनी अधिकार तथा क़ानूनी कर्त्तव्य के अतिरिक्त किसी और अंग का समावेश नहीं होता।

भारतीय नागरिकता का विस्तार—भारतीय नागरिकता या लोकनीति में भारतवर्ष के नागरिकों के संपूर्ण जीवन, उनके भूत, वर्तमान तथा भविष्य पर भारतीय स्थिति और मर्यादा के प्रभाव तथा भारतीय सभ्यता के उत्थान का वर्णन किया जाता है। नागरिक तत्त्व या लोकनीति का देश की स्थिति से बहुत घनिष्ट संबन्ध है। उसमें जीवन के भिन्न भिन्न अंगों, जातीय आवश्यकताओं तथा मनुष्य की अभिलाषाओं पर विचार किया जाता है। देश की स्थिति मनुष्यों का जीवन विशेष प्रकार का बना देती है और उनके इतिहास तथा मर्यादा को अन्य देशों से भिन्न कर देती है। इसलिये भारतीय नागरिकतत्त्व या लोकनीति का ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिये भारतीय जीवन तथा भारतीय स्थिति का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है।

भारतीय नागरिक के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें इन परिस्थियों तथा संस्थाओं का अध्ययन करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि भारतीय नागरिक की प्राचीन काल में क्या दशा थी, वर्त्तमान दशा क्या है और भविष्य में वह कैसा बनने की अभिलाषा करता है। इसलिये उसके देश, उस देश के निवासियों, उनकी सभ्यता और उनके धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए; और नागरिकतत्त्व या लोकनीति की दृष्टि से इन सब विषयों पर विचार होना चाहिए। केवल नागरिक ही उन समस्याओं को, जिनमें परिवर्तन की आवश्यकता है, भली भाँति समझ सकता है। जीवन को उन्नतिशील बनाना प्राचीन इतिहास तथा वर्तमान स्थिति के पूर्ण ज्ञान पर निर्भर है। किसी समाज की दशा ऐसी कोरी स्लेट की भाँति नहीं होती जिस पर एक महान् व्यक्ति जो विचार चाहे, बिलकुल नए सिरे से सुगमतापूर्वक अंकित कर सके।

भारतवर्ष के प्रत्येक कोने से दमन, अत्याचार, बहिष्कार तथा घृणा की चिल्लाहट सुनाई पड़ती है। इसका यही कारण हो सकता है कि देशवासी राजनीतिक अधिकारों से वंचित हैं और उनमें देशसेवा के भाव की भी कमी है। एक ओर राजनीतिक अत्याचार बढ़ रहे हैं। दूसरी ओर सामाजिक अन्याय और अज्ञान देश को दबाए हुए हैं। देशवासी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता के लिये व्याकुल हो रहे हैं।

इसलिये यह आवश्यक है कि भारतीय जीवन के इन अंगों पर विचार किया जाय और देखा जाय कि प्राचीन काल में किन कारणों से ऐसा जीवन बना और वर्तमान काल में कौन सी बातें देश के दुःख का कारण बनी हुई हैं।

भारतवर्ष की परिपूर्णता—भारतवर्ष सब तरह से परिपूर्ण है। लगभग सब तरह की पैदावार, खानिज पदार्थ और सब प्रकार के जीव जंतु प्रकृति की ओर से देश को मिले हुए हैं। प्राकृतिक कारणों ही से देशवासी चतुर और परिश्रमी होते हैं। उन्होंने सभ्यता की विविध कलाओं में स्वयं यथेष्ट उन्नति की और नई जातियों के संसर्ग से भी बहुत सी नई बातें सीखीं। प्राचीन काल में यहाँ सब चीज़ें सस्ती थीं और खाद्य पदार्थों की कोई कमी न थी। यहाँ से

जल और स्थल के मार्ग से कई प्रकार की वस्तुएँ आस पास के देशों को भेजी जाती थीं।

भौगोलिक तत्त्वों का मनुष्य पर प्रभाव—मनुष्य मात्र के इतिहास के आदि काल में देश की प्राकृतिक दशा का देशवासियों के विचारों तथा उद्यम पर बड़ा प्रभाव पड़ता था; और इन्हीं बातों पर जातियों का फैलना तथा एक भाग से दूसरे भाग में जाना निर्भर था। अभी थोड़े ही दिनों से मानव-बुद्धि तथा परिश्रम द्वारा भौतिक वस्तुओं का पूरी तरह से प्रयोग तथा उनमें परिवर्तन करना संभव हुआ है; परन्तु अब भी इस प्रकार के कार्य बहुत अधिक नहीं हो सकते।

जल-वायु—जलवायु का मनुष्यों के स्वास्थ्य, साहस, भोजन, वस्त्र तथा उद्यम आदि सभी बातों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। गरम तथा ठंढे देशों के निवासियों पर भिन्न भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ा है; और उसके कारण उनके मानसिक तथा नैतिक जीवन और धार्मिक विचार एक विशेष प्रकार के बन गए हैं।

प्राकृतिक साधन—प्राकृतिक साधनों का भी मनुष्य के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। खनिज पदार्थ, पैदावार और देश में होनेवाले जीव जंतु इत्यादि पर देशवासियों का निर्वाह तथा उनके उद्यम निर्भर हैं। इन पदार्थों के अधिक होने या उनके विविध प्रकार के होने का देशवासियों पर भिन्न भिन्न रूप से प्रभाव पड़ता है।

प्राकृतिक स्थिति और विस्तार—किसी देश की प्राकृतिक स्थिति और विस्तार का उस देश में बसनेवाले समाज के छोटे बड़े होने, पड़ोसी जातियों से संसर्ग तथा उसके अभाव, देश की परिपूर्णता या अन्य देशों के आश्रित होने और उसके देशी तथा विदेशी कार-बार पर प्रभाव पड़ता है।

अन्य कारण—पर्वतों, नदियों, मैदानों, पृथ्वी, समुद्र से निकटता इत्यादि का भी मनुष्यों के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। किसी समाज के उत्थान, उसके व्यवहार तथा उसकी सभ्यता का ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिये इन सब प्राकृतिक कारणों पर विचार करना आवश्यक होता है।

स्थान से प्रेम—सभ्यता की सब से पहली सीढ़ी यह है कि जाति किसी देश को अपना निवासस्थान बनावे। भ्रमणशील समाज में नियमित जीवन तथा सभ्यता के लक्षण होना असंभव है और लोगों को मानसिक उन्नति करने का भी अवकाश नहीं मिल सकता। ऐसी दशा में उनके जीवन का लक्ष्य भी स्थिर नहीं हो सकता। परन्तु किसी देश में बस जाने से उनके दैनिक जीवन की आवश्यकताओं, भोजन, निवास, वस्त्र और औषध इत्यादि का उचित प्रबन्ध हो जाता है और इस कारण उनको विविध कलाएँ सीखने तथा मानसिक उन्नति करने का अवकाश मिल जाता है। इस प्रकार बस जानेवाले लोगों में स्थान के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। उनकी सांसारिक अवश्यकताएँ पूरी होने लगीं और उन्हें वैरियों से बचने के साधन भी प्राप्त हो गए।

ग्राम-देवता, कुल-देवता, क्षेत्र-देवता इत्यादि शब्द स्थान के प्रति प्रेम का परिचय देते हैं। प्राचीन धार्मिक विचारों के अनुसार स्थान की देवता के समान पूजा होने लगी। स्थान सांसारिक वैरियों से निवासियों की रक्षा करता था, उनके जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करता था और उन्हें मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करने का अवकाश देता था। प्राचीन समाज में ये सब कार्य करनेवाले ही को देवता कहते थे। देवताओं से प्रायः धन सम्पति इत्यादि के लिये प्रार्थना की जाती थी। अब इस प्रकार की प्रार्थनाएँ पृथ्वी, पर्वतों, नदियों तथा उनमें रहनेवाली दयालु शक्तियों से ही की जाने लगीं। यह वास्तव में प्राकृतिक शक्तियों की उपासना थी; और उनके कोप से बचने तथा उनकी कृपा प्राप्त करने के लिये इन शक्तियों को विविध प्रकार से प्रसन्न करना भी आवश्यक समझा जाता था।

देश-प्रेम का विकास, पृथ्वी माता—इस प्रकार एक स्थान पर रहने से देश की भिन्न भिन्न जातियों में परस्पर संबंध बढ़ने लगता है। यह पारस्परिक संबंध पहले सांसारिक जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिये होता है। धीरे धीरे वह सामूहिक तथा सामाजिक जीवन का रूप धारण कर लेता है जिसमें धार्मिक तथा आपस के दिल बहलाव के भाव प्रधान होते हैं। इस प्रकार सब एक दूसरे के आश्रित हो जाते हैं और देशवासियों में जातीयता के भाव का विकास होने लगता है। देश अपने निवासियों का पारस्परिक संबंध दृढ़ बना देता

है और सब लोग देश की रक्षा तथा सेवा के लिये अग्रसर होते हैं। देश की एक नियमित सीमा हो जाती है जिससे देशवासियों का अपना एक पृथक् समाज स्थापित हो जाता है। एक ही समाज में सम्मिलित हो जाने से सजातीयता का भाव उत्पन्न होता है। सब लोग मिलकर काम करते हैं, मिलकर दिल बहलाते हैं और इस प्रकार उनमें एकता तथा सामूहिक जीवन का विचार फैलने लगता है। वे उस विशेष भाग में जन्म लेने तथा उसमें बसकर विशेष प्रकार का जीवन व्यतीत करने का गौरव करने लगते हैं। उनकी एक अपनी मर्यादा बन जाती है जिससे उनका पारस्परिक संबंध और भी घनिष्ठ हो जाता है। यही सद्भाव तथा स्थान के प्रति प्रेम 'देश प्रेम' का रूप धारण कर लेता है और इसी भाव का "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" में परिचय मिलता है।

इसी से नागरिकता के कर्तव्यों तथा अधिकारों का पालन करना आवश्यक हो जाता है। इनका ठीक तरह से पालन करने के लिये देशवासियों के जीवन के प्रत्येक अंग तथा उनके विशेष गुण, मर्यादा, लक्ष्य इत्यादि का पूरा ज्ञान होना चाहिए। भारतवर्ष के सामाजिक जीवन, सभ्यता तथा विचारों में एक विशेष प्रकार की एकता पाई जाती है। इसलिये प्रत्येक भारतीय नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह देश के जीवन के प्रत्येक अंग को भली भाँति समझे और उसके अनुसार अपने जीवन को अच्छी तरह देश-सेवा में व्यतीत करे।

स्थान तथा मनुष्य का एक दूसरे पर प्रभाव—पहले हम देश तथा उसकी विशेषताओं का वर्णन करेंगे। प्राकृतिक वस्तुओं का मानवी जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है; और उसके साथ ही मनुष्य भी प्राकृतिक वस्तुओं का आवश्यकतानुसार व्यवहार करने की चेष्टा करता है। इसलिये देश का भूगोल पूरी तरह जाने बिना देशवासियों का इतिहास अच्छी तरह समझ में नहीं आ सकता। देश के जल-वायु, पैदावार, नदी, पर्वत, स्थल तथा जल मार्ग इत्यादि ही के अनुसार देशवासियों का जीवन बनता है। उनका सांसारिक जीवन, शारीरिक तथा आध्यात्मिक उन्नति और सभ्यता इत्यादि भौगोलिक विशेषताओं पर निर्भर हैं। इस प्रकार स्थान तथा मनुष्य दोनों का एक दूसरे पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

भारतवर्ष की भौगोलिक एकता—भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष एक

स्वतंत्र देश है। हिमालय की पर्वतमाला के कारण उत्तर की ओर से वह अन्य देशों से अलग हो गया है और दक्षिण की ओर समुद्र उसका अन्य देशों तथा जातियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होने देता। स्वयं इस देश में लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने जाने के लिये नदियों, मैदानों तथा पहाड़ों के बीच के रास्तों या दर्रों से बड़ी सहायता मिलती है। देशवासी बड़ी सुगमता से एक भाग से दूसरे भाग को जा सकते हैं और ऐसा करने में उन्हें अपने निवासस्थान तथा प्रान्त से सम्बन्ध तोड़ने की कभी आवश्यकता नहीं होती।

देश की सीमा—भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है। उसका क्षेत्रफल २० लाख वर्ग मील है। उसका समुद्र तट लगभग ३४०० मील और उसकी स्थल-सीमा प्रायः ३२०० मील है। भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष तीन प्राकृतिक भागों में विभक्त हो सकता है।

१—आर्यावर्त या हिन्दुस्तान—इस भाग में उत्तरी मैदान माने जाते हैं जिनमें होकर गंगा और सिन्धु तथा उनकी सहायक नदियाँ बहती हैं। इस भाग की सीमा विन्ध्य की पर्वतमाला तक समझनी चाहिए।

२—दक्षिणापथ या दक्खिन—यह नर्मदा नदी के दक्षिण का पठार है और इसकी सीमा कृष्णा और तुङ्गभद्रा नदियों के उत्तर तक मानी जाती है।

३—द्रविड़-देश—यह भारतीय प्रायद्वीप के बिलकुल दक्षिणवाला भाग है और लंका तक चला गया है।

इनमें से प्रत्येक भाग के निवासियों के इतिहास में कुछ न कुछ विशेषताएँ अवश्य हैं। भारतीय लेखकों ने प्राचीन काल से ही सदा इस बात का ध्यान रखा है।

भारतवर्ष में खनिज पदार्थ, भाँति भाँति की वनस्पतियाँ, अनाज, फल-फूल तथा अन्य प्रकार के कच्चे माल, जिनसे कारख़ानों में सामान बन सकता है, ख़ूब मिलते हैं। इसका यह कारण है कि यहाँ भिन्न भिन्न प्रकार के जल-वायु पाए जाते हैं, पृथ्वी अच्छी है, वर्षा ख़ूब होती है और नदियाँ, पहाड़ तथा जंगल सारे देश में फैले हुए हैं। विविध प्रकार की प्राकृतिक वस्तुओं तथा पैदावार ने देश के निवासियों पर भिन्न भिन्न रूप से प्रभाव डाला है। इसी कारण भारतवर्ष के

भिन्न भिन्न भागों का रहन-सहन, उद्यम, स्वभाव तथा परम्परागत मर्यादा एक दूसरे से भिन्न हैं।

उत्तरी भाग—उत्तरी भाग में उपजाऊ मैदान और बड़ी नदियाँ हैं जिनमें पहाड़ों के बर्फ का पिघला हुआ पानी आता रहता है। प्राकृतिक पदार्थ ख़ूब मिलते हैं, परन्तु यहाँ का जल-वायु निवासियों को कुछ दुर्बल और साहसहीन बना देता है। थोड़ा ही परिश्रम करने से यथेष्ट जीविका-सामग्री प्राप्त हो जाती है। यहाँ प्रकृति देवी की बड़ी कृपा है। मनुष्य सुगमता से अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर सकते हैं और उन्हें अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

दक्षिणी भाग—प्राकृतिक साधनों के विचार से दक्षिण देश अपेक्षाकृत कम सम्पन्न और गरीब है। उसके पहाड़ी भागों तथा उन स्थानों में, जहाँ की भूमि ऊबड़ खाबड़ है, रहनेवाले लोग बहुत परिश्रमी हैं और उन्हें सदा प्रकृति से लड़ भिड़ कर ही जीवन बिताना पड़ता है।

इतिहास में उत्तरी भाग का महत्व—प्राकृतिक सुभीतों के कारण भारतीय इतिहास में उत्तरी भाग की सदा प्रधानता रही है। आर्य जाति पहले यहीं आकर बसी थी। यहीं बड़े बड़े साम्राज्य स्थापित हुए, बड़े बड़े धर्मों का प्रचार हुआ और सुन्दर साहित्य, काव्य तथा दर्शन शास्त्र का विकास हुआ। यहीं की सम्पत्ति और यहीं की बड़ी जन संख्या से इस भाग को लाभ तथा हानि दोनों हुए। बेचारे दक्षिणी भाग के साथ युद्ध करने में यहाँ के निवासी प्रायः सफल रहे; परन्तु हिमालय के उस पार बसनेवाली वीर तथा साहसी जातियों ने यहाँ की संपत्ति से आकृष्ट होकर और यहाँ के निवासियों के साहसहीन होने का लाभ उठाकर इस भाग पर सफलता-पूर्वक आक्रमण किए और भारतवर्ष के सुख तथा शान्ति में बाधा डाली। फ़ारसी, यूनानी, शक, अरब, तुर्क तथा मुग़ल सभी लोग भारतवर्ष में प्रवेश करने में सफल हुए और यहाँ उनके स्थापित किए हुए साम्राज्य उस समय तक विद्यमान रहे, जब तक अपने ही आपस के झगड़ों तथा अन्य शक्तिशाली सम्राटों के उत्थान के कारण उनका पतन न हुआ।

उत्तरी तथा पश्चिमी भाग—उत्तर-पश्चिमी भाग तथा पञ्जाब के निवासी वीर, परिश्रमी और शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ होते हैं; क्योंकि सूखी

उसी ने आकर इस देश पर अपना अधिकार जमा लिया। व्यक्तिशः साहसी और वीरों जैसे सिकन्दर और महमूद गज़नवी इत्यादि के देश पर खूब आक्रमण हुए; और शक लोग, मुहम्मद बिन कासिम, मुहम्मद ग़ोरी इत्यादि बड़ी सुगमता से यहाँ अपना अधिकार जमा सके।

इस प्रकार विदेशी जातियों से सदा विवशताजन्य संसर्ग रहने के कारण देश में नए धर्म तथा नए आचार व्यवहार फैले और भारतवर्ष धीरे धीरे भिन्न भिन्न जातियों, धर्मों तथा सामाजिक रीतियों का अजायबख़ाना सा बन गया। बाहरी देशों से सम्बन्ध बना रहने के कारण भारतवर्ष की प्राकृतिक एकता में भी विघ्न पड़ने लगा। परिणाम यह हुआ कि देश में विविध प्रकार की कलाएँ, विचार और रीतियाँ आदि फैलीं। पारसियों, यूनानियों, शकों तथा मुसलमानों का भारतवर्ष की सभ्यता तथा मर्यादा पर भिन्न भिन्न रूप से प्रभाव पड़ा है। इसी का यह परिणाम है कि आजकल देश के निवासियों में बहुत सी ऐसी बातें उत्पन्न हो गई हैं जिनके कारण झगड़े बखेड़े होते रहते हैं। हिन्दू मुसलमानों के धार्मिक झगड़ों तथा उनकी भिन्न भिन्न राजनीतिक अभिलाषाओं ही के कारण भारतवर्ष आजकल शक्तिहीन हो रहा है और देश के स्वराज्य प्राप्त करने के मार्ग में बहुत सी बाधाएँ पड़ी हुई हैं।

आरंभिक काल से ही भारतीय एकता का ज्ञान——भारतीय इतिहास, उसके लक्ष्यों, विश्वासों तथा संस्थाओं पर विचार करने से पता चलेगा कि पिछली शताब्दियों में सदा समस्त भारतवर्ष ही यहाँ के निवासियों का लक्ष्य या आदर्श रहा है। वे देश की भौगोलिक एकता को कभी न भूलते थे और अपनी धार्मिक शक्तियों, राजनीतिक संस्थाओं, शासन प्रणाली आदि में सदा उसका ध्यान रखते थे। धार्मिक एकता चक्रवर्त्ती राजाओं की अभिलाषाओं और सामाजिक संघटन आदि के कारण यह भाव और दृढ़ हो जाता था; और देश के धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों, रीतियों तथा संस्थाओं में इस भाव का बराबर पता मिलता है। देश के साहित्य में भी इस भाव की प्रधानता पाई जाती है। इन सब बातों से पता चलता है कि भारतवर्ष सदा एक देश माना गया है और यहाँ की भाषाएँ, धर्म तथा सभ्यता सब एक ही ढंग की रही हैं।

इसमें संदेह नहीं कि वर्ण-व्यवस्था, भिन्न भिन्न धार्मिक विचारों, भिन्न भिन्न भाषाओं तथा देश से बाहर के थोड़े से निवासियों के कारण भारतवर्ष में कुछ भिन्नता पाई जाती है। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ की समस्त जातियाँ, सब प्रकार के धर्मावलम्बी तथा सभी समाज भारतवर्ष को एक ही देश समझते हैं; और उनके जीवन-क्रम में समानता पाई जाती है जो भिन्न भिन्न जातियों, धर्मों तथा भाषाओं द्वारा उत्पन्न भेद की अपेक्षा अधिक प्रबल है। उनके उच्च कोटि के भाव, मर्यादा, आचार व्यवहार आदि सब भारतीय होते हैं। वे भारतवर्ष को अपना देश समझते हैं और उसके प्रति पूज्य तथा सेवा भाव रखते हैं। उनकी अभिलाषाओं, सहानुभूति, धर्म तथा सभ्यता का विस्तार भारतवर्ष की समस्त सीमाओं तक है। उनके लिये भारतवर्ष के बाहर सभी देश असभ्य तथा म्लेच्छ हैं*।

इस प्रकार भारतवर्ष में भौगोलिक एकता है। प्रकृति ने इसे एक स्वतंत्र देश बनाया है और यहाँ के निवासियों की आकांक्षाओं तथा संस्थाओं के कारण यह एकता और भी दृढ़ हो गई है। भारतवर्ष की एकता केवल अँगरेज़ी राज्य की स्थापना का परिणाम नहीं है। यह भाव हिन्दुओं में बहुत प्राचीन समय से चला आता है और इसी के अनुसार देश के इतिहास तथा देश-वासियों के जीवन का संघटन हुआ है।

प्राचीन काल से ही समस्त देश का एक ही नाम अर्थात् जम्बूद्वीप, भारतवर्ष, भारतखंड, आर्यावर्त, दक्षिणापथ इत्यादि रहा है। आगे चलकर यह हिन्दुस्तान कहलाने लगा। यहाँ वाले तथा विदेशी समस्त देश को सदा एक ही नाम से पुकारते आए हैं।

---

* उत्तरस्यां समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणे।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संतति॥
विष्णुपुराण।
हिन्दुस्थानमिति ज्ञेयं राष्ट्रमार्यस्य चोत्तमम्।
म्लेछस्थानं परं सिन्धोः कृतं तेन महात्मना॥
भविष्यपुराण।

हिन्दुस्तान नाम का कारण—फ़ारसी और यूनानी इसे "सिंधु नदी के उस पारवाला देश" कहते थे। चीनियों में भी इसका यही नाम था। प्राचीन आर्यों ने इसका नाम वेद में सप्तसिंधवाः तथा अवस्ता में हप्तहिंदवा दिया है। देश सम्बन्धी यही प्राचीन विचार पीछे से बढ़ने लगा और सारे देश में आर्य सभ्यता फैलने पर समस्त भारतवर्ष का यही नाम हो गया। आज कल यह देश हिन्दुस्तान कहलाने लगा है और इस नाम के साथ धार्मिक तथा राजनीतिक भावों का विशेष प्रकार का सम्बन्ध हो गया है।

देश की धार्मिक एकता का ज्ञान—देशवासियों के धार्मिक विचारों से भी भारतीय मौलिक एकता के ज्ञान का पता लगता है।

१—सप्तगंगा-प्रार्थना में समस्त भारतवर्ष की सीमा आ जाती है जिससे देश की एकता के भाव का परिचय मिलता है। उस प्रार्थना में कहा जाता है—"हे गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्म्मदा, सिन्धु और कावेरी, आओ और मेरी इस अंजलि के जल में प्रवेश करो।" इसी प्रकार सात पर्वत और सात नगर हैं जो भारतवर्ष की एकता सूचित करते हैं।

२—अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त से निवासियों के देश-प्रेम का पता लगता है। वे लोग देश को जीवन की समस्त आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला समझते थे।

३—प्रत्येक धर्म तथा समाज के धार्म्मिक और यात्रा के स्थान समस्त देश में फैले हुए हैं। इससे पता लगता है कि यहाँ के निवासियों के उपासना के स्थान प्रत्येक भाग में हैं और समस्त देश पवित्र माना जाता है। ये स्थान नगर, पर्वत, पहाड़ियाँ, नदियाँ, झीलें, आश्रम इत्यादि हैं। इनको सब धर्म्मावलम्बी पवित्र मानते हैं और उनके देवालय समस्त देश में पाए जाते हैं। शैव, वैष्णव, गाणपत्य, शाक्त, बौद्ध, जैन तथा सिक्ख सभी लोग समस्त भारतवर्ष को पवित्र तथा अपने देवताओं की भूमि मानते हैं। वे इसको केवल पितृभूमि नहीं कहते, बल्कि देवनिर्मित देश तथा पुण्यभूमि या देवभूमि कहते हैं। उनकी देश-भक्ति भी आध्यात्मिक थी।

४—बहुत सी धार्मिक विधियाँ ऐसी हैं जो भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में समान रूप से पाई जाती हैं। बड़े बड़े प्रसिद्ध अवतार, कवि, आचार्य, योगी,

राजा, राजनीतिज्ञ, दर्शनशास्त्र के पंडित तथा वीर योद्धा समस्त भारतवर्ष के एक ही हैं ; और देश के निवासी उन्हें आदर्श पुरुष मानकर उनके उपदेश ग्रहण करते और उनका अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं ।

देश की राजनीतिक एकता का ज्ञान—देश के राजनीतिक साहित्य की अभिलाषाओं और संस्थाओं तथा देश के इतिहास की गति से भी भारतीय एकता का परिचय मिलता है और इसी लक्ष्य की प्राप्ति की चेष्टा की जाती है ।

देश के भिन्न भिन्न भाग भारतवर्ष के ही अंग समझे जाते हैं और एक दूसरे से पूर्णतया पृथक् नहीं माने जाते । भिन्न भिन्न बसनेवाली जातियों का भी आपस में भली भाँति संघटन है और सब का भारतीय लोकनीति में एक विशेष स्थान है । वे सब देश के समस्त भागों तथा समस्त जातियों से परिचित हैं और "भारतवर्ष" शब्द में इन सबका आशय आ जाता है ।

पुराणों तथा इतिहासों के प्रसिद्ध राजा समस्त भारतवर्ष के चक्रवर्ती राजा होने को चेष्ट करता थे और प्रायः उनका यह मनोरथ सफल भी होता था ।

राज्य, महाराज्य, साम्राज्य, सार्वभौम, आधिपत्य, एकराट, राजाधिराज इत्यादि शब्दों से समस्त भारतवर्ष को एक ही साम्राज्य के रूप में परिणत करने के भाव का पता लगता है । वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ देश के अधिकांश भाग में चक्रवर्ती राज्य स्थापित होने का प्रमाण हैं ।

संस्कृत भाषा के कई कवियों, नाटककारों तथा लेखकों ने इन प्रचलित राजनीतिक भावों का उल्लेख किया है । उनकी रचनाओं में "चातुरान्तां महीम्, आसमुद्रपर्यन्ताम् महीम्, चक्रवर्तिक्षेत्रम, हिमवत् समुद्रान्तरं" आदि पदों से ज्ञात होता है कि भारतीय सम्राटों के राज्य की सीमा समुद्र तक थी ।

कथाओं तथा इतिहासों में उन राजाओं की सूची मिलती है जो भारतवर्ष को एक ही साम्राज्य में सम्मिलित करने में सफल-मनोरथ हुए थे । भारतीय राजाओं में "दिग्विजय" तथा "धर्म विजय" के विचार को भी इसी प्रकार के साम्राज्य स्थापित करने की अभिलाषा समझना चाहिए, जिसमें एक बड़े केन्द्रस्थ राज्य को बहुत से कर देनेवाले छोटे छोटे राज्य सम्मिलित होते थे ।

इस प्रकार प्राचीन समय में ही देशवासियों में भारतवर्ष की एकता का भाव

उत्पन्न हो चुका था। महाभारत का प्रसिद्ध युद्ध भारतीय एकता का सुन्दर प्रमाण है। इस युद्ध में सब लोग सम्मिलित थे। भारतवर्ष के प्रत्येक भाग के राजाओं तथा निवासियों ने कौरवों तथा पांडवों दोनों में से किसी न किसी पक्ष का अवश्य साथ दिया; और इस प्रकार उन्होंने समस्त भारतवर्ष में इन्द्रप्रस्थ की प्रधानता स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस दृष्टि से महाभारत वास्तव में एक भारतीय गृह्य युद्ध था। रामायण में आर्य सभ्यता, धर्म तथा संस्थाओं के दक्षिण में फैलने तथा आर्यों के अनार्य जातियों से अपनी रक्षा करने का वर्णन है। इस भय का यह कारण था कि उत्तरी भाग में ब्राह्मण और क्षत्रिय बहुत दिनों से आपस में झगड़ रहे थे।

धर्म-प्रचारकों तथा उपनिवेश-स्थापकों में एकता का ज्ञान—बौद्ध धर्म-प्रचारकों में, जो चीन, तिब्बत तथा अन्य उत्तरी देशों में गए थे, और उपनिवेश-स्थापकों में, जो दक्षिणी समुद्रों के देशों तथा द्वीपों में पहुँचे थे, भारतीय एकता तथा भारतीय स्वदेश का भाव सदा बना रहा।

देश की सांस्कृतिक एकता का ज्ञान—सभ्यता की दृष्टि से भारतवर्ष सदा से एक ही देश माना जाता है। यहाँ की कलाओं, वास्तुविद्या, चित्रकारी, मूर्त्ति निर्माण, सङ्गीत तथा साहित्यिक रचनाओं में बराबर भारतीय एकता की झलक देखने में आती है। इन विद्याओं के सिद्धान्त प्रामाणिक माने जाते हैं; और चाहे वे देश के किसी भाग में शुरू हुए हों, समस्त भारतवर्ष में उनका अनुकरण किया जाता है। इन विद्याओं के गुणीजन समस्त भारतवर्ष के लिये रचना करते हैं और देश के विविध प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन के आधार पर अपनी रचनाओं के विषय चुनते हैं।

देश की सामाजिक एकता का ज्ञान—धर्मशास्त्र में जिन सामाजिक रीतियों तथा संस्थाओं का वर्णन है, वे समस्त भारतवर्ष के लिये हैं और धार्मिक नियम भी, अन्य धर्मावलम्बियों को छोड़कर, समस्त देशवासियों पर प्रयुक्त होते हैं। बौद्ध, जैन और सिक्ख मत तथा हिन्दू धर्म की अन्य उपशाखाओं में देश के सामाजिक नियम अर्थात् उत्तराधिकार या औलाद को जायदाद मिलने, गोद लेने आदि के नियम समान रूप से माने जाते हैं।

संस्कृत भाषा में एकता की झलक—अभी थोड़े ही दिन हुए, संस्कृत समस्त देशवासियों की साहित्यिक भाषा थी और आज कल भी विद्वान् पंडित संस्कृत बोलते हैं। भारतीय मस्तिष्क की उच्च कोटि की रचनाएँ, दर्शन शास्त्र, काव्य, नाटक, विज्ञान तथा कलाओं के शास्त्र इसी पवित्र भाषा में लिखे गए हैं। समस्त भारतवर्ष के विद्वान् तथा प्रसिद्ध लेखक एक ही भाषा अर्थात् संस्कृत में अपनी रचनाएँ करते थे। यह भी भारतवर्ष तथा यहाँ के निवासियों की मौलिक एकता का सुन्दर प्रमाण है। हिन्दुओं के लिये उनके धर्म, राजनीति, सभ्यता, सामाजिक मर्यादा और आदर्श आदि सभी का आधार भारतवर्ष है और उनके आत्मिक जीवन तथा उनके आचरण के विकास का मुख्य स्थान भी यही है। भारतवर्ष ही ने उनके जीवन को विशेष प्रकार का बनाया है और उसी की सीमा में उन्होंने अपनी एकता की स्थापना तथा रक्षा की है। इस प्रकार भारतवर्ष ही उनकी सभ्यता का एक मात्र आधार है। हिन्दू सदा भारतवर्ष से प्रेम करते आए हैं। उन्होंने उसकी सेवा की है, अपना जीवन उसके लिये अर्पण किया है और उसके लिये प्राणों की आहुति तक दी है।

इस प्रकार भारतवर्ष के सभ्य निवासियों की मर्यादा तथा आचार-व्यवहारों में मौलिक एकता है; और उन सब का एक ही आदर्श है, जिसका देश के प्रत्येक भाग से सम्बन्ध है।

एकता के भाव का भारतीय इतिहास पर प्रभाव—भारतवर्ष की भौगोलिक एकता तथा यहाँ की सभ्यता की मौलिक एकता के ज्ञान का हिन्दुओं के इतिहास पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। यही उनके सारे इतिहास का आधार है और इसी बात में उनमें और अन्य जातियों में अंतर है।

माध्यमिक काल में एकता का भाव—मुसलमान काल में अपवित्र म्लेच्छों तथा अपनी मूर्त्तियों, मंदिरों और देवताओं को तोड़नेवालों का मिलकर सामना करने की आवश्यकता ने भारतवर्ष की भौगोलिक एकता को और भी दृढ़ कर दिया। यह मुक़ाबला समस्त हिन्दू जाति तथा उसके पवित्र देश भारतवर्ष के नाम पर किया जाता था। धर्म, राजनीति, सभ्यता, साहित्य तथा सामाजिक नियम सदा समस्त देश का विचार करके बनाए जाते थे। भारतीय इतिहास

अलग अलग प्रान्तों के इतिहासों का संग्रह नहीं है, वरन् समस्त देश का इतिहास एक ही रहा है।

समस्त हिन्दुस्तान पर विजय प्राप्त करना ही आक्रमण करनेवाली जातियों का भी लक्ष्य था। उन्होंने पूरे भारतवर्ष के सम्राट् तथा चक्रवर्ती राजा बनने की चेष्टा की। वे अपने धर्म का भी समस्त भारतवर्ष में प्रचार चाहते थे। प्रत्येक बड़े राजा तथा राजनीतिज्ञ का यही उद्देश्य होता था कि मैं अपने राज्य का समस्त भारतवर्ष में विस्तार करूँ। सारे देशवासी भी सदा एक ही राज्य तथा एक ही शासक का आश्रय लेते थे, चाहे वह हिन्दू हो चाहे मुसलमान।

आधुनिक काल में एकता का भाव—आधुनिक काल में भारतवर्ष फिर एक ही साम्राज्य में सम्मिलित है। मराठों और अंग्रेजों में समस्त भारतवर्ष ही के राज्य के लिये युद्ध हुआ। अंग्रेज सफल हुए और उन्होंने काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक देश के समस्त भागों का आपस में राजनीतिक, व्यापारिक तथा सामाजिक सम्बन्ध स्थापित रखा। समस्त देश को एक ही शासन प्रणाली हो गई और भारतवर्ष एक ही साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया। इस प्रकार देशवासियों में भारतवर्ष की मौलिक एकता का ज्ञान और भी दृढ़ हो गया और उनमें एक ही मर्यादा, आदर्श तथा लक्ष्य के भाव फिर से जाग उठे। दो बड़े कारणों अर्थात् एक ही राजनीतिक लक्ष्य तथा एक ही प्रकार की आर्थिक आवश्यकताओं ने भारत के निवासियों में राष्ट्रीयता का भाव जाग्रत करने तथा उनके संघटन में बड़ी सहायता की।

राष्ट्रीय गीत, राष्ट्रीय कांग्रेस के निर्णय का आदर, प्रान्तों में एक दूसरे से पृथक् हो जाने की इच्छा न होना, देशी राजाओं तथा साधारण निवासियों सब का स्वराज्य को ही अपना लक्ष्य मानना आदि सब बातें आज कल भी समस्त भारतवर्ष के प्रति लोगों के स्वदेश-प्रेम का प्रमाण है। सब के प्रयत्नों का यही उद्देश्य होता है कि भारत के मान तथा मर्यादा की वृद्धि हो।

उच्च कोटि के देश-प्रेम का विकास—अपने स्थान, पड़ोसी, देवमन्दिर तथा देश के प्रति प्रेम के कारण भारतवर्ष में भिन्न भिन्न धर्म, जातियाँ, भाषाएँ तथा प्रान्त होने पर भी देश की मौलिक एकता का भाव सदा प्रधान रहा है। यह

नागरिक कर्त्तव्य को पहचानने तथा स्वदेश-प्रेम के विकास के चिह्न हैं ; और इन्हीं पर सामाजिक स्थिरता तथा उन्नति निर्भर है। अपने विस्तृत और बहुत प्राचीन इतिहास में भारतीय जनता ने यह एकता का भाव प्राप्त किया है। इस महत्वपूर्ण भाव की उन्नति जातीय अभिमान, विजय की अभिलाषा तथा दूसरों के प्रति घृणा के कारण नहीं हुई है। सहनशीलता, सेवा भाव और अपने पड़ोसियों के अधिकारों का आदर ही इसका वास्तविक कारण समझना चाहिए। यह एक उच्च कोटि का देशप्रेम था ; और एक ही आध्यात्मिक जीवन तथा एक ही सनातन धर्म के द्वारा इसका विकास होने के कारण यह सुगमतापूर्वक स्थिर तथा दृढ़ हो सका।

प्रोफेसर राधाकुमुद मुकर्जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "भारत की मौलिक एकता" (Fundamental Unity of India) में लिखते हैं—"प्राकृतिक और भौगोलिक विशेषताओं, ऐतिहासिक अनुभवों, धार्मिक विचारों तथा राजनीतिक आदर्शों के कारण भारतवर्ष में एकता के भाव का विकास हुआ और इन्हीं कारणों से यह भाव स्थिर तथा दृढ़ होता चला गया।"

इस प्रकार भौगोलिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक प्रमाणों से भारतवर्ष की भौगोलिक एकता पूर्णतया सिद्ध है।

परिच्छेद २

अधिवासी

तं वर्षं भारतं नाम भारती यत्र संततिः ।

जातियों के स्थान-परिवर्तन के कारण—संसार की विभिन्न जातियों का प्रारंभिक विभाजन चाहे जैसा रहा हो, किन्तु यह एक प्रसिद्ध बात है कि भोजन, पशु और चारे की खोज में या लगातार चलते फिरते रहने की जंगम-प्रवृत्ति के कारण किंवा दूसरी जातियों के दबाव एवं युद्ध की आकांक्षा से, अथवा जनसंख्या की वृद्धि और जीवन निर्वाह के साधनों और सुभीतों की कमी अथवा जलवायु में परिवर्तन हो जाने के कारण कितनी ही जातियाँ और जत्थे अपने मूल निवास-स्थानों को छोड़ दूसरे देशों में, वहाँ के अधिवासियों को बाहर निकाल कर, उन्हें नष्ट करके या उन्हीं में मिलकर बस गए ।

मनुष्य जाति का आदि निवासस्थान—मनुष्य जाति का आदि निवास-स्थान कौन सा था और वह मिस्र, अरब, मध्य एशिया, भारत और अफ्रिका इत्यादि देशों में से किस देश में था ? इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर देना कठिन है । इतना कहा जा सकता है कि पृथ्वी के ख़ास खास हिस्सों में ज़मीन की उपज की बहुतायत और जलवायु की अनुकूलता मनुष्यों के एकत्रीकरण, संघटन और वृद्धि में आवश्यक हुई होगी । अत्यंत प्राचीन काल में नील, दजला, फरात, सिंध, गंगा, यांगसी और हंगहो नदियों के किनारे बसे हुए मनुष्यों की वृद्धि और सभ्यता का विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्यों का एक जगह बसना या एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान की ओर बढ़ना बहुत कुछ इन प्राकृतिक कारणों से हुआ है । समुद्री किनारों, पहाड़ी घाटियों एवं अधित्यकाओं की ओर भी जीवन निर्वाह और रक्षा के विचार से भिन्न जातियाँ और जत्थे आकृष्ट हुए थे ।

भारत का आकर्षण—अपनी उपजाऊ भूमि, प्राकृतिक सम्पत्ति एवं सौंदर्य तथा सुन्दर जलवायु के कारण भारतवर्ष अति प्रारंभिक काल से ही एक जनाकीर्ण देश रहा है। यह बराबर आक्रमणकारियों, विजेताओं और प्रवासियों को अपनी समृद्धि-शालिनी भूमि में आकर बसने के लिए आकर्षित करता रहा है। एक के पीछे दूसरी जाति निरंतर इस देश में आकर बसती या इस पर आक्रमण करती रही है। पुराने अधिवासी नवागतों से दब कर दक्षिण की ओर या मरुस्थलों और जंगलों में चले जाते थे; और कुछ दिनों बाद इन नए आए हुए अधिवासियों में या तो बराबरी की हैसियत से या अधीन जनों की भाँति मिल जाते अथवा उनकी सभ्यता की सीमा से बाहर रहते थे।

जातियाँ जो भारत में आईं—जो जातियाँ भारत में आईं, उनकी गिनती इस क्रम से की जा सकती है—द्रविड़, आर्य, ईरानी, मंगोल, यवन, शक, हूण, अरब, तुर्क, पारसी और युरोपियन। भारतीय जनता का निर्माण प्रायः इन्हीं जातियों से हुआ है। यह अवश्य है कि एक जाति की शक्ति में दूसरी की शक्ति से बहुत अन्तर और भिन्नता है। भारत के जातीय संमिश्रण में देश के मूल अधिवासी द्रविड़ और आर्य प्रधान हैं। मनुष्य-जातियों का वर्गीकरण कुछ निश्चित या निर्णीत नहीं है। रंग के विचार से साधारणतः चार जातियाँ—गौर, श्याम, भूरी और पीली स्थिर की जा सकती हैं। इसी प्रकार मुखाकृति और शारीरिक गठन के विचार से बड़े या लम्बे मस्तकवाले, मध्यमाकार मस्तकवाले और चौड़े, ठिंगने मस्तकवाले ये तीन प्रकार के मनुष्य स्थिर किए जा सकते हैं। ये विभाग मस्तक विज्ञान के अनुसार, मस्तक की ऊँचाई, शारीरिक गठन, नाक, आँख और शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों की माप के आधार पर किए गए हैं।

मस्तक विज्ञान के अनुसार जातियों का वर्गीकरण—इस देश के आदिम अधिवासी या द्रविड़ जातियाँ भूरी या काली जातियों में परिगणित हैं और चौड़े, ठिंगने मस्तकवाले मनुष्यों के वर्ग में आती हैं। आर्यों की गणना गौर जातियों और लम्बे मस्तक तथा शरीरवाले मनुष्यों के वर्ग में होती है। मंगोल, पीली जातियों में शुमार किए जाते हैं और विशेष ढाँचे की आँख, नाकवाले मनुष्यों में से हैं। भारतीय जन-संख्या में इन सब प्रकार की जातियों का मिश्रण

और बाहुल्य है। कुछ में तो अब भी उनका मूल ढाँचा और रंग विशुद्ध रूप में मौजूद है।

रिसले का वर्गीकरण—रिसले ने भारतीय जन संख्या को सात प्रधान वर्गों में विभक्त किया है।

(१) तुर्क-ईरानी (टर्को-ईरानियन)—इसमें बलूची और अफगान सम्मिलित हैं और बलोचिस्तान तथा सीमान्त प्रदेश में निवास करते हैं। ये लम्बे क़द के, सुन्दर और गौर वर्णवाले होते हैं।

(२) भारतीय-आर्य (इण्डो-आर्यन)—इसमें राजपूत, जाट और खत्री सम्मिलित हैं। ये राजपूताना, पंजाब और काश्मीर में रहते हैं। इनका क़द साधारणतः लम्बा और वर्ण सुन्दर होता है।

(३) शक-द्रविड़ (सीथियो-द्रवीड़ियन्स)—इसमें मराठे हैं जो दक्षिण-पश्चिम भारत में गुजरात से कुर्ग तक फैले हैं। इनका क़द छोटा और रंग भूरा या काला होता है।

(४) आर्य-द्रविड़ (आर्यो-द्राविड़ियन्स) या हिन्दुस्तानी ये युक्त प्रांत, राजपूताना और बिहार के कुछ भागों में फैले हैं। इनका क़द छोटा और रंग गहरा या हल्का भूरा और काला होता है।

(५) मंगोल-द्रविड़ (मंगोलो-द्राविड़ियन्स) या बंगाली जो बंगाल और उड़ीसा में फैले हैं। इनका क़द मझोला (मध्यम) और रंग गहरा या भूरा होता है।

(६) मंगोल लोग, नेपाल, भूटान, आसाम, पूर्वोत्तर सीमाप्रांत और बरमा में बसे हुए हैं। इनका रंग गहरा और पीलापन लिए होता है। क़द नाटा और औसत से छोटा होता है। भँवें साधारणतः वक्र होती हैं।

(७) द्रविड़-श्रेणी के लोग विन्ध्याचल से कुमारी अंतरीप तक (अर्थात् मध्य भारत, मध्य प्रान्त, छोटा नागपुर, मद्रास और दक्षिण में) फैले हुए हैं। इनका क़द छोटा और वर्ण बहुत काला होता है।

इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में, विशेषतः शक-द्रविड़ (सीथियो-द्रविड़) के सम्बन्ध में, बहुतों का मतभेद है। भारत के भिन्न भिन्न भागों की जनता का योग चाहे जैसा हो, न्यूनाधिक मात्रा में इन जातियों का कोई न कोई मिश्रण

सर्वत्र मौजूद है। सारांश यह कि प्रत्येक वर्ग दो या अधिक उपादानों के योग से बना है। इसका कारण यह है कि भारत में बहुत प्राचीन काल से मनुष्यों का समुदाय उत्तर से दक्षिण और पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ता गया है।

उपादानों की मुख्य विशेषताएँ

(१) **आदि उपादान**—इसमें ठेठ जंगली सम्मिलित हैं जिनकी संस्कृति प्रस्तर युगीय है। ये पहाड़ों, रेगिस्तानों और जंगलों में रहते हैं। इनकी संख्या कम नहीं है और इनकी भाषाएँ भी बिल्कुल भिन्न हैं। ये भारत के सब से प्राचीन निवासी हैं।

(२) **द्रविड़ उपादान**—यह केवल संख्या के विचार से ही ज़बरदस्त नहीं हैं, बल्कि सभ्यता के क्षेत्र में भी आगे बढ़े हुए हैं। द्रविड़ लोग आर्यों से पूर्व के निवासी हैं। इनकी भाषाएँ आर्यों की भाषाओं से भिन्न हैं। इन्होंने आर्य आक्रमणकारियों से वीरतापूर्वक युद्ध किया था। आर्य सभ्यता के साथ मिलकर आज इनकी सभ्यता वर्तमान भारतीय सभ्यता का एक प्रधान अंग बन गई है।

(३) **आर्य-उपादान**—यह सब से अधिक शक्तिशाली उपादान रहा है। भारतीय सभ्यता विशेषतः इसी की कृति है। आर्यों ने मूल अधिवासियों और द्रविड़ों को हटा दिया, उनके भू-भागों पर वे लोग स्वयं बस गए और देश में अपना धर्म, अपना शासन, अपना क़ानून और अपनी सामाजिक व्यवस्था प्रतिष्ठित की। उनका इतिहास भारत का सबसे महत्वपूर्ण, शिक्षाप्रद और सभ्य इतिहास है। अन्य आगत जातियों की भाँति वे मूल अधिवासियों में बिलकुल विलीन नहीं हो गए, उन्होंने अपना स्वरूप स्थिर रखा।

(४) ईरानी, यवन, शक, हूण और मंगोल इत्यादि पिछले आक्रमणकारी और विजेता, जो इस देश में खुश्की के रास्ते से आए, न्यूनाधिक मात्रा में पूर्वाधिवासियों में मिलते गए। वे अपनी संस्कृति का स्वरूप क्रमशः छोड़ते गए और अपने पीछे के आक्रमणकारियों द्वारा पराजित और अशक्त होते गए।

(५) अरब, पठान, पारसी और तुर्क भी, जो भारत के कतिपय भागों को जीतकर उसके शासक बन गए थे, धीरे धीरे अपनी प्रकृति, उत्साह और उत्कर्ष से हीन होते गए और भारत के अधिवासियों में मिलते गए, यद्यपि उनमें से कुछ ने अपने धर्म या अपने सामाजिक नियमों को बहुत कुछ बनाए रखा।

(६) युरोपियनों ने, जिनमें पुर्तगाली, ओलंदाज (डच), फरासीसी और अंग्रेज सम्मिलित हैं और जो सब जातियों के बाद भारत में आए, भारतीय जनता से अपने को अलग रखा है। यद्यपि इनमें से कुछ की संख्या बहुत घट गई है, फिर भी इनमें से एक ने अपना शासन कायम कर रखा है। इनकी संख्या कभी अधिक नहीं रही। ये केवल एक शासक-जाति की भाँति भारत में रहते हैं। इन्होंने इस देश के निवासियों के साथ कभी नियमित रूप से विवाह आदि का संबंध स्थापित नहीं किया और इस प्रकार अपने रक्त की शुद्धता बना रखी। निम्न कोटि की सामाजिक मर्यादा रखनेवालों के साथ युरोपियनों के वैवाहिक सम्बन्ध होने से अथवा विदेशियों और इस देश के निवासियों के बीच अनुचित सम्बन्ध हो जाने से जो संकर जाति उत्पन्न हुई, वह यूरेशियन कहलाती है। इस वर्णसंकर जाति के लोग भी धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय मामलों में भारतीयों से अलग रहना ही पसन्द करते हैं।

जातियों पर प्रभाव डालनेवाले कारण—भारतीय जन संख्या की समस्या बड़ी जटिल है। यह उतनी वंशगत या जातीय नहीं, जितनी धार्मिक और सांस्कृतिक है; अर्थात् इसका सम्बन्ध जाति या नस्ल की अपेक्षा संस्कृति और धर्म से अधिक है। पारस्परिक सम्बन्ध एवं भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव से विभिन्न जातियाँ मिलकर जो नूतन रूप ग्रहण करने पर बाध्य हो रही हैं, उसकी गति बड़ी धीमी है। इस कार्य में कुछ तो कुल-परंपरा का प्रभाव और अधिकतर धार्मिक भेद और सांस्कृतिक भिन्नताएँ बाधक हो रही हैं; किंतु राजनीतिक एवं आर्थिक आवश्यकताएँ और भौतिक परिस्थितियों का भारी दबाव इन भिन्न भिन्न वर्गों और जातियों को एक सामान्य भारतीय रूप में ढलने और वृहत्तर सांस्कृतिक एकता ग्रहण करने के लिये जोरों से विवश कर रहा है।

विदेशियों का प्रभाव—विदेशियों ने भारतीय सभ्यता की प्रगति पर, निम्नलिखित क्षेत्रों में, प्रभाव डाला है—

(१) कला, वास्तुविद्या, चित्रकला, मूर्तिनिर्माण कला और संगीत में।

(२) शस्त्रास्त्रों के प्रयोग और युद्ध प्रणाली में।

(३) वस्त्राभूषणों में।

(४) औद्योगिक कलाओं और कारीगरियों में।
(५) धर्म तथा सामाजिक रीति-रवाजों में।
(६) आचार तथा पारलौकिक आदर्शों में।
(७) भाषा के रूपों तथा साहित्य में।
(८) विवाह द्वारा तथा अन्य रीतियों से रक्त के मिश्रण में।

हिन्दू भावना की प्रधानता—भारतीय सभ्यता के विभिन्न अंगों और संचित संस्कृतियों में, जो इस समय वर्तमान हैं, उपर्युक्त प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं; क्योंकि वे इस देश के अधिवासियों और विदेशियों के अतीतकालिक सम्बन्धों के परिणाम हैं। किंतु इन सब प्रभावों की गणना और विश्लेषण कर लेने के उपरान्त, हम सचाई के साथ यह कह सकते हैं कि हिंदू या आर्य उपादान और सभ्यता भारत के मन, प्राण और गति को आज भी अधिकृत किए हुए है। भारत के राष्ट्रीय विकास में यह एक प्रधान बात है।

ईरानियों का अल्प प्रभाव—जिन विदेशी जातियों से हिंदुओं का सम्पर्क हुआ, उनमें सांस्कृतिक दृष्टि से ईरानी या पर्शियन और ग्रीक मुख्य हैं। ईरानी लोग आर्य जाति की ही एक शाखा के थे। धर्म तथा समाज की दृष्टि से इन दोनों जातियों के भावों और विश्वासों में अनेक समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। उनके देवताओं के कितने ही नाम, अनेक धार्मिक रीतियाँ, चार भागों में उनके समाज का वर्गीकरण और कितने ही सामाजिक रिवाज एक हैं। किंतु पिछले काल में दोनों जातियों ने स्वतंत्र भित्तियों पर अपना विकास किया। इसके बाद ईसवी सन् के पूर्व छठी शताब्दी में, जब डेरियस ने भारत का कुछ भाग जीतकर उसे पर्शियन साम्राज्य का एक प्रांत बनाया, तब फिर दोनों जातियों का सम्बन्ध हुआ। भारतीय सभ्यता को ईरानी सभ्यता से क्या मिला, इसका अभी तक कुछ पता नहीं चला है। हाँ, मौर्य साम्राज्य की राजनीतिक धारणाओं, शासन-व्यवस्था तथा वास्तुविद्या में ईरानियों की व्यवस्था और शैली से कुछ समानता पाई जाती है। किंतु सब मिलाकर, ईरानी सभ्यता का प्रभाव, यदि कुछ रहा भी हो तो, साधारण ही था।

यूनानियों का कुछ प्रभाव—सिकंदर के साथ जो यूनानी आए थे, वे

भारतीय सभ्यता पर अपनी कोई स्थायी छाप नहीं छोड़ गए। सिकंदर भारत में उन्नीस महीने रहा, किंतु इस बीच में वह बराबर युद्ध करता रहा और अंत में उसे बहुत शीघ्रता में लौट जाना पड़ा। उसके लिये इस देश में किसी स्थायी संस्था की स्थापना करना संभव नहीं था, क्योंकि उसकी विजय अल्प-कालिक थी। चंद्रगुप्त ने यूनानियों को पराजित करके भारत के बाहर खदेड़ दिया। उनका इस देश की शासन-प्रणाली, समाज, दर्शन या साहित्य पर कोई प्रभाव न पड़ा। मेगैस्थनीज़ ने भारतीय समाज का जो वर्णन किया है, उससे मालूम होता है कि उस भारतीय समाज की प्रकृति पूर्णतः हिन्दू थी। सिकंदर को पूर्व में यूनानी (हेलेनिक) सभ्यता का प्रचारक कभी नहीं कहा जा सकता। यदि उसके आक्रमण काल में यूनानियों से भारत का कुछ सम्बन्ध हुआ भी हो तो वह क्षणस्थायी था। इसके बाद बैक्ट्रियन यूनानियों द्वारा भारत पर होनेवाले आक्रमणों के समय तथा पंजाब के कुछ हिस्सों पर उनका जो शासन था, उसकी अवधि में, दोनों जातियों का यह सम्बन्ध कुछ अधिक घनिष्ठ और दीर्घ-कालिक हुआ। परन्तु भारतीयों ने यूनानियों से इस काल में भी जो कुछ ग्रहण किया, वह प्रायः कुछ नहीं के बराबर था।

बैक्ट्रियन यूनानियों के शासन-काल में जो सिक्के चले, वे यूनानी ढंग के थे और उन पर के लेख यूनानी एवं स्थानीय दोनों भाषाओं में अंकित होते थे। उन पर एक ओर ग्रीकों के राजकीय चिह्न होते थे। जनता यूनानी भाषा नहीं समझती थी और राजदरबार या अदालतों में भी उसका बहुत कम प्रयोग होता था। इस देश में अभी तक यूनानी भाषा का कोई शिलालेख भी नहीं मिला है और न कहीं यूनानी नामों का विशेष प्रयोग ही देखने में आता है।

ललित कला संबन्धी रचनाओं की शैली और प्रणाली, विशेषतः तक्षण कला और तत्सम्बन्धी शृङ्गार और सजावट में यूनानी प्रभाव के प्रमाण बहुत ही अल्प मात्रा में मिलते हैं। किन्तु उभार और खुदाई की तक्षणकला (Relief Sculpture) एवं स्थापत्य पर, जो शुद्ध भारतीय कलाएँ हैं, उनका कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। भारतीय-यूनानी (Indo-Greek) तक्षणकला का सब से प्राचीन नमूना, अज (Azes) के शासन काल का है। गांधारीय तक्षण के सब

प्राप्य उदाहरण परवर्त्ती काल के हैं और विश्व-प्रेम के निदर्शक ग्रीक-रोमन (Greeco-Roman) प्रभाव के फल हैं।

भारतीय नाट्य पर यूनानियों की नाट्य कला सम्बन्धी धारणाओं या विधियों आदि का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पंजाब तथा अन्य समीपवर्त्ती प्रान्तों में यूनानियों का जो दीर्घ-कालिक शासन था, उसके कारण इस देश पर कहीं स्पष्ट रूप से यूनानी (Hellenic) सभ्यता का प्रभाव नहीं पड़ा। यहाँ तक कि शासन-प्रबन्ध और राजनीतिक विषयों में भी यूनानी प्रणाली का कहीं अनुकरण नहीं किया गया। इस देश में बस जानेवाले ईरानी और यूनानी, दोनों तात्कालिक भारतीय जन समाज में, उसका धर्म, उसकी समाजिक रीतियाँ और उसकी संस्कृति ग्रहण करके मिल गए।

शकों और हूणों के प्रभाव का अभाव—शकों और हूणों ने भी भारत पर आक्रमण किया और उसके कुछ भागों को जीतकर उन पर कुछ काल तक शासन किया; किन्तु शीघ्र ही वे भी साधारण जन समूह में विलीन हो गए और सब प्रकार से पूर्वाधिवासियों में मिलकर उन्हीं के अंग बन गए। इस प्रकार भारत ने विजित होने पर भी अपने आप विजेताओं को ही पराजित किया और उन्हें हिन्दुत्व के रंग में रँग कर अपने आप में मिला लिया। उसकी सभ्यता अपने रंग-रूप और संघटन में ज्यों की त्यों रही।

गुप्त काल में, जो ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों, हिन्दू धर्म तथा हिन्दू साहित्य एवं विज्ञान का पुनरभ्युदय काल था, भारतीय ज्योतिर्विद्या पर अलेक्ज़ेण्ड्रियन ज्योतिष प्रणाली का कुछ प्रभाव पाया जाता है। रोमन सिक्कों की नक़ल करने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। रोम साम्राज्य से भी भारत के सम्बन्ध का पता चलता है। किन्तु इसके कारण केवल व्यापार में ही कुछ वृद्धि हुई; इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हुआ।

रक्त का मिश्रण और हिन्दुओं की जाति-भावना—जन-संख्या में मिल जानेवाली ये जातियाँ अपने साथ रक्त के नए चिह्न भी लाई थीं, किन्तु हिन्दुओं की जाति-भेद-प्रणाली ने इस सम्मिश्रण को केवल स्थानीय रूप दे दिया।

इस कारण विदेशियों के साथ रक्त का विशेष मिश्रण होना तो दूर रहा, स्वयं हिन्दुओं में भी रक्त का कोई व्यापक संमिश्रण नहीं हुआ।

इस दृष्टि-कोण से भारतीय इतिहास निम्न लिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है —

(१) **जातिवाद का पूर्ववर्ती समय या वर्ण-काल**—इसमें धर्म की एकता ने विभिन्न दलों या फिरकों को एकत्र किया और उन्हें आपस में मिलाया। उस समय शुद्धियाँ हुईं और हिन्दुओं ने विदेशियों को अपने में मिलाया। अ-यजनशील लोग जब यजनशील हुए, तब उन्हें सब प्रकार के सामाजिक अधिकार मिले। ये बातें व्यक्ति के कार्य वा पेशे पर निर्भर थीं, जन्म पर नहीं।

(२) **जातिवाद का काल**—इसमें अनुलोम और प्रतिलोम प्रणालियों का जन्म हुआ एवं समाज के ग्राह्य या मान्य और परित्यक्त ये दो भाग हुए। उच्च जातियों के लोगों के लिये अपनी से नीची जातियों में विवाह करने का सुभीता कर दिया गया। किंतु उनकी संतति को एक नई और निम्न कोटि में रखा गया। इससे अनेक नई जातियाँ उत्पन्न हो गईं। नीची जातियों को ऊँची जातियों में विवाह करने की आज्ञा न थी। इस प्रकार के निषिद्ध विवाहों के फल स्वरूप समाज में निम्न श्रेणी की समझी जानेवाली जातियों की संख्या बढ़ती गई। पर इस प्रकार के अनुचित सम्बन्धों से होनेवाले रक्त सम्बन्धी मिश्रण की मात्रा इस काल में बहुत थोड़ी थी। सारांश यह कि हिन्दुओं में, उनकी कठोर जाति-प्रणाली तथा रक्त की पवित्रता के भावों के कारण, रक्त-मिश्रण की ओर बहुत कम प्रवृत्ति हुई है।

प्राचीन एवं नवीन मुसलमानों में रक्त मिश्रण का आधिक्य—भारत के मुसलमानों में, चाहे वे विभिन्न जातियों के ही क्यों न हों, रक्त का मिश्रण बहुत हुआ है। उनका धर्म, धर्म-परिवर्तन के भाव का स्वागत करता है—विधर्मियों को अपने धर्म में सहर्ष सम्मिलित करता है। उनमें जाति-भेद नहीं है और विभिन्न जातियों में विवाह करने का भी कहीं निषेध नहीं है। पुराने और नए बनाए हुए मुसलमानों में परस्पर बहुत अधिक संख्या में विवाह होते रहे हैं और अब तक होते हैं। उनका धर्म सब प्रकार से विजातियों को अपने आप

में मिलनेवाला है, न कि अपनों को अलग कर देनेवाला अथवा हिंदुओं के धर्म की सी जटिलता रखनेवाला।

इन बातों के फल स्वरूप भारत की मुस्लिम जनता में विभिन्न जातियों का अत्यधिक मिश्रण हुआ है। इसी लिये उनके रीति-रवाजों, विश्वासों, जीवन-निर्वाह-प्रणाली और आचारों में समानता या एक-रूपता आ गई है। जहाँ हिन्दू प्रणाली एक जाति, समूह या सम्प्रदाय से दूसरे में अन्तर वा भेद डालती है और धार्मिक रीतियों एवं व्यक्तिगत तथा सामाजिक व्यवहारों में एक साधारण इयत्ता या आदर्श से हीन है, वहाँ मुसलमानों ने उन सब के लिये जो उनके धर्म में ले लिए गए हैं, समानता का व्यवहार ग्रहण किया है।

मुसलमान अधिक पूर्ण हैं—उपर्युक्त बातों का फल यह हुआ है कि मुसलमानों में एकता, अखिलता और पूर्णता अधिक है। वे हिन्दुओं की अपेक्षा, जो बिखरे हुए हैं और अन्य जातियों की अपेक्षा संख्या में बड़ी तेज़ी के साथ घटते जा रहे हैं, अधिक संख्या में बढ़ रहे हैं। हिन्दुओं में नवीन रक्त का सम्मिश्रण नहीं होता और जीवन के अनेक अंगों में छूआ-छूत का विचार प्रचलित है।

मुसलमानों ने अपने आपको हिन्दुओं में विलीन हो जाने से सदैव अलग रक्खा और बचाया है। उनके पास क़ुरान के आधार पर चलाया हुआ निश्चित धर्म, एक भिन्न संस्कृति, एक महत्वपूर्ण राजनीतिक परम्परा और स्वधर्मानुयायियों की एक बड़ी संख्या है। उनके धर्म की सरलता तथा धार्मिक श्रद्धा ने उन्हें एक में मिलाकर एक बड़े भ्रातृत्व भाव से युक्त समाज का रूप दे दिया है। भारत में उनके दीर्घकालिक शासन तथा हिन्दुओं की उदासीनता और विजातियों को अपने धर्म में न मिलाने की नीति ने उन्हें अपने व्यक्तित्व की रक्षा करने तथा अपनी संख्या बढ़ाने में बड़ी सहायता की है। हिंदुओं में जो लोग पतित या बहिष्कृत हुए थे अथवा प्रलोभन से वा बलपूर्वक मुसलमान बना लिए गए थे, वे सब मुसलमान के रूप में उनके समाज में प्रविष्ट हुए थे।

इसमें सन्देह नहीं कि धर्म-परिवर्त्तन करके नाम मात्र को मुसल्मान बननेवाले हिन्दू अपने पुराने रीति-रवाजों को मानते रहे; किन्तु हिन्दू जाति का द्वार उनके लिये सदा को बंद हो गया। दूसरी ओर उनपर मुस्लिम मनोभावों और

रीति-रवाजों का प्रभाव बढ़ता गया। जहाँ एक बार उनका मुँह अपनी पुरानी जाति के प्रभाव और परम्परा के नियमों से मुक्त होकर मक्के की ओर फिरा, तहाँ उनकी संतति पर क्रमशः अधिकाधिक मुस्लिम रंग चढ़ता गया।

मुसलमानों पर हिन्दुओं का प्रभाव—मुसलमानों पर हिन्दुओं का जो प्रभाव पड़ा, उसका वर्णन अभी बाक़ी है। मुसलमान समाज में धर्मपरिवर्तन द्वारा गए हुए हिंदुओं में हिंदू धर्म के अनेक चिह्न देखने में आते हैं। फ़कीरों, महात्माओं तथा क़ब्रों की पूजा, संगीत, जुलूस, सजावट, अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध, खाने पीने तथा वेशभूषा का ढंग, विचार-प्रणाली, भाषा, त्यौहार और धूम-धाम तथा कतिपय सामाजिक एवं धार्मिक रवाज प्रधानतः हिन्दू-संसर्ग और प्रभाव के ही फल हैं। ब्रह्म और जीव सम्बन्धी वेदांत की कतिपय धारणाओं तथा सब धर्मों की तात्विक एकता के भावों ने अनेक मुसलमान महात्माओं और शासकों पर अपना प्रभाव डाला है, जिसके कारण वे सब हिन्दुओं, मुसलमानों तथा अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति समान भाव से उदारता का व्यवहार करने का उपदेश देते रहे हैं और स्वयं भी उसे कार्यान्वित करने में सचेष्ट रहे हैं। इसके फल स्वरूप मुसलमानों में एक ऐसा दल तैयार हो गया है जो अपने पड़ोसियों के प्रति इस प्रकार के उदार व्यवहार का पक्षपाती और समर्थक है और जिसने काफिरों के विरुद्ध स्थायी रूप से युद्ध करते रहने का विचार त्याग दिया है।

हिन्दुओं पर मुसलमानों का प्रभाव—इस्लाम ने भी हिन्दुओं पर विभिन्न रूपों में प्रभाव डाला है। मुसलमानों के धार्मिक भ्रातृत्व और ईश्वर की एकता की धारणा का यह फल हुआ कि हिन्दुओं में भी कई ऐसे सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई जिन्होंने हिन्दू मुसलमान दोनों को ईश्वर की एकता का उपदेश दिया तथा सब जातियों के आदमियों को एक ऐसी धर्म-प्रणाली और धार्मिक भ्रातृत्व में संग्रथित किया जिसमें ऊँच नीच का कोई झगड़ा ही न था।

यदि सांस्कृतिक दृष्टि से देखा जाय तो कहना पड़ेगा कि भारतीय सभ्यता को मुसलमानों ने जो कुछ दिया, उससे अधिक उसका विनाश किया। बहुत से मंदिर, विद्यापीठ, नगर, प्रासाद, अट्टालिकाएँ, भवन तथा पुस्तकालय नष्ट किए गए; एवं स्वतंत्र हिन्दू-राज्य या तो अधीन कर लिए गए और या उनका नाश

कर दिया गया। इस से हिन्दू कला, विज्ञान, साहित्य तथा राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं का निर्माण और उत्थान बिलकुल रुक गया।

मुसलमान सुलतानों या बादशाहों ने अपने पीछे न तो कोई नए और लाभदायक विचार छोड़े, न किसी उपयोगी राज-प्रणाली या संस्था की ही स्थापना की। उनकी केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों सरकारों की शासन-प्रणाली अत्यंत अनियंत्रित थी। वह एक प्रकार का व्यक्तिगत और अनियंत्रित शासन था। अन्त में विद्रोह और हत्याएँ हुईं। उसके बाद जो सरकार बनी, वह भी पहली जैसी थी। हाँ, नए शासकों ने अरबी और फारसी साहित्य के प्रति लोगों में कुछ अनुराग अवश्य उत्पन्न किया। इसके फल स्वरूप संस्कृत के स्थान पर इन भाषाओं ने राज-भाषा का पद ले लिया। इसके साथ ही उनके साहित्य ने नवीन रूप धारण करना आरंभ किया। काव्य की कतिपय नई धाराएँ प्रकट हुईं। इतिहास लेखन कार्य का श्रीगणेश हुआ। शासन कार्य से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों तथा साधारण व्यवहार के लिये बहुत बड़ी संख्या में नए शब्द निर्मित हुए जो या तो इस प्रकार के पुराने शब्दों के स्थान पर रखे गए और या उन्हीं में सम्मिलित कर दिए गए। मक्का, दमिश्क तथा मुस्लिम देशों के अन्य नगरों की इमारतों के ढंग पर भवन निर्माण कला सम्बन्धी कई नए ढंग निकाले गए। परन्तु इन नवीन शैलियों में भी हिन्दू सामग्री, परिस्थिति और शैली ने बहुत परिवर्तन कर दिया।

मुसलमानों ने पहले से अच्छे सामरिक अस्त्र-शस्त्रों और प्रणालियों का प्रचार किया। सेना संचालन का एकाधिकार, अश्वारोही सेना का उपयोग, सेना संचालन सम्बन्धी शीघ्रता तथा धर्म के नाम पर भयानक और प्राणघातक आक्रमण आदि बातें भारतीय इतिहास में अभूतपूर्व हैं। पीछे से बारूद का भी उपयोग होने लगा। हिन्दू युद्ध-प्रणाली पुरानी और भार रूप हो गई थी और लड़ाइयों के लिये उपयुक्त न रह गई थी।

उपर्युक्त बातों के प्रचार और प्रयोग ने हिन्दू-जीवन को विभिन्न विषयों पर विचार करने के लिये बाध्य किया। सांसारिक कर्त्तव्यों और राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक श्रेय की उपेक्षा, हिन्दुओं की प्रतिरोधक शक्ति और बल को चूस रही थी। उनके छोटे छोटे दलों एवं राज्यों ने तथा उनकी व्यक्तिगत घृणा और पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता ने उन्हें मुसलमानों के आक्रमण तथा वृद्धि की लहर को

रोकने के अयोग्य एवं शक्तिहीन बना रखा था। मुसलमानों के लौकिक और व्यावहारिक दृष्टि कोण, उनकी धार्मिक एकता तथा राजनीतिक भ्रातृत्व ने हिंदुओं को अधिक लौकिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करने की शक्ति दी। इसके फल-स्वरूप मुस्लिम निरंकुशता के एक बड़े युग के बाद महाराष्ट्र शक्ति का जन्म हुआ, जिसने पहले से अधिक राजनीतिक और राष्ट्रीय भावना के साथ मुसलमानों से युद्ध किया और भारत में उनका स्थायी प्रभुत्व नष्ट कर दिया। जीवन-निर्वाह सम्बन्धी साधारण विषयों में उन्होंने मुसलमानों से कुछ खाद्य-सामग्री, वेशभूषा के ढंग, विलासिता की भावना तथा मनोविनोद की बातें ग्रहण कीं; और जहाँ जहाँ उनके हाथ में शक्ति, अधिकार या वैभव रहा, वहाँ वहाँ उन्होंने इमारतों और उद्यानों के बनावने पर ख़ूब ध्यान दिया।

उनके समय में आवश्यकतानुसार समीपवर्ती देशों के साथ यातायात और व्यापार में ख़ूब वृद्धि हुई। विभिन्न विदेशी राष्ट्रों के साथ, भारत के भिन्न भिन्न बन्दरों और प्रान्तों का व्यापार, जहाज़ों और कारख़ानों के द्वारा ख़ूब बढ़ा और भारतीय वस्तुएँ एशिया, अफ्रिका और युरोप के अनेक देशों में पहुँचीं। इन देशों के साथ जो समुद्री व्यापार होता था, उसके कर्ता-धर्ता प्रायः अरब लोग होते थे, जिनका स्थान पीछे युरोपवासियों ने ले लिया।

मुसलमानों की दो बुराइयाँ—पर भारत में मुसलमानों की बसती के साथ दो बड़ी बुराइयाँ भी आईं—(१) उनकी धार्मिक असहिष्णुता और (२) अराष्ट्रीय या विदेशी भावना*। पहली बात आन्तरिक गृह-युद्ध का स्थायी कारण हुई; और दूसरी ने विदेशी राजशक्तियों के प्रभाव और हस्तक्षेप को निमंत्रित किया और एक अराष्ट्रीय वा देशभक्ति-शून्य दृष्टिकोण उत्पन्न करने में सहायता की। आज तक इन दोनों बुराइयों ने भारत के लिये एक-राष्ट्रीय भावोद्रेक तथा उसके दैनिक जीवन में नागरिकता का भाव उत्पन्न होने का मार्ग रोक रखा है।

हिन्दुओं के सामाजिक और धार्मिक व्यवहारों पर मुसलमानों का प्रभाव—ब्राह्मण, जिसने अपने को पारलौकिक समस्याओं और कट्टर धार्मिक जीवन में ही आबद्ध कर रखा था, राजनीतिक क्षेत्र और युद्ध कार्य में

* आज भी इनमें इस देश की अपेक्षा दूसरे देशों से अधिक प्रीति पाई जाती है।

राजनीतिज्ञ और योद्धा की भाँति प्रविष्ट हुआ। क्षत्रिय के पराजित होने पर युद्ध विद्या का और भी ज्ञान हुआ। वैश्य का विदेशी वणिकों और वस्तुओं के साथ संसर्ग हुआ। शूद्रों में धर्म परिवर्तन द्वारा विजेताओं के धर्म में मिल जाने की उत्कण्ठा प्रकट होने के कारण उनके साथ भी पहले से कुछ अच्छा व्यवहार होने लगा।

बढ़ते हुए अनेकेश्वरवाद और मूर्त्तिपूजा का अवरोध हुआ। ऐन्द्रजालिकता, भूत-प्रेत और जादू का ह्रास हुआ। ईश्वर की एकता का भाव दृढ़ हुआ। बलि और मूर्त्ति पूजा के कट्टरपन का अन्त हुआ। साधुओं का नंगापन रोका गया। हिन्दू और मुसलमान महात्माओं में एक प्रकार का सौहार्द्र स्थापित हुआ। लोगों की प्रवृत्ति और रहन सहन में शालीनता आई। नई कारीगरी और कलाओं की सृष्टि हुई। संगीत, चिकित्सा, इतिहास, भूगोल, भवननिर्माण इत्यादि का विकास हुआ। युद्ध कला में सुधार हुए। युद्ध की नई प्रणालियों और अस्त्रशस्त्रों का प्रचार हुआ। मोमबत्ती, काग़ज, शीशा तथा सजावट आदि की अनेक वस्तुएँ सर्व साधारण में फैल गईं। सड़कों, नहरों, कारवाँसरायों तथा डाकखानों में वृद्धि तथा सुधार हुए। ज़मीन के बन्दोबस्त की प्रणाली निर्यन्त्रित हुई। बाग़बानी तथा फल-फूलों के बारे में लोगों का ज्ञान बढ़ा। जाति सम्बन्धी कट्टरपन तथा अत्यधिक पवित्रता एवं अपवित्रता के भावों में कमी हुई। इस प्रकार मुस्लिम शासन ने हिन्दू समाज, धर्म, रहन सहन और आचार पर प्रभाव डाला।

आज हिन्दुओं में शुद्धि और संघटन के जो भाव फैल रहे हैं, वे मुसलमानों के लगातार धार्मिक आक्रमणों और हिन्दुओं को अपने धर्म में मिलाने की प्रवृत्ति के फल हैं, जिन्हें आज राजसत्ता से च्युत हो जाने के बाद भी मुसलमान जारी रखे हुए हैं।

युरोपीय प्रभाव—जो छोटी छोटी विदेशी जातियाँ भारत में आकर बस गई हैं, वे या तो समाज से अलग रहनेवाली और या धार्मिक विषयों में उदार हैं। ये लोग सामाजिक मामलों में दूसरों से बहुत कम मिलते जुलते हैं। यहूदियों और पारसियों ने अपनी एकान्त वृत्ति को भली भाँति सुरक्षित कर रखा है, अतएव वे साधारण जन-समूह के जातीय रूप पर प्रभाव नहीं डालते। ये स्वतंत्र

जातियों की भाँति रहते हैं और इनका एक अपना सामाजिक तथा धार्मिक जीवन है। हिन्दुओं की भाँति ही, धर्मपरिवर्तन द्वारा दूसरों को अपने में मिलाने की प्रथा इनमें नहीं है। किन्तु यह बात ईसाई अधिवासियों के लिये नहीं कही जा सकती। पुर्त्तगालियों के भारत में आने और पश्चिमीय समुद्र तट पर अधिकार कर लेने के बाद भारतीयों को ज़बरदस्ती धर्मपरिवर्तन द्वारा अपने धर्म में मिलाने की प्रवृत्ति को बड़ा उत्तेजन मिला। उन्होंने निरीह जनता, उसके मंदिरों और देवताओं पर बड़े बड़े अत्याचार किए और उन्हें ज़बरदस्ती ईसाई बनाकर ऐसे दल की सृष्टि की जो पुनः हिन्दू समाज में आने के अधिकार से वंचित कर दिया गया।

इसके अतिरिक्त पुर्त्तगालियों और देशी स्त्रियों के अनुचित संबन्ध से एक वर्ण-संकर यूरेशियन समाज की उत्पत्ति हुई। यूरेशियन और नए बनाए गए ईसाई दोनों का दृष्टिकोण और प्रकृति बिलकुल भारतीय रही।

इसी प्रकर अन्य यूरोपीय जातियों ने भी अपनी धर्म-प्रचारिणी संस्थाओं, राजनीतिक प्रभाव और साहाय्य द्वारा भारतीयों को ईसाई धर्म में मिलाने का बराबर प्रयत्न किया है और भारत में इन नए बने हुए ईसाइयों की आज एक बहुत बड़ी संख्या हो गई है। अभी तक इनकी तथा यूरेशियन अधिवासियों की भारतवर्ष, उसकी संस्कृति, धर्म तथा राजनीतिक आकांक्षाओं से बहुत कम सहानुभूति रही है। इतना ही नहीं, इनमें से कितने ही लोग प्रत्येक भारतीय वस्तु के विरोधी रहे हैं। यह संभव है कि समान राजनीतिक और आर्थिक कष्टों के कारण, आगे चलकर इनके व्यवहार में कुछ परिवर्तन हो जाय और भारतीयों के प्रति अनुकूलता आवे; पर अभी तक इनमें सब के सब यूरोपीय संस्कृति की नकल करते और भारत पर होनेवाले यूरोपीय शासन में विश्वास रखते हैं। इस प्रकार इनमें मुसल्मानों की भाँति जातियों का मिश्रण आरम्भ हो गया है। दोनों ही विधर्मियों को समान मर्यादा के साथ अपने धर्म में मिलानेवाले समाज हैं।

भारत पर अंग्रेज़ों की विजय—अंग्रेज लोग पहले भारत में उसके साथ व्यापार और पीछे उसे विजय करने की इच्छा से आए थे और यहाँ के अधिवासियों के धार्मिक या सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे।

निस्संदेह पहले से अच्छा शासन करने के लिए, उनके लिए यह आवश्यक था कि वे यहाँ के अधिवासियों के धार्मिक एवं सामाजिक इतिहास, कानूनों और भावों इत्यादि का अध्ययन करें और उन्हें समझें। जो पश्चात्य सभ्यता उनके साथ आई, उसके अनेक प्रशंसक और भक्त पहले भी थे और अब भी हैं; किन्तु अभी तक भारतीय हृदय और उसके भावों में संस्कृतियों एवं विचार-प्रणालियों की संकरता ने कोई विशेष स्थान नहीं प्राप्त किया है।

राजनीतिक, धार्मिक और व्यापारिक उद्देश्यों से भारत में रहनेवाले यूरोपीय, भोजन, वेशभूषा तथा सामाजिक रस्मों में भारतीयों के संसर्ग से बिलकुल अलग रहते हैं। यूरेशियन जाति की उत्पत्ति के अतिरिक्त भारतीयों के साथ उनके रक्त-मिश्रण की और कोई आशा नहीं है।

अतीत में जातिगत संमिश्रण के बाधक कारण—भारत में विभिन्न जातियों एवं दलों का संमिश्रण न होने देनेवाले कारणों या परिस्थियों का संक्षेप में इस प्रकार निर्देश हो सकता है—

१—जाति-बहिष्कार।

२—धार्मिक विरोध।

३—सामाजिक एवं सांस्कृतिक उपेक्षा तथा एकान्तता।

४—पुराने रवाजों और नियमों का निश्चित रूप और कठोर पालन। कहीं कहीं विभिन्न जाति, धर्म और रंगवालों के साथ कुछ ऐसे निषिद्ध विवाह भी हुए हैं जो समाज द्वारा मान्य नहीं हुए थे। और

५—जातीय पवित्रता एवं संस्कृति की उच्चता की भावना तथा शाकभोजी और आमिषभोजी मनुष्यों का पार्थक्य।

आधुनिक बुरी भली प्रवृत्तियाँ—वर्तमान समय में जातिगत और धार्मिक आत्मानुभूति की जाग्रति ने प्रत्येक जाति को दूसरों के साथ मिश्रित होने से रोका है। राजनीतिक आकांक्षाओं ने एक जाति से दूसरी जाति का अन्तर और भी बढ़ा दिया है। प्रत्येक जाति या समाज सब से पहले केवल अपने स्वार्थ-साधन का प्रयास करता है और सब के साथ मिलकर नहीं रहता, वरन् सब एक दूसरे के विरुद्ध सचेष्ट रहते हैं। उनमें धर्मान्धता या अधर्म की प्रवृत्ति बढ़ गई है

और किसी न किसी बहाने पारस्परिक असहिष्णुता, घृणा और झगड़े की वृद्धि हो रही है। दृष्टिकोण राष्ट्रीय नहीं है और पारस्परिक साहाय्य एवं सेवा, सहिष्णुता एवं सम्मान की प्रवृत्ति का अत्यधिक अभाव है। किन्तु ये सब बातें आवेश का क्षणिक उद्‌गार हो सकती हैं। देश के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में कतिपय ऐसी प्रवृत्तियाँ दिखाई दे रही हैं जिनको हम आशामय भविष्य के चिह्न कह सकते हैं। उदाहरण लीजिए—

१— उपजातियों में परस्पर खान-पान एवं विवाह की प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिससे भविष्य में इसी प्रकार की अन्तर्जातीय खान पान एवं विवाह की प्रथा का जन्म हो सकता है।

२— अन्तर्प्रान्तीय वैवाहिक सम्बन्ध।

३—श्री बसु और डा० गौड़ के बिल, जिनके अनुसार यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि दूसरी जातियों में भी विवाह सम्बन्ध हो सकता है और जिनके द्वारा अन्तर्जातीय विवाह क़ानून के अनुसार ठीक माने जा रहे हैं।

४— सामाजिक बहिष्कार और छूआछूत में बहुत कमी हुई है।

५—विदेश-यात्रा के निषेध पर अब उतना ज़ोर नहीं दिया जाता।

६—अन्तर्जातीय खान-पान सम्बन्धी विचार अब पहले की अपेक्षा कम असह्य मालूम पड़ते हैं।

७—शुद्धि-संघटन या तंज़ीम-तबलीग़ सम्बन्धी उत्साह जनता में एक सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न होने के लक्षण हैं।

छोटे दल धीरे धीरे अपने से बड़े दलों में मिलते जा रहे हैं और इस प्रकार समाज दृढ़तर एवं शक्तिमान होता जा रहा है और उसके अन्दर होनेवाले अनेक झगड़े और संघर्ष नष्ट होते जाते हैं।

८—पश्चिम के संसर्ग तथा उसके उत्साहप्रद आदर्शों एवं पद्धतियों के प्रति भारतीयों में फैलनेवाले सद्भाव ने लोगों के पुराने आदर्शों एवं प्रणालियों को फिर से जाँचने और उनका महत्त्व निश्चित करने को विवश किया है।

९—यात्रा आदि को सुगम और शीघ्र करनेवाले आधुनिक साधन तथा विश्व के विभिन्न भागों का पारस्परिक सम्बन्ध जाति तथा अलगाव के बन्धनों को तोड़ रहा है।

१०—कांग्रेस के प्रचार तथा राजनीतिक आवश्यकताओं ने जीवन के सम्बन्ध में लोगों को एक नवीन राष्ट्रीय दृष्टि प्रदान की है।

११—बुद्धि, उपयोगिता एवं प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर होनेवाले समाज सुधार सम्बन्धी आंदोलनों ने जातीय अनुदारता तथा प्राचीन रवाजों को व्यर्थ सिद्ध कर दिया है।

१२—आर्थिक परिस्थितियाँ, अविभिक्त कौटुम्बिक जीवन के नियमों और पेशों से सम्बन्ध रखनेवाले जातीय प्रतिबन्धों को तोड़ रही हैं और इनका स्थान कौटुम्बिक जीवन ने ले लिया है। पहले जो पेशे किसी ख़ास जाति के अधिकार में थे, आज सब लोग वे पेशे करने लगे हैं।

१३—जीवन सम्बन्धी प्राचीन ग्राम और घरेलू अर्थनीति का स्थान व्यापार और उद्योग सम्बन्धी राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय अर्थनीति ने ले लिया है।

इस प्रकार प्राचीन प्रणालियों का स्थान नवीन प्रणालियाँ ग्रहण कर रही हैं और पद्मपुराण की निम्नाङ्कित उक्ति को चरितार्थ करती हैं—

भारतेषु स्त्रियः पुंसो, नाना वर्णा प्रकीर्तिताः।
नाना देवार्चन युक्ता नाना कर्माणि कुर्वते॥

परिच्छेद ३

सांस्कृतिक एकता

भारतीय संस्कृति की एकता—भारत में संस्कृति की आन्तरिक एकता पाई जाती है। यह बात उसके जीवन के सब रूपों में व्यक्त है। उसकी भाषाओं और मतों, उसकी कला और साहित्य, जीवन यापन की प्रणालियों, मनन तथा विचार के अभ्यास तथा अनुभूति एवं साधारण विचार में—सर्वत्र यह बात देखी जा सकती है।

आर्य भावों और पद्धतियों का प्राधान्य—आर्य भावों और पद्धतियों ने समस्त भारत के अधिवासियों के विचारों, भावों, अनुभूतियों और कार्य्यों की सृष्टि और संस्कार करने में बड़ी तत्परता दिखाई है। इनके पुराने रूप चाहे जो रहे हों, पर आर्यों ने या तो उन्हें अपने में विलीन कर लिया या उनको अपनी संस्कृति से दबा दिया। कतिपय प्राचीन द्रविड़ पद्धतियाँ और विश्वास भले ही आज जीवित दिखाई दें, पर उनका संस्कार किया गया है और निश्चय ही वे एक नवीन आधार पर निर्मित किये गये हैं।

भाषाओं की घनिष्ठता—भारत में भाषाओं की एक जाति है जिनके साधारण रूप, शब्द और लिपियाँ देश के अधिकांश भाग में प्रचलित हैं। इनका वैदिक भाषा और प्राचीन संस्कृत से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि इनका विकास बहुत समय में हुआ है। किन्तु आधुनिक भारतीय भाषाएँ अवश्य ही प्राचीन संस्कृत और प्राकृत की सन्तान हैं। उन्होंने अपने शब्द भाण्डार में कतिपय प्राचीन देशी और विदेशी शब्दों को मिला लिया है; किन्तु उनका ढाँचा, आवरण एवं रूप निश्चय ही आर्य है। उपर्युक्त विवरण का सम्बन्ध केवल भाषाओं के आर्य-समूह से है जिसमें काश्मीरी, पंजाबी, उर्दू, हिन्दी, राजस्थानी, बँगला, आसामी, उड़िया, सिंधी, गुजराती तथा मराठी

भाषाएँ सम्मिलित हैं। इन भाषाओं ने विभिन्न रूपों में अपनी विशेषताएँ और अपना व्यक्तित्व स्थिर रखा है और अब भी वक्तृत्व के नाना रूपों में बोली जाती हैं। फ़ारसी का, जो एक आर्य्य भाषा है, उर्दू पर जो कुछ प्रभाव पड़ा है, वह केवल संज्ञाओं की संख्या बढ़ाने के रूप में ही पड़ा है, क्रियाओं का निर्माण करने में उसने कोई सहायता नहीं की है।

आर्य भाषाएँ—इन सब आर्य भाषाओं की सृष्टि और विशेषताओं का उद्गम निम्नलिखित भाषाएँ हैं—

(१) वैदिक संस्कृत।

(२) शुद्ध संस्कृत।

(३) प्राकृत के कई रूप—पैशाची, शौरसेनी, मागधी, सौराष्ट्री, महाराष्ट्री तथा इनसे निकली हुई अनेक अपभ्रंश स्थानीय बोलियाँ।

(४) आधुनिक देशी भाषाएँ और उनकी न लिखी जानेवाली बोलियाँ।

संस्कृत—संस्कृत शिक्षित आदमियों और साहित्य की सब से प्राचीन, सब से अच्छी और सुसंस्कृत भाषा है। आज भी यह एक जीवित भाषा है और आधुनिक देशी भाषाओं तथा वर्तमान विचारों को कुछ विशिष्ट रूप प्रदान करती है। इसने हमारी संस्कृति और हमारी गौरव गाथा की एकता को अक्षुण्ण रक्खा है।

उर्दू—उर्दू केवल हिन्दी का फ़ारसी-मिश्रित रूप है जिसकी लिपि फ़ारसी है। बाईस करोड़ ऐसे आदमी हैं जो इन आर्य भाषाओं में बोलते हैं।

द्रविड़ भाषाएँ—द्रविड़ भाषाओं की उत्पत्ति और बनावट इनसे भिन्न है। उनकी लिपियाँ अनार्य हैं, किन्तु प्रधानतः ब्राह्मण विद्वानों और वैयाकरणों द्वारा विकसित और उन्नत होने के कारण उनमें संस्कृत के बहुत अधिक शब्द और साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ आ गई हैं तथा उनकी विचार-धारा भी, अपने दीर्घ विकास में, वस्तुतः आर्य हो गई है। उपर्युक्त भाषाओं में तामिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड़ी हैं। इनके अतिरिक्त लिखी जानेवाली तुलू एवं कोडागू जैसी कतिपय उप-भाषाएँ भी हैं। लगभग छः करोड़ आदमी ये भाषाएँ बोलते हैं।

मुण्डा भाषाएँ—मुण्डा समूह के नाम से विख्यात तथा आदि निवासियों की अन्य भाषाओं की कोई लिपि या विचार-धारा नहीं है। वे आरंभिक काल की हैं और अन्य शक्तिशाली तथा उन्नत, विशेषतः आर्य भाषाओं में विलीन हो जाती हैं। इन भाषाओं के बोलनेवालों का भारतीय इतिहास या भारतीय विचार-प्रणाली पर कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इनकी संख्या लगभग ३० तीस लाख है।

लिपियाँ—भारत में प्रयुक्त लिपियाँ आर्य या देवनागरी, द्रविड़ और फ़ारसी हैं। देश में एक लिपि का व्यवहार करने के लिए हिन्दुओं की ओर से देवनागरी का और मुसलमानों की ओर से फ़ारसी का नाम लिया जा रहा है; किन्तु अभी तक सब के द्वारा किसी एक लिपि के स्वीकृत होने के सम्बन्ध में कोई विशेष अग्रसरता या सफलता नहीं हुई है।

भारत की राष्ट्र-भाषा—इसी प्रकार हिन्दी को भारत की सामान्य या राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकृत कराने के लिए भी आन्दोलन हो रहा है। बोलने की सामान्य भाषा के रूप में इसे, विशेषतः इसके प्रचलित रूप को, जो संस्कृत या फ़ारसी शब्दों के बाहुल्य से रहित है, ग्रहण कराने के लिए जो आन्दोलन हो रहा है, उसे भारत के सभी प्रान्तों में थोड़ी बहुत सफलता प्राप्त हुई है। भूत कालिक विकास और भविष्य काल में अधिक उन्नति करने की चेष्टा, इन दोनों बातों से इन भाषाओं की आन्तरिक एकता का पता चलता है।

भारतीय धर्मों की घनिष्ठता—भारतीय धार्मिक विश्वास तत्वतः आर्य हैं और वैदिक धारणाओं एवं रवाजों से लिये गये हैं। सनातनी या वैदिक, वेदांती, शैव एवं वैष्णव, शाक्त तथा भक्तिमार्गी, बौद्ध और जैन, लिंगायत और सिख सभी अपने आचार विचार के सम्बन्ध में वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं स्मृतियों के ऋणी हैं। मात्रा या परिणाम के सम्बन्ध में उनमें भेद हो सकता है। यह अंतर प्रवृत्ति या निवृत्ति, ज्ञान, कर्म, भक्ति या नीति के विषय में हो सकता है, किन्तु स्वरूप या साँचा और मनःस्थिति एक ही है। उनका विरोध उनकी विभिन्न अभिव्यक्तियों एवं विस्तार के सूक्ष्म भेदों से उत्पन्न होता है, किन्तु उनमें समान धारणाएँ, विचार और तत्व भी हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

(१) वैदिक विचार और धारणाएँ—अर्थात् प्रार्थना, एक ईश्वर, कर्म, पुनर्जन्म, आत्मा, परमात्मा तथा अन्य छोटे देवता।

(२) वर्ण, आश्रम और जाति।

(३) स्पर्शास्पर्श।

(४) एक से देवता।

(५) सामान्य या एक से दार्शनिक ग्रंथ।

(६) आचार सम्बन्धी सिद्धान्तों की समता या एक-रूपता (जैसे, यम, नियम, पंचशील, पंचयाम इत्यादि), धार्मिक उत्सवों, उपासना-विधियों और व्रत पालनादि में भी अनेक समानताएँ पाई जाती हैं।

इस प्रकार आर्यों और द्रविड़ों, विभिन्न सम्प्रदायों एवं मतों ने परस्पर मिलकर भारत में एक सामान्य संस्कृति तथा प्रवाह और ऐक्य की सृष्टि की है।

भारतीय मत और विदेशी मत—परन्तु इस्लाम, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म तथा ज़रतुश्त धर्म जैसे विदेशी मत और धर्म अपने प्रचलित दृष्टिकोण, रूप और विश्वास में निश्चय ही भारतीय मत के विरुद्ध हैं; किन्तु इनमें तथा भारतीय मतों में भी अंतिम ध्येय तथा उच्च विचारों की समानता पाई जाती है।

सूफियों और वेदांतियों की धारणाएँ प्रायः एक सी हैं। सन्त महात्माओं और फ़क़ीरों के आचार-विचार सहनशीलतामय, मानवीय और व्यापक होते हैं। एकेश्वरवाद, निर्गुणोपासन, ईश्वर के समक्ष जाति धर्म का अभाव, फल और दण्ड तथा अवतार एवं ईश्वरीय अवतार या पैग़म्बर सम्बन्धी बातों को प्रायः सभी मानते हैं। मनुष्य के प्रधान गुण सहनशीलता, सत्य, पवित्रता, अस्तेय या चोरी न करना, अलोभ, दीन दुःखी, वृद्ध और रोगियों की शुश्रूषा और महापुरुषों की सेवा को सभी स्वीकार करते हैं। धर्म की इन उच्च धारणाओं से ही मनुष्य जाति की एकता और पारस्परिक सहनशीलता की आशा है। भारत में सभी धर्मों के महापुरुषों के दृष्टिकोण और कार्यक्रम में मानव जाति की एकता का यह अन्तर्भूत सिद्धान्त विकसित और क्रियात्मक रूप में प्रकट हुआ है।

कला की अन्तर्भूत एकता—अपनी कला में भी हम तात्विक एकता की वही धारा देखते हैं। उसका आध्यात्मिक आदर्श उससे निकलनेवाली आचार

सम्बन्धी ध्वनि तथा शांत-सौन्दर्य वस्तुतः भारतीय ही हैं। उसकी अन्य धारणाएँ गौण हैं और मनुष्य के उस सर्वोच्च आध्यात्मिक आदर्श से दबी हुई हैं जो उसकी अभिव्यक्ति, बाह्यावरण और सैद्धांतिक विशेषताओं को अपने साँचे में ढालता और रूप देता है। भारत की मुस्लिम कला में भी यह दृष्टिकोण और ध्वनि वर्तमान है, यद्यपि वह कुछ अधिक सांसारिक तथा कम सांकेतिक एवं आध्यात्मिक है।

साहित्य में सामान्य धारा—इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय साहित्य सर्वाङ्गीण है और जीवन, कविता, दर्शन, विज्ञान तथा कला की सभी अभिव्यक्तियों का निर्देश करता है। किन्तु इसकी सर्वोत्तम रचनाओं की ध्वनि तत्वतः भारतीय, आदर्श में आध्यात्मिक, चेष्टा में सदाचारिक एवं अपनी सांसारिक आवश्यकताओं में भौतिक है। मानवात्मा के सम्बन्धों का निरूपण ईश्वर, ब्रह्म, संसार, मुक्ति, सत्य, अहिंसा, सहनशीलता, सेवा तथा सुन्दर गृहस्थाश्रम भारतीय साहित्य के मुख्य एवं अन्तर्भूत विषय हैं।

जीवन निर्वाह की सामान्य विधि—जीवनयापन-प्रणाली प्रधानतः जलवायु और भौमिक अवस्था पर निर्भर करती है। जीवन निर्वाह की बहुत थोड़ी बातें धार्मिक विचारों पर निर्भर हैं। अधिकांश बातें सर्वत्र समान हैं।

खाद्य-द्रव्य—अन्न एवं फल, मछली तथा मांस, मसाले, तेल तथा पेय द्रव्यादि के सामान्य व्यवहार के कारण भोजन की प्रणालियाँ प्रायः एक सी हैं। जिस प्रकार के जलवायु और भूमि में हम रहते हैं, उनके लिए वहीं के खाद्य-द्रव्य उपयुक्त होते हैं। भोजन करने की प्रणालियों में भी समानता है।

वेशभूषा—वेशभूषा का रूप—धोती, दुपट्टा, टोपी, कमीज़, पाजामा इत्यादि—एक सा है। कपड़ों की काट छाँट, फैशन की विधियाँ और रंगों का चुनाव भी समान ही होता है।

सामाजिक विधियाँ—वर्णाश्रम और जाति विभाग की धारणाओं के अनुकूल होने के कारण सामाजिक विधियों में भी ऐक्य पाया जाता है। पवित्रता और छूआछूत की भावनाएँ प्रायः सब जगह प्रचलित हैं। साधारणतः सहभोज तथा अन्तर्जातीय विवाहों से अलग रहने की चेष्टा की जाती है और स्वजाति विवाह एवं अपनी उपजाति के बाहर विवाह करने की रीति है।

अनुभूति, विचार-धारा और जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण—विचार और अनुभूति की भारतीय धारा की आन्तरिक और मुख्य धारणा यह है कि यह संसार ही समस्त सृष्टि नहीं है ; इससे ऊँचा एक और लोक है, जहाँ मनुष्य का एक विशेष स्थान और भाग है। उसके अनुकूल ही मनुष्य को अपने जीवन का नियमन करना चाहिए। इसलिए जीवन सम्बन्धी व्यवहार में वह व्यक्तित्वमय नहीं है, वरन् समष्टि के अंग के रूप में जातीय है।

दूसरी बात यह है कि प्रवृत्ति मार्ग या शक्तिमय सांसारिक जीवन के प्रलोभन और फल चाहे कितने ही बड़े क्यों न हों, उनसे ऊपर उठना, भोग और अनुभव की एक अवधि के बाद उनसे अलग हो जाना और सर्वोच्च आध्यात्मिक शक्तियों एवं उद्देश्यों के साथ अपने जीवन का सामंजस्य स्थापित करना ही उसका आदर्श है।

तीसरी बात यह है कि जीवन का आधार धर्म और सदाचार है, सांसारिक, आर्थिक या राजनीतिक वैभव नहीं। राजनीतिक अभ्युदय को धर्म एवं मोक्ष की गति के नियमन में रखने का विधान है।

चौथी बात यह है कि ऊँच, नीच, पवित्रता एवं छूआछूत की धारणाएँ वर्तमान हैं, जो उनके विचारों और अनुभूतियों का निर्देश करती हैं। किन्तु इन धारणाओं के साथ उनमें सहनशीलता तथा स्वयं जीने और दूसरों को जीने देने की भावना भी सम्मिलित है।

मत, धर्म और जाति की सीमाओं और बन्धनों तथा अन्य सामाजिक एवं सांसारिक भिन्नताओं को अतिक्रमण करके नित्य एवं सत्य जीवन की प्राप्ति ही अन्तिम ध्येय है। यह अन्तर्भूत कामना या एकता मोक्ष के लिए है जो भारत में अनुभूति, विचार तथा जीवन की अनेक-रूपता के उत्कर्ष का कारण है। नाना मतों और भाषाओं के रहते हुए भी जीवन का एक रूप, अभिव्यक्ति की एक प्रणाली, विचार, अनुभूति एवं कार्य की एक-रूपता इतनी प्रबल है कि उसके द्वारा भारत के सांस्कृतिक ऐक्य का निरूपण होता है।

एक सामान्य भाषा की वर्तमान समस्या—जनता के सामने इस समय जो महत्वपूर्ण और जटिल समस्याएँ उपस्थित हैं, भारत के लिए एक

सामान्य भाषा का विकास भी उनमें से एक है। किन्तु यह बहुत दूर का रोना है। समस्त भारत में बातचीत एवं विचार-विनियम के लिए एक सामान्य भाषा का विकास सहज ही किया जा सकता है; किन्तु वह उन दूसरी प्रधान जातीय भाषाओं के स्थान पर अधिकार नहीं कर सकती जिनका भूतकालिक इतिहास, वर्तमान शक्ति एवं भावी प्रवृत्तियाँ यह प्रकट करती हैं कि वे तीव्र गति से उन्नति करती जायँगी और किसी विकसित या गृहीत सामान्य भाषा के कारण नष्ट नहीं होंगी। ऐसी भाषाओं में से प्रत्येक का अपना एक लोकप्रिय साहित्य है, जिस पर उस प्रांत के प्रत्येक प्राणी का अधिकार है और जो प्रायः धार्मिक, भक्तिमय और दार्शनिक होने के कारण प्रत्येक घर में पढ़ा और गाया जाता है। यह वहाँ के अधिवासियों के मन में अनुभूति उत्पन्न करता, उन्हें उनके विचारानुकूल अग्रसर करता और अनेक सांसारिक समस्याओं तथा चिन्ताओं के समय उन्हें शांति एवं स्फूर्ति देता है।

अंग्रेजी भाषा सामान्य माध्यम के रूप में—एक ऐसा छोटा दल भी है जो भारत में पारस्परिक विचार विनियम के योग्य सामान्य भाषा तथा कालेजों की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा को बनाना चाहता है। किन्तु उस अवस्था में उन लोगों का क्या होगा जो झोपड़ियों में रहते हैं? इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान काल में अंग्रेजी भाषा ने जनता के जीवन क्षेत्र में उसी प्रकार अनुचित अधिकार कर लिया है जिस प्रकार भूत काल में फ़ारसी ने किया था। शासकों ने सब तरह से इसकी उन्नति और वृद्धि की है; इसके द्वारा पाश्चात्य साहित्य, दर्शन, विज्ञान, व्यापारिक-जगत और अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों तक पहुँच होती है। इसका अध्ययन इसलिए किया जाता है कि शासन-प्रबन्ध एवं तत्सम्बन्धी पत्र व्यवहार का काम स्वदेश में इसी के द्वारा होता है और पाश्चात्य सभ्यता तक इसी के द्वारा पहुँच होती है। इतना होने पर भी ब्रिटिश शासन चिरस्थायी या नित्य नहीं है; और यदि भविष्य में शासन-कार्य जनता की इच्छा एवं जनता की बुद्धि द्वारा होने को हो और जनता उसके कार्य-संचालन और विकास में सम्मिलित होनेवाली हो, तो इस विदेशी भाषा को अलग कर देना होगा। एक प्रतिनिधि के लिए इसकी जानकारी विशेष रूप से आवश्यक नहीं बनाई जा

सकती और शासन की कार्य्यप्रणाली तथा दोषों से जनता तब तक ठीक ठीक परिचित नहीं हो सकती, जब तक उसका वर्तमान रूप बना रहेगा।

पाश्चात्य सभ्यता के अध्ययन तक पहुँच होने के लिए फ्रेंच, जर्मन और अंग्रेजी में से किसी एक भाषा का परिचय प्राप्त करना आवश्यक होगा। बहुत ऊँची कक्षा और प्रतिभा के विद्यार्थी अपने उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त इनमें से किसी का अध्ययन कर सकते हैं। परन्तु वह अध्ययन सब के लिए अनिवार्य नहीं बनाया जा सकता।

'हिन्दुस्तानी' सामान्य माध्यम के रूप में—दूसरी भाषा जो अधिक उपयुक्त है और जिसका अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनियम के लिए सरलतापूर्वक ग्रहण एवं अध्ययन किया जा सकता है, हिन्दी, हिन्दुस्तानी या उर्दू है। लगभग बीस करोड़ आदमी इसे बोलते और समझते हैं। इसका व्याकरण और गठन सरल है, इसकी ऐतिहासिक संगति भारतीय है, इसकी अभिव्यक्ति में अत्यधिक प्रवाह और माधुर्य है तथा यह बहुत ही सरलता से सीखी जा सकती है। निस्संदेह इसका साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं से अधिक प्रगतिशील नहीं है। बँगला, मराठी और तामिल के साहित्य इससे ऊँचे हैं; किन्तु अन्य अनेक सुभीतों के कारण दूसरी भाषाओं की अपेक्षा भारत की राष्ट्रभाषा होने के लिए इसके अधिकार बहुत अधिक बढ़ जाते हैं।

लिपि की वर्तमान समस्या—भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि को भी आवश्यकता है। इससे भिन्न भाषाओं के अध्ययन में सुभीता होगा और हम लोग एक दूसरे के अधिक निकट होंगे। अभी तक इस सम्बन्ध में तीन प्रस्ताव—देवनागरी, उर्दू या रोमन लिपियों में से किसी एक को ग्रहण करने के—सर्वसाधारण के समक्ष उपस्थित हुए हैं।

देवनागरी, सामान्य लिपि के रूप में—देवनागरी तथा इससे मिलती-जुलती लिपियों का निर्माण स्वर सम्बन्धी वैज्ञानिक सिद्धान्तों को लेकर हुआ है और ये भारत में उसके इतिहास के प्रारंभिक काल से प्रचलित रही हैं। संस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक भाषाओं से उनका घनिष्ट सम्बन्ध है। पाणिनि के समय से आज तक का सम्पूर्ण उच्च साहित्य इसी लिपि में लिखा गया है।

अब भी भारत की यह प्रधान लिपि है । हिन्दी, मराठी, गुजराती और बँगला भाषाएँ, जो भारत के अधिकतर भागों में बोली जाती हैं, इसी लिपि (या इससे मिलती जुलती लिपि) में लिखी जाती हैं। इसलिए ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और बहुमत की दृष्टि से इसे ही सामान्य लिपि की जगह अपनाना चाहिए। यह स्वभावतः प्रचलित भी है। कुछ लोग कहते हैं कि यह शीघ्रता से लिखी और मुद्रित नहीं की जा सकती, अतएव इसका महत्व घट जाता है। किन्तु अन्य अनेक सुभीतों के साथ इस बात की तुलना करने पर महत्व और उपयोगिता की दृष्टि से कोई दूसरी लिपि इसकी बराबरी में नहीं ठहरती।

फ़ारसी, सामान्य लिपि के रूप में—मुसलमान उर्दू लिपि को, सामान्य लिपि के रूप में, अपनाने की बात कहते हैं, जो फारसी की ही लिपि है। उनकी साहित्यिक और राजनीतिक परम्पराएँ इसके साथ सम्बद्ध हैं। उनमें के साहित्यिक और धार्मिक लोग देवनागरी में कोई आकर्षण अनुभव नहीं करते, यद्यपि बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण में वहाँ की प्रान्तीय भाषाएँ ही उनकी मातृभाषाएँ हैं ; और उनका पत्र-व्यवहार, बही-खाता, हिसाब-किताब तथा अध्ययन सब देवनागरी लिपि में ही होता है।

ध्वन्यात्मक लिपि की दृष्टि से उर्दू अपूर्ण है और भारतीय जीवन के साथ उसका कोई सांस्कृतिक, साहित्यिक या धार्मिक संसर्ग या संगति नहीं है। वह उत्तर भारत में कुछ मुसलमानों तक ही परिमित है और लेखन एवं मुद्रण-कार्य में कठिन है।

रोमन, सामान्य लिपि के रूप में—प्रायः ईसाई धर्म-प्रचारक रोमन लिपि को सामान्य लिपि बनाने पर ज़ोर देते हैं। ईसाई धर्म में मिलाए हुए बच्चों को उनकी मातृ-भाषा में शिक्षा देने के लिए उन्होंने अपने कुछ स्कूलों में इसे प्रचलित कर रखा है। यह उदाहरण उन प्रांतों में अधिक पाया जाता है जहाँ के आदिम निवासियों की भाषा ऐसी नहीं है जिसकी कोई लिपि हो। ईसाई धर्म-प्रचारकों के इस बात पर ज़ोर देने का कारण यही है कि रोमन लिपि में लिखने और छापने में उन्हें विशेष सुभीता होता है। वे इसलिए भी ऐसा कहते हैं कि यह सभ्य यूरोपीय जातियों की लिपि है और उन पिछड़ी हुई जातियों में

इसका प्रचार और ग्रहण हो रहा है जिनकी भाषाएँ अब तक किसी लिपि में नहीं लिखी जाती थीं। किन्तु भारत में यह उन्हीं कारणों से सामान्य लिपि के रूप में नहीं अपनाई जा सकती, जिन कारणों से उर्दू लिपि को स्वीकृत करने में बाधा है, यद्यपि उर्दू की अपेक्षा इसमें यह एक अधिक सुभीता होता है कि इसका लेखन और मुद्रण कार्य सरल है। पाश्चात्य विद्वानों ने कतिपय संस्कृत एवं पाली पुस्तिकाओं को इस लिपि में छपाने का प्रयत्न किया है। इन लोगों ने अपने व्याकरणों, कोश-ग्रन्थों तथा अन्य पुस्तकों में देवनागरी और दूसरी लिपियों का अपनी लिपि में अनुलेखन करने की चेष्टा भी की है। ऐसा मालूम होता है कि इनमें से प्रत्येक लिपि के हिमायतियों के मन में अपनी लिपि के लिए पक्षपात तथा दूसरी के प्रति कुछ उपेक्षा, कुछ द्वेष है। किंतु यदि पक्षपात भी न्याययुक्त समझा जा सकता हो तो इस बात का निर्णय ऐतिहासिक, सांस्कृतिक. वैज्ञानिक और बहुमत के विचार से होना चाहिए।

भारतीय सभ्यता के उपकरण—भारत की सभ्यता पर विभिन्न उपकरणों का प्रभाव पड़ा है। आर्य-द्रविड़ उपकरण सर्व प्रधान और स्फूर्ति-प्रद है। किन्तु भारत में उसके जीवन के विभिन्न काल में, एशिया और युरोप से आनेवाले लोगों ने भी उसकी सभ्यता पर थोड़ा बहुत प्रभाव डाला है।

एशियाई प्रभाव, चीन और अरब से तथा युरोपीय प्रभाव यूनान और इंग-लैण्ड से आकर पड़ा है।

अरब का प्रभाव—अरबी प्रभाव प्रायः मुस्लिम और आक्रमणकारियों द्वारा आया था। इसका स्वरूप प्रधानतः धार्मिक, सैनिक और राजनीतिक था। यह अपने साथ एकेश्वर-वाद और मूर्त्ति-भंजकता से पूर्ण बलपूर्वक प्रचार किया जाने-वाला एक धर्म और काफ़िरों या ग़ैर मुस्लिमों के प्रति, फिर चाहे वे पड़ोसी और सहप्रजा ही क्यों न हों, अत्यधिक घृणा और स्थायी लड़ाई-झगड़े की प्रवृत्ति लाया। इसका शासन और राजनीतिक आकांक्षाएँ स्वधर्म-प्रचार की सहायक थीं। ग़ैर-मुस्लिमों के लिए इसका राज्य साधारणतः 'दारुल-हरब' (युद्ध-भवन) था, दारुल इस्लाम (शांति-भवन) नहीं। इस प्रवृत्ति से विचलित होने पर शासक या बादशाह दण्डनीय समझा जाता था एवं पदच्युत किया जाता था। इस भाव

और प्रवृत्ति ने राष्ट्रीय आधार पर संयुक्त भारत के निर्माण का अवसर नष्ट कर दिया। यह निश्चय ही एक मूर्खता-पूर्ण सांसारिक और स्वार्थमय दृष्टि-कोण है।

युरोपीय प्रभाव—युरोपीय सभ्यता ग्रीक आक्रमणों, रोमन संसर्ग, ईसाई मिशन तथा पुर्तगाल, फ्रांस एवं इंगलैण्ड के राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के प्रयत्नों एवं औद्योगिक तथा व्यापारिक संसर्गों और समष्टि रूप से पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन के द्वारा भारत में प्रविष्ट हुई है। युरोपीय सभ्यता के सभी अंगों ने भारत के बौद्धिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं शिक्षा तथा कला सम्बन्धी विचारों में प्रवेश किया और उन पर प्रभाव डाला है।

भारत ने दूसरों से भी लिया है—उपर्युक्त बातों से यह प्रकट है कि अपनी प्रकृति की अनन्यता एवं विशिष्टता को सुरक्षित रखते हुए भी भारतीय सभ्यता ने विदेशियों के राजनीतिक और आर्थिक विचारों तथा ज्ञान के प्रति विरक्ति का भाव नहीं प्रदर्शित किया है। इसका द्वार सबके लिए उन्मुक्त रहा है। इतने पर भी इसने अपने को अधिकृत या विनष्ट नहीं होने दिया। विश्व की सेमिटिक, आर्य, मंगोल सभी शक्तिशाली जातियों से सदैव इसका संसर्ग रहा है। इन जातियों को इसने बहुत कुछ दिया है और इनसे लिया भी है। पूर्व में सभ्यता का एक वर्ग और पश्चिम में दूसरा वर्ग नहीं है। भारतीय और पाश्चात्य सभ्यताएँ, कतिपय उपकरणों, गठन एवं विशेषताओं में अवश्य एक दूसरी से भिन्न हैं, पर अन्य बातों में वे समानता भी रखती हैं।

भारतीय आदर्श आध्यात्मिक और विश्वजनीन हैं—भारतीय आदर्श मुख्यतः आध्यात्मिक हैं और अद्वैतवाद एवं दैवी सम्पत् को सर्वोच्च जीवन का पथ-प्रदर्शक मानते हैं। वे आन्तरिक ज्ञान या स्वानुभूति पर आश्रित हैं और सरल जीवन व्यतीत करने का निर्देश करते हैं। वे जीवन के धार्मिक रूप पर ज़ोर देते और विश्व-व्यापी तथा मूल सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हैं। उनमें भौतिक विश्व की उपेक्षा नहीं है, परन्तु वे यह नहीं मानते कि सच्चे जीवन की यही एक सीमा या अवस्था है। एक बार जीवन की तात्विक धारणाओं और संघटन को ग्रहण कर लेने पर फिर उससे च्युत होना अज्ञान और पतन माना

जाता है। इस सिद्धान्त के कारण उनमें कुछ अनुदारता का भाव आ जाता है। अच्छे राजा, सच्चरित्र ब्राह्मण, आदर्श नीति और वर्णाश्रम इसके अंग हैं। शांति, आनन्द और मोक्ष इसके उद्देश्य हैं। अद्वैत इसका ज्ञान और अहिंसा इसकी नैतिकता है।

युरोपीय आदर्श तत्वतः लौकिक और जातीय हैं—वर्तमान काल में युरोपीय लोग बुद्धि एवं विज्ञान की उपयोगिता, भौतिक सुख और सामाजिक शांति तथा अन्वेषण, सामाजिकता एवं सुधार की भावना पर ज़ोर देते और उनका महत्व बताते हैं। उनके व्यवहार में जातिगत समृद्धि की भावना की प्रबलता, विश्व के प्रतियोगितापूर्ण जीवन से दूसरों का बहिष्करण अथवा स्वयं अपने पथ-प्रदर्शन में लाने के हेतु उन्हें बलपूर्वक पराधीन करने के भाव विद्यमान हैं। संसार में उनकी आकांक्षाएँ प्रायः आर्थिक और राजनीतिक हैं और इन्हीं बातों को वे सर्वाधिक आवश्यक बताते हैं।

भारत, विश्व की संस्कृतियों का संगम-स्थल—इस प्रकार भारत समस्त विश्व की विभिन्न संस्कृतियों पर प्रभाव डालता और उनसे स्वयं प्रभावित होता हुआ उनका संगमस्थल रहा है। किन्तु इतने पर भी उसने अपनी अनुपमता और संस्कृति को अपना ही बनाए रखा है। वह न केवल एक संस्कृति-ग्राहक केन्द्र रहा है, वरन् संस्कृति-उत्पादक और संस्कृति-प्रचारक केन्द्र भी रहा है। यह सम्भव है कि उसने एक महान् सांस्कृतिक गौरव का प्रदर्शन किया हो; किन्तु उसमें संकुचित जातिगत भावना या दूसरों की अच्छी बातें ग्रहण न करने की भावना का अभाव रहा है। जब जहाँ से ज्ञान मिला या जहाँ से आया, उसने सदैव उसे ग्रहण किया है। भारत के इतिहास में आदि से अन्त तक विभिन्न सभ्यताओं या एक ही सभ्यता की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के उपकरण मिलते हैं।

भारत ने स्वयं अपना स्वरूप स्थिर किया है—इस प्रकार भारत में, उसके दीर्घ-कालिक और बहुरंग इतिहास के मध्य एक सांस्कृतिक संमिश्रण होता रहा है और हो रहा है; किन्तु भारत मूल तत्वों की ओर अग्रसर होने में सचेष्ट है। निस्सन्देह प्रत्येक भिन्न दल ने कुछ बातों में दूसरों से कुछ लिया है या

उसकी नक़ल की है ; और इस प्रकार भौतिक एवं बौद्धिक योजनाओं में उस सीमा तक मिश्रण किया है, जिस सीमा तक वह मिश्रण विभिन्न जाति-समूहों की पूर्ण विरोधी प्रवृत्तियों का प्रकाशक न हो। वस्तुतः इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं रहा है। यह अन्तर या तो परम्परागत है अथवा परिस्थितियों के प्रभाव एवं दबाव से उत्पन्न हुआ है। हम देखते हैं कि आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक दबाव ने जीवन सम्बन्धी पुरातन दृष्टि-कोण और विचारों को बदल दिया है ; किंतु भारत ने इन विशेषताओं और उपकरणों को स्वयं अपने साँचे में ढाल लिया है ; और जो चीज़ें उसके पास आईं, उन पर उसने अपनी मुहर लगा दी है।

स्वरूप में, वेशभूषा में, चरित्र में और सब से बढ़कर विचारों में, जो कुछ भारतीय है, वह सहज ही विदेशी से अलग किया और पहचाना जा सकता है। भारत ने सब को अपने ढंग पर राष्ट्रीय या भारतीय कर लिया है। अन्यान्य सभ्यताओं एवं संस्कृतियों से उसकी सभ्यता या संस्कृति का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है जो इन सब के बीच सहज ही पहचाना जा सकता है।

भारत की प्रधान ध्वनि—इस प्रकार विभिन्न संस्कृतियों एवं धारणाओं का समन्वय करके नाम और रूप को बेधकर, उनके अन्दर प्रवेश करके चिर सत्य और सम्पूर्ण को पाने की ओर ही भारत की प्रधान प्रवृत्ति रही है। उसने सदैव अनेकता में एकता को ढूँढने की चेष्टा की है। उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण जीवन अन्दर से या तत्वतः एक है और उसके विकास के विभिन्न रूपों में एक अन्तर्भूत एकता है। परिवर्तनशील, दृश्य जगत् में सत्य या एक को प्राप्त करने के लिये उसने सदैव खोज की है। उसने अपनी स्वानुभूति या दिव्य आन्तरिक ज्ञान के द्वारा 'तत्वमसि' या 'सोऽहम्' का चिर सत्य पाया है।

विश्व-सभ्यता में भारत का स्थान अतीत काल में—भारत सब प्रकार के शिल्प, कला, विज्ञान और ज्ञान की खानि रहा है। यहीं वे बड़े बड़े ज्ञानी और कर्मशील पैदा हुए जिन्होंने उसे सदा के लिए विभूतिशाली और सभ्य बना दिया। उसके आश्रमों और विहारों में सभ्य जगत के प्रत्येक भाग से अध्यापक, विद्यार्थी और यात्री आते और अध्ययन करते थे। वह महान् धर्मों और तत्वदर्शनों, कलाओं और वस्तुओं का केन्द्र रहा है।

भविष्य—भविष्य के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है ; किन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि उसकी वेदान्त सम्बन्धी धारणाएँ, उसका विश्वव्यापी दृष्टिकोण, सत्य एवं अहिंसा के प्रति उसकी विशेष अनुरक्ति और जीवन की शांतिपूर्ण योजनाएँ सफलता प्राप्त करेंगी ; तथा उसकी दिव्य बौद्धिक एवं अंतः प्रवृत्ति दिन पर दिन अधिकाधिक अनुभवगम्य एवं सफल होगी और सब लोग उसे पसन्द करेंगे ।

जगदीशचन्द्र बसु का मत—सर जगदीशचन्द्र बसु कहते हैं—"भारतीय प्रणाली एक प्रकार के कठोर यम-दम के द्वारा मन में वह एकाग्रता उत्पन्न करती है जो सहानुभूति के लिए पथ-प्रदर्शक का काम देती है ; और भारतीय लोगों में ज्ञान या बुद्धि द्वारा शासित कल्पना की विभूति पाई जाती है । ये बातें आत्म-चिंतन की शक्ति और प्रवृत्ति को विकसित करती हैं । इस प्रकृति के द्वारा ही हिन्दुओं ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का समन्वय किया और उसके सब परिवर्तनशील रूपों में एक ही रूप देखा है ।"

आनन्दकुमार स्वामी का मत—डा० आनन्दकुमार स्वामी लिखते हैं—"भारत के पास धार्मिक तत्त्वदर्शन और सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए इस दार्शनिकता के उपयोग में उसके विश्वास से अधिक मूल्यवान् वस्तु संसार को देने के लिए नहीं है । सम्पूर्ण जीवसत्ता में एकता को निरन्तर अनुभूति करना और यह अटूट विश्वास रखना ही भारतीय अनुभव का तत्त्व है कि ऐक्यानुभूति ही सबसे बड़ी मुक्ति एवं सर्वोच्च भलाई है ।"

बहन निवेदिता का कथन—बहन निवेदिता ज़ोर देकर कहती हैं—"भारतीय इतिहास का यह एक परम सत्य है और यह हर घड़ी के अध्ययन से हमारे हृदय में दृढ़तापूर्वक अंकित हो जाता है कि भारत एक समन्वय (Synthesis) या संमिश्रण है और सदैव रहा है । चाहे कितना ही विश्लेषण—जातिगत, भाषा सम्बन्धी या भौमिक—क्यों न किया जाय, वह भारत के अध्ययन की पूर्ति नहीं कर सकता । इसका कारण शायद यह है कि एक पूर्ण वस्तु के सब खंड मिलकर उस पूर्ण के बराबर नहीं होते । अस्तु ; भारत के निर्णय के लिए जितने खंडों या अंशों का मिलना आवश्यक है, उनमें से एक और शायद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण

अंश यह है कि हम स्वयं भारत को सम्पूर्ण, सर्वनियामक और उन तत्त्वों की प्रकृति एवं भाग्य को ढालने एवं रूप देनेवाला समझें जिनके द्वारा उसका निर्माण हुआ है। यांत्रिक संघटन की प्रणाली में भारतवासियों में त्रुटि हो सकती है; किन्तु उनमें जातीयता के विचार से जीवनमय समन्वय के तत्त्वों में से किसी का अभाव नहीं है। कोई भारतीय प्रांत अकेला केवल अपने विकास का अनुगामी, अपने मार्ग पर बिना किसी चुनौती के बढ़ता जानेवाला नहीं रह सका। इसके विरुद्ध इस भूमि को एक कोने से दूसरे कोने तक एक ही लहर ने आर्द्र किया है। एक काल में एक एक करके सब प्रान्तों को भवननिर्माण विद्या, धर्म और सदाचारोत्थान में एक ही प्रेरणा में बाँध रखा है। प्रांतीय जीवन वैभवपूर्ण और व्यक्तिगत रहा है। फिर भी इन सब के ऊपर सामान्य आशाओं और सामान्य प्रेम के स्वानुभव के कारण अपने को एकता के रूप में परिणत करने की शक्ति भारत में रही है। ऐसी अवस्था में प्रतिध्वनियों और टुकड़ों की खोज के समय हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि इन सब के पीछे मातृभूमि है।"*

* Footfalls in Indian History.

परिच्छेद ४

लोकनीति के अंग

धार्म्मिक जीवन

धर्म का महत्व—धार्मिक धारणाएँ और आदर्श सदा भारतीय जीवन के प्रभावशाली अंग रहे हैं। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक, सब प्रकार के भौतिक जीवन की धारणाओं पर धार्मिक विश्वासों और संस्थाओं को प्रधानता दी जाती रही है। इस लोक और परलोक में सुन्दर और पूर्ण जीवन बिताने के सम्बन्ध में धर्म ने लोगों को अनुप्राणित किया है। यह स्वीकार किया जा चुका है कि अदृश्य शक्तियाँ मनुष्य का पथ प्रदर्शन और नियमन करती हैं तथा कभी कभी उसका विनाश भी कर देती हैं; अतः प्रकृति की इन अदृश्य शक्तियों से धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है। वह अदृश्य दैवी शक्ति के अटूट नियमों से जीवन का सामंजस्य स्थापित करने के लिये अस्तित्व धारण करता है और उनका उल्लंघन एवं भंग होने की अवस्था में पश्चात्ताप, तपस्या एवं अन्य प्रतिरोधक बातों का विधान और आदेश करता है; और इसी से जीवन इस लोक में सुन्दर और परलोक में सुखपूर्ण होता है।

इसकी सार्वदेशिक प्रधानता—मनुष्य के लिए धर्म सार्वभौमिक है। मनुष्य की विशेषताबोधक प्रकृति में यह एक मुख्य तत्व है। मनुष्य की युक्त प्रकृति उसे सृष्टि, उसकी गति एवं नियमों तथा उसकी छिपी हुई शक्तियों के सम्बन्ध में विचार करने को बाध्य करती है। धीरे धीरे वह इन अदृश्य शक्तियों को ही अपने दुःखों और पीड़ाओं का कारण समझने लगता है।

वह प्रकृति के प्रत्येक रूप में एक भयानक अथवा सुन्दर स्रष्टा या दैवी-शक्ति की कल्पना करता है। वह अनुभव करता है कि या तो उसके विधानों (Laws) के अनुसार ठीक प्रकार से जीवन बिताना चाहिए अथवा उसे भक्ति एवं पूजा द्वारा संतुष्ट और प्रसन्न रखना चाहिए। यदि उसमें स्वार्थ एवं भौतिकता का

आधिक्य होता है तो वह भय के कारण यह भक्ति करता है ; और यदि उसके मन तथा आत्मा में स्रष्टा के प्रेम और सहानुभूति का अनुभव होता है तो वह आनन्द या श्रद्धा के कारण ऐसा करता है। दुनियाँ में मनुष्य का कोई समुदाय ऐसा नहीं हुआ और न है जिसमें किसी प्रकार की धार्मिक श्रद्धा या विश्वास न हो। कतिपय व्यक्तियों ने भले ही निरीश्वरवादिता या धर्म में अश्रद्धा के भाव प्रकट किए हों, किन्तु साधारणतः सभी मनुष्यों और जातियों में धार्मिक जीवन पाया जाता है और वह मानवीय इतिहास के विकास का एक शक्तिशाली अंग रहा है। धर्म ने जीवन को—

(१) शिव अर्थात् सदाचारपूर्ण, प्रेममय, सहनशील और न्याय्य ;

(२) सुन्दर अर्थात् मनुष्य को अपने केन्द्र तथा आदर्श से च्युत स्थिति से ऊपर उठा हुआ ; और

(३) सत्य या पूर्ण अर्थात् दैवी नियमों एवं आदर्शों में सन्नद्ध बनाने की चेष्टा की है।

इसका प्रभाव—इस प्रकार समाज के जीवन को संस्कृत करने में इसका बड़ा प्रभाव है। यह सामाजिक संघटन की विधियाँ सुझाता है और यह बतलाता है कि किस प्रकार एकत्र रहना चाहिए ; किस प्रकार अच्छी तरह जीवन व्यतीत किया जा सकता है और अन्य विभिन्न समूहों के साथ तथा व्यक्तिगत रूप से कैसे रहना चाहिए, इत्यादि। यह जीवन के अन्य सभी अंगों में प्रवेश करके उनकी क्रियात्मकता और उपयोगिता पर प्रभाव डालता है। किन्तु धर्म की सबसे बड़ी उपयोगिता इस बात में है कि वह अपने अनुयायियों में आनन्द और विश्वास उत्पन्न करता है तथा दैनिक जीवन में दुःख सहकर जीवनान्तर मुक्ति प्राप्त करने का विश्वास दिलाकर उन्हें एक प्रकार की शक्ति प्रदान करता है।

इसका आधार—धर्म का आधार उन महज्जनों की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ हैं जिन्होंने अपने विश्वासानुकूल प्रत्येक वस्तु के पीछे छिपी हुई शक्ति के साथ दीर्घकालिक संयम, भक्ति और एकाग्रता द्वारा अपना सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। वे अपनी बुद्धि, भावुकता तथा इच्छा द्वारा सर्वशक्तिमान् या

समष्टि जीवन की विधियों के रहस्य समझने या हृदयङ्गम करने की चेष्टा करते हैं; और इस अनुभूति को मानव जीवन का सर्वोत्तम प्रकार, ईश्वरीय नियम अथवा दिव्यवाणी बताकर सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित करते हैं। धर्म ने अपने को नाना रूपों और विश्वासों, उपासना की विविध विधियों तथा पवित्र संकेतों और चिह्नों के रूप में व्यक्त किया है।

इसकी मुख्य धारणा– अधिकांश धर्म प्रकृति और शक्ति में एक ऐसे अपौरुषेय देवता की कल्पना करते हैं जो सृष्टि के विकास तथा मानवीय अस्तित्व एवं भलाई का नियंत्रणकर्ता है और जो मनुष्य की प्रार्थनाओं, अनुभूतियों और सत्य चेष्टाओं के अनुसार प्रसन्न होता और उनका फल देता है। लोग इसे विभिन्न नामों से अनेक रूपों में पूजते हैं, किन्तु वस्तुतः यह एक और अभिन्न, सर्वशक्तिमान्–एकमेवाद्वितीयम् अर्थात् अद्वितीय है। ये विभिन्न धर्म उसे नीति-मार्ग या भक्ति, कर्म और ज्ञान के द्वारा नाना रूपों में ग्रहण करते हैं। वे या तो सगुण रूप में उसका ध्यान करते हैं या निर्गुण रूप में समस्त वस्तुओं और रूपों में उसे व्याप्त समझ कर अथवा बिना किसी चिह्न या मूर्त्ति के ही उसका ध्यान, पूजन और अभिवंदन करते हैं। भिन्न भिन्न देशों और जलवायु में उत्पन्न एवं पले हुए उन पैगम्बरों और आत्मद्रष्टाओं की अनुभूति और भाषण में वह प्रकाशित होता है, जिनपर ईश्वरीय वाणी के प्रचार का भार है।

इसके विभिन्न मार्ग और प्रणालियाँ–धर्म के विभिन्न मार्ग और सम्प्रदाय तथा उनके दार्शनिक तत्व, ब्रह्म की अनुभूति की भिन्न भिन्न प्रणालियों पर ज़ोर देते हैं। कुछ ज्ञान मार्ग, कुछ नीति मार्ग, कुछ कर्म मार्ग, कुछ भक्ति मार्ग, कुछ अखिल भूतरत सहानुभूति और सेवा मार्ग और कुछ आत्मसंयम एवं नियम अथवा योग मार्ग को मोक्ष का साधन बताते हैं।

इसके अध्ययन की विधि–किसी जाति के विकास की विभिन्न अवस्थाओं और अंगों पर ध्यान रखते हुए ऐतिहासिक दृष्टि से, उसके आदर्शों, उपयोगिताओं और तथ्यों का विवेचन करते हुए दार्शनिक दृष्टि से, अन्य जातियों के साथ उसकी समानताओं और भिन्नताओं का ध्यान रखकर तुलनात्मक दृष्टि से तथा उस जाति के सदाचारिक, व्यक्तिगत एवं सौन्दर्य

सम्बन्धी जीवन पर पड़नेवाले उसके प्रभाव का विचार रखकर सामाजिक दृष्टि से किसी जाति के धार्मिक जीवन का अध्ययन किया जा सकता है।

अब हम भारत के धार्मिक जीवन के अध्ययन के इन सब अंगों का संक्षेप में कुछ निरूपण करना चाहते हैं।

१—हिन्दू धर्म

हिन्दू धर्म सब से प्राचीन है—हिन्दू धर्म संसार में सब से प्राचीन जीवित धर्म है। इसका आरम्भ उस समय से होता है जब आर्यगण सप्तसिन्धु प्रान्त में निश्चित रूप से बस गये थे अथवा उसके भी बहुत पहले जब वे अपने सुदूर उत्तर के देश में रहते थे या जब भारत की ओर बढ़ रहे थे। इस धर्म के विकास का कोई निश्चित काल बताना कठिन है। किन्तु इतना अवश्य है कि यह ईसवी सन् के दो हज़ार वर्ष से और भी पहले का है।

यह एक बड़ा धर्म है—अनुयायियों की संख्या की दृष्टि से भी यह बहुत बड़े धर्मों में से एक है। इसके क्षेत्र में २४ चौबीस करोड़ आदमी हैं। यद्यपि इस समय यह अन्य धर्मावलम्बियों को अपने में मिलानेवाला धर्म नहीं रह गया है, पर फिर भी प्राकृतिक विकास और अन्त्यज जातियों के क्रमिक संग्रहण द्वारा इसकी संख्या धीरे धीरे बढ़ रही है। परन्तु जन संख्या सम्बन्धी सरकारी रिपोर्टों को देखने से पता चलता है कि आरोहात्मक और धर्म परिवर्तन द्वारा दूसरों को अपने में मिलानेवाली मुसलमान और ईसाई जातियों की संख्या-वृद्धि के सामने इसकी शक्ति धीरे धीरे कम होती जा रही है।

प्रारम्भिक अवस्था (वैदिक काल)

एक महान् धर्म—हिन्दू धर्म की व्याख्या करना सरल नहीं है। यह सब से महान् धर्मों में से एक है। केवल विस्तारपूर्वक ही इसका वर्णन किया जा सकता है।

इसकी मुख्य धारणा—इसके रूप, विश्वास, उद्देश्य और उपासना की विधियाँ नाना प्रकार की हैं। इन सब भेदों के होते हुए भी—'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'—"ब्रह्म" नामधारी एक दैवी आत्मा में उसका विश्वास है। यह ब्रह्म सर्वव्यापी समझा जाता है और नाना रूपों में नाना प्रकार से इसकी

उपासना की जा सकती है। वेद इसका सर्वमान्य ग्रंथ है। यह ज्ञान वेदों में प्रकट हुआ है। यह वेद नित्य और दैवी अथवा सर्वात्मा द्वारा प्रकाशित किए हुए समझे जाते हैं। उन्हें ध्रुव और अपौरुषेय माना जाता है। उनके मंत्रों में सदाचारिक और आध्यात्मिक सत्य निहित हैं। ये मंत्र दैवी प्रेरणावाली भाषा में प्रकट हुए हैं और इनका अनुभव उन ऋषियों ने किया था जो सर्वात्मा के संस्पर्श में थे। किन्तु इन नित्य सत्यों के अतिरिक्त वेदों में व्यक्तिगत आवश्यकताओं, कामनाओं, निन्दा, शाप, प्रशंसा और इतिहास के सम्बन्ध में भी ऐसे अनेक विवरण मिलते हैं जो नित्यसत्य में नहीं गिने जा सकते, वरन् पौरुषेय प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसी अवस्था में वेदों को हम आंशिक अपौरुषेय और आंशिक पौरुषेय मान सकते हैं। हिन्दू उन्हें सामाजिक या धार्मिक विषयों में प्रमाण ग्रंथ या मूल निर्णायक मानते हैं। वे आत्मद्रष्टा (द्रष्टारः) ऋषियों द्वारा सुने गए (श्रुत) थे; और कण्ठस्थ करके संरक्षित किये जाते थे। इस प्रकार भिन्न भिन्न कुटुम्बों में विभिन्न शाखाओं के रूप में उनका प्रचार हुआ था।

वेद क्या है?—वेद का अर्थ ज्ञान अथवा पवित्र ग्रंथ है। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नामक चार वेद हैं। इनमें देवताओं की प्रार्थनाओं में प्रयुक्त ऋचाएँ तथा श्रौत एवं गृह्य नामक बलिदानों और यज्ञों से सम्बन्ध रखनेवाले धार्मिक कृत्यों के मंत्र हैं। हिन्दुओं के अधिकांश पवित्र एवं धार्मिक कृत्य इन्हीं की सहायता से किये जाते हैं।

वैदिक देवताओं का स्वरूप—वेदों में जिन देवताओं की पूजा का उल्लेख है, वे प्रकृति की मूर्तिमती शक्तियाँ हैं। अनेक मंत्रों और ऋचाओं में उनसे युद्ध में सफलता और शांति में वैभव पाने की प्रार्थना की गई है।

ऋग्वेद और उसके देवता- ऋग्वेद में ३३ विभिन्न देवताओं की प्रार्थनाएँ हैं। इन देवताओं को हम आकाश के देव, मध्य स्थान के देव और पृथ्वी-देवता, इन तीन भागों में बाँट सकते हैं। यास्क के अनुसार द्युस्थानवाले देवता स्वर्ग के, अन्तरिक्षस्थान अथवा मध्यमस्थानवाले माध्यमिक (या वायु सम्बन्धी) और पृथ्वीस्थानवाले मर्त्य के देवता हैं। ऋग्वेद (१।१३६।११) में कहा है—"देवगण, जिनमें से ग्यारह स्वर्ग में, ग्यारह पृथ्वी पर और ग्यारह

वैभव के साथ मध्यवायु में निवास करते हैं, हमारी बलि—हमारे यज्ञ—से प्रसन्न हों।"

अध्ययन से जान पड़ता है कि सूर्य स्वर्ग में, वायु या इन्द्र वायु में और अग्नि पृथ्वी में, इस प्रकार वस्तुतः ये तीन ही देवता हैं और इनमें से प्रत्येक की एक एक लोक में प्रधानता है। ऋग्वेद (१०। १५८। १) में हमें लिखा मिलता है—"सूर्य हमें स्वर्ग से, वात वायु से और अग्नि पृथ्वी से बचाएँ।" इन तीनों देवताओं में से प्रत्येक के विभिन्न कार्यों के अनुसार कई नाम हैं तथा अन्य देवता उनके सहायक हैं।

तेंतिस देवताओं में अष्ट (८) वसु, एकादश (११) रुद्र, द्वादश (१२) आदित्य, द्यौ और पृथ्वी हैं।

वस्तुतः केवल एक देवता—इस प्रकार हम देखते हैं कि एक से तीन देवता होते हैं (ऋ०। १। १६४। ४६) और फिर तीन से तेंतीस और तब तेंतीस करोड़ अर्थात् असंख्य हो जाते हैं। इसमें भाव यह है कि देवता एक ही है, किन्तु वह असंख्य रूपों में दिखाई पड़ता है। जैसा कि कहा गया है—"एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति"। इस एक देवता को प्रजापति कहा गया है, जो केवल सब देवताओं से श्रेष्ठ ही नहीं है, वरन् सबमें व्याप्त भी है।

(१) द्युस्थान के देवता निम्नलिखित हैं—

सूर्य अपने अनेक रूपों में, जैसे,—सूर्य (प्रकाशमान), सवितर (प्रकाशित-करनेवाला), भाग (कल्याण करने तथा आशीर्वाद देनेवाला), विष्णु (सम्पूर्ण विश्व को तीव्र और व्यापक गति से अतिक्रम करनेवाला), मित्र एवं पूषण (जो सूर्य की लाभकारी शक्तियाँ हैं), द्यौ (प्रकाशमान् आकाश), उषा तथा वरुण जो स्वर्ग के बहिरावण में सिंहासनासीन हैं। यह वरुण वस्तुतः चमकते हुए नीलाकाश की साकार कल्पना है। कहीं कहीं सर्वोच्च देवता या महादेव, ऋत या सृष्टि की सदाचारिक व्यवस्था के संचालक, स्वर्ग के नियामक, सूर्य एवं उषा के स्रष्टा और मनुष्य के कार्यों के निरीक्षक तथा बुरे कार्य करनेवाले के दण्ड-दाता के रूप में भी उसकी कल्पना की गई है।

(२) अन्तरिक्षस्थान के देवता ये हैं—

इन्द्र जो अन्धकार के असुरों (वृत्र) से युद्ध करता है और वर्षा करता अथवा जीवनोपयोगी जल देता है। कभी कभी सर्वप्रधान देवता के रूप में भी उसका वर्णन आता है और इन स्थानों पर वह सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, देवेन्द्र तथा विद्युज्जनक बताया गया है। मरुत् (तूफानी मेघ), रुद्र (संहारक अथवा प्रकृति का भयंकर अंग), वायु (हवा), अपस् (जल) तथा पर्जन्य (वर्षा) इस लोक के अन्य देवता हैं।

(३) पृथ्वीस्थान या मर्त्यलोक के देवता ये हैं—

अग्नि, जिसकी ऋग्वेद में प्रायः स्तुति की गई है। उससे सर्व प्रधान देव ब्रह्म के प्रकाश की धारणा तथा आभास होता है। अग्नि के द्वारा ही अन्य सब देवताओं की उपासना की जाती थी। देवताओं को बलि भी उसी के द्वारा भेंट की जाती थी। वह यज्ञ का पुरोहित समझा जाता था। सोम (एक जीवन-दायक वनस्पति) और पृथ्वी इस लोक के अन्य देवता हैं।

अश्विन, आदित्य, वसु, ऋभु तथा विश्वेदेवा इत्यादि गण देवता हैं। कतिपय स्त्री-देवता या देवियाँ भी हैं, जैसे—उषा, पृथ्वी और अपस्। कुल देवताओं की पत्नियाँ हैं। जैसे—इन्द्राणी, वरुणानी, आग्नेयी, रात्रि, अरण्यानी और अश्विनी। कुछ ऐसे देवता भी हैं जिनकी निराकार कल्पना है। ये साकार या भौतिक देवता नहीं हैं। जैसे—प्रजापति, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, गणपति, धातर, मातर, विश्वकर्मा।

वैदिक विचार धारा—"प्रकाश (ज्ञान) तथा मानवीय सुख और कल्याण की ओर अग्रसर करनेवाले प्रत्येक पदार्थ के प्रति स्वाभाविक प्रेम ही मुकुलित आर्य विचार धारा की विशेषता थी। बच्चों की भाँति वे प्रकाश (ज्ञान) के लिए व्यग्र रहते तथा अन्धकार (अज्ञान) से भागते थे। स्वर्ग का चमकता हुआ नील विस्तार (द्यौ), हरित क्षेत्रों, वनस्पतियों तथा धारावाहिनी नदियों की सूर्य-प्रकाश से प्रकाशित भूमि (पृथ्वी), उज्वल और प्रकाशमान् रवि (सूर्य) सूर्योदय के पूर्व की सुन्दर उषा, उषा-दर्शन के जरा पहले पूर्वीय क्षितिज पर अपनी अभिव्यक्ति के लिए अंधकार के साथ युद्ध करता हुआ झिलमिला प्रकाश (अश्विन्), छोटे छोटे अगणित तारों से भरा हुआ रात्रि का

आकाश (वरुण), अंधकार को दूर करनेवाली उज्ज्वल अग्नि, आकाश में चंचला बिजली, रात्रि में स्वर्ग की शोभा बढ़ानेवाला प्रकाशमान चंद्रमा, समुद्र में जल का तेजोमय विस्तार (वरुण), नदियों में बहता हुआ जीवनदायक जल, स्वर्ग से होनेवाली शीतल वर्षा, जिसके कारण अन्न और घास उत्पन्न एवं वनस्पतियाँ विकसित होती हैं (अप्), शीतल, मंद, सुगंध समीर के झोंके जो दमनकारी उत्ताप का प्रभाव कम कर देते हैं (वायु), वर्षारंभ के साथ आनेवाले तूफान (मरुत्), जलद् पटल को फाड़ कर पृथ्वी पर वर्षा लाने तथा कानों के परदे फाड़नेवाली भयंकर गरज (इन्द्र-वज्र), सोम रस का स्फूर्तिदायक पान, पर्वतों से पीने का शुद्ध जल लानेवाली नदियाँ आदि इन सब प्राकृतिक दृश्यों और वस्तुओं ने प्राचीन आर्यों के संवेदनशील मन पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला था। वे आर्यगण विश्वास करते थे कि ये प्राकृतिक वस्तुएँ जीवन और ज्ञान से अभिभूत हैं ; और यदि भक्ति तथा मनुष्यता की भावना से इनको ग्रहण किया जाय तो इनमें एक कल्याणकारी शक्ति भी मिलेगी। वे समझते थे कि प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु अपने अन्दर रहनेवाली एक तात्विक शक्ति द्वारा शासित होती है। इस शक्ति को ही वे देव या देवता के नाम से पुकारते थे। समुचित गीतों और स्तवों से उनको प्रसन्न करने की चेष्टा की जाती थी। पीछे किसी अच्छे कार्य में सफलता प्रदान करने के लिए उपासकों की ओर से देवताओं को बलि भी दी जाने लगी और यज्ञ किये जाने लगे।"

('ऋग्वेदिक इंडिया' ए सी दास)

वैदिक देवताओं की विशेषताएँ-- वैदिक देवता उज्ज्वल, कल्याणकारी, उदार तथा शक्तिमान् हैं, बुराई चेतनेवाले या शरारती नहीं। इनमें से प्रत्येक की अलग अलग विशेषताएँ थीं। प्रत्येक का कार्य एक दूसरे से भिन्न था। उनका जो वर्णन किया गया है, उससे मालूम होता है कि उनके अनेक अंग मनुष्यों जैसे थे। वे दैवी मानव थे। इनमें से बहुतेरे एक ही देवता के रूप में व्यक्त किये गये हैं और प्रत्येक को महान् भी कहा गया है। उदाहरणार्थ—सूर्य को 'चराचर जगत की आत्मा' (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च) कहा गया है और इन्द्र, मित्र, वरुण तथा अग्नि के साथ उसकी एकता स्थापित की गई है। वेद

में कहा है—"वे उसे (सूर्य को) इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि नाम से पुकारते हैं और वह स्वर्गीय तथा सुन्दर पंखोंवाला है। वह एक है, ऋषिगण उसे अनेक नाम देते हैं। वे उसे अग्नि, यम तथा मातरिश्वन् इत्यादि नामों से पुकारते हैं"। (ऋग्वेद १।१६४।४६)। इस प्रकार कवि कहता है कि ये सब एक ही दैवी आत्मा, अनेक-स्फुरित एक ही महान् आत्मा के नाम हैं। सूर्य के सम्बन्ध में यह भी लिखा है—'वह एक महान् आत्मा है (एकैव वा महन् आत्मा देवता सूर्य)। अग्नि का भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। उसे 'देवता' कहा गया है। एक स्थल पर लिखा है—"अग्नि जब उत्पन्न होता है तब वरुण है; और जब वह प्रकाशित होता है, तब मित्र है।" (ऋक् ५।३।१) आगे फिर उसके विषय में लिखा है—"अनेक प्रकार से प्रकाशित होने पर भी अग्नि एक है; एक सूर्य रूप है, जो सब से महान् है; एक उषा है जो सब को प्रकाशित करती है; एक वह है जो सब हो गया है।" (एकं वै इदं वै बभूव सर्वम्)। (ऋक् ८।५८।२)

अनेकता के मूल में एकता—इस प्रकार ऋग्वैदिक ऋषियों ने अनेकता में एकता की अनुभूति की थी। वे स्थूल प्रकृति के विभिन्न अंगों के उपासक मात्र नहीं थे, वरन् उन्हें सच्चिदानन्द आत्मा या सर्वव्यापी एवं सब के अन्दर निहित एक महान् शक्ति के अनेक रूप मानकर विभिन्न नामों से उसकी उपासना करते थे। उनकी धारणा थी कि उस एक सर्वात्मा ने ही अपने को सूर्य, आकाश, पृथ्वी, मरुत्, अग्नि, इन्द्र, वरुण, उषा, एवं रुद्र इत्यादि अनेक रूपों में प्रकाशित किया है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में प्रजापति, विश्वकर्मा, पुरुष, परमात्मा अथवा वाक् के जो वर्णन मिलते हैं, उनसे यह धारणा बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। सब कुछ इसी सर्व महान् आत्मा से स्वयं उसके द्वारा उत्पन्न हुआ है।

इस प्रकार स्रष्टा और सृष्टि की अनादि और अनन्त धारणा को आर्यों के मन में स्थान मिला था।

मनुष्य और प्रकृति की एकता पर भी ज़ोर दिया गया था। ईश्वर की अनेकता केवल बाह्य है। वस्तुतः ईश्वर एक ही है, जो सर्वत्र विद्यमान है। इस प्रकार केवल सब से महान् देवता या ईश्वर की ही कल्पना नहीं की गई है, वरन्

एक स्थिर सार्वभौमिक नियम का भी वर्णन किया गया है जिसके अनुसार देवता और सृष्टि का निर्माण हुआ था। इस नियमबद्ध चक्र को 'ऋत' कहते हैं। 'ऋत' उसी ब्रह्म से उत्पन्न होकर समस्त जगत् का नियमन, पालन और शासन करता है। वह सूर्य, चन्द्र, उषा, वायु, वर्ष, दिन, रात, ऋतु तथा नक्षत्रों की गतिविधि एवं मार्ग निश्चित करता तथा समस्त जीव-जगत, प्राणी और वनस्पति की सृष्टि, विकास तथा विनाश को नियमित करता है।

वैदिक प्रार्थना—गायत्री—अन्य प्रार्थनाएँ तो थीं ही, पर आर्यों की सब से प्रधान प्रार्थना सावित्री या गायत्री थी। आज भी उसका स्थान अच्युत है। प्रातः काल, दोपहर और संध्या को ध्यान एवं उपासना के लिए यही मंत्र ठीक और उपयुक्त समझा गया था। भगवान् सवितर के प्रधान स्तव के रूप में प्रत्येक द्विज को उसका पाठ करना पड़ता था। इसका यह आशय था—"हम दैवी विकास के पूजनीय वैभव (प्रकाश) का ध्यान करते हैं, वह अपनी शक्तियों को बल दे"। (ऋक् ३।६२।१०)

वैदिक यज्ञ—वैदिक धर्म का एक दूसरा अंग भी है जो उसकी यज्ञ प्रथा में मूर्तिमान है। पीछे कर्मकाण्ड के नाम से इस प्रथा को बहुत ही संश्लिष्ट और सूक्ष्म रूप दिया गया था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कर्मकाण्ड का विस्तृत विवरण और विश्लेषण मिलता है। ये यज्ञ दैनिक, पाक्षिक, मासिक, ऋतु काल में, एवं वार्षिक होते थे तथा प्रत्येक महत्वपूर्ण अवसर पर और विशेषतः द्विजों के जन्म, अन्नप्राशन, मुण्डन, उपनयन, विवाह, गर्भाधान, अन्त्येष्टि तथा अन्य संस्कारों के समय किये जाते थे।

इनका उद्देश्य—ये यज्ञ किसी विशेष कामना की सिद्धि या इहलोक तथा परलोक के सुख की इच्छा से अग्नि की सहायता द्वारा एक अदृश्य देवता की प्रसन्नता सम्पादित करने के लिए किये जाते थे। जो वस्तुएँ मूल्यवान्, प्रिय और उपयोगी होती थीं, उन्हीं की यज्ञ में बलि देते थे। उदाहरणार्थ कुछ पशु अथवा उन पशुओं से उत्पन्न चीज़ें—जैसे, घी, दूध इत्यादि—तथा पृथ्वी से उत्पन्न अन्न और सोम इत्यादि वस्तुएँ। आर्य लोग इन वस्तुओं की बलि इसलिए देते थे कि उनके देवता उस नित्य युद्ध में अधिक शक्तिमान् हों जो उनके

तथा जगत् को गिरानेवाली एवं कल्याणकारी शक्तियों के बीच हो रहा है।

अग्नि साधन या द्वार है—अग्नि को, जिसकी ज्योति और प्रकाश पृथ्वी पर सूर्य का प्रतिनिधित्व करनेवाला ज्ञात हुआ, देवताओं का मुख या उनके समीप तक मनुष्य द्वारा दी गई बलि पहुँचानेवाला तथा पृथ्वी पर एक बड़ा देवता समझा गया। पुरोडाश की (भोज्य) बलि तथा घी एवं सोम की (पेय एवं तरल) बलि या हव्य अग्नि के द्वारा ही देवताओं को देने का नियम था।

इसलिए अग्नि की धीरे धीरे घर के देवता या गृहपति के रूप में प्रतिष्ठा हुई। वह दैवी यज्ञ-पुरोहित तथा मनुष्य और देवताओं के बीच उन्हें मिलानेवाली शृङ्खला है। वैदिक काल में सपत्नीक प्रत्येक गृहस्थ अग्नि के द्वारा नित्य देवताओं को बलि चढ़ाता या यज्ञ करता था। आग कभी न बुझे, इसके लिए बराबर यज्ञ-काष्ठ के टुकड़े या समिधा और घी एवं दूध जलाकर उसे सदैव प्रज्वलित रखा जाता था। धारणा यह थी कि ऐसा करने से गृह शुद्ध होगा और असुर एवं राक्षस दूर हो जायँगे।

गृह्य और श्रौत यज्ञ—यजुर्वेद में निरूपित इन गृह्य और श्रौत (सार्वजनिक) यज्ञों का पीछे के ब्राह्मण ग्रंथों एवं गृह्य तथा श्रौत सूत्रों में खूब विस्तार एवं व्याख्या की गई। इस काल में ये यज्ञ एक विशेष श्रेणी के ऐसे पुरोहितों की सहायता से किये जाने लगे जिन्होंने उनका विशेष ज्ञान प्राप्त किया था। गृह्य यज्ञों का सम्बन्ध घर के षोडश संस्कारों अथवा सार्वजनिक हित के कार्यों—जैसे, नूतन सरोवरों और मन्दिरों के दान—से है। श्रौत यज्ञों में अग्निहोत्र, पशुयाग, इष्टयाग, अग्निष्टोम, सोमयाग, अश्वमेध, राजसूय तथा वाजपेय इत्यादि हैं।

पिछले काल में याज्ञिक प्रथा, कर्मकाण्ड तथा पौरोहित्य की वृद्धि—इस प्रकार आर्य लोग देवताओं की प्रसन्नता तथा मर्यादा और वैभव की प्राप्ति के उद्देश्य से पूजा की विधि के रूप में स्तव और यज्ञ दोनों करते थे। किन्तु पीछे यज्ञ की प्रथा का विस्तार और इस प्रथा के अंधानुसरण से उत्पन्न अनीति एवं अत्याचार बढ़ गये; पुरोहितों के महत्व और शक्ति में वृद्धि हुई और समाज

ने जीवन का उज्ज्वल, प्राणदायक और गतिशील दृष्टिकोण छोड़ कर भार स्वरूप जड़ और विनाशकारी दृष्टिकोण ग्रहण कर लिया। सम्पूर्ण जीवन-शक्ति एक स्थिर अवस्था में पड़ कर आध्यात्मिक मर्यादा और सामाजिक संघटन की एक अपरिवर्तनशील धारणा में बँध गई, जिसके फलस्वरूप उसका ह्रास हुआ।

इस अवस्था के विरुद्ध दार्शनिक प्रतिक्रिया; उपनिषद् के सिद्धांतों का विकाश—पीछे कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञ और आचार सम्बन्धी अत्यधिक झुकाव के विरुद्ध दार्शनिक प्रतिक्रिया का आरंभ हुआ। आध्यात्मिक विचारों का अनुशीलन होने लगा। फलस्वरूप जीवात्मा एवं ब्रह्म सम्बन्धी कल्पना का विकास हुआ। इसे ज्ञान मार्ग कहते हैं। यद्यपि ऋग्वेद के दशम मण्डल में ज्ञान मार्ग सम्बन्धी धारणाओं के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं, किन्तु सच पूछिए तो भारतीय जीवन और विचार-जगत् में यही पहली धार्मिक क्रांति थी।

तीन मार्ग—इस प्रकार पहले प्राथमिक वेद मार्ग या प्रार्थना विधि का जन्म हुआ; फिर कर्म मार्ग या यज्ञ तथा अन्य आचारिक विधियों की उत्पत्ति एवं वृद्धि हुई; और उनके बाद ज्ञान मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में इन सब बातों का वर्णन एवं विवेचन मिलता है।

पीछे कर्ममार्गियों द्वारा मीमांसा, ज्ञानमार्गियों द्वारा वेदान्तवाद तथा वेदमार्गियों द्वारा भक्तिवाद का विकास हुआ।

वैदिक संस्कृति की प्रकृति—आरंभिक वैदिक हिन्दुत्व ने जीवन और जगत् सम्बन्धी अपनी व्यापक एवं उज्ज्वल धारणाओं द्वारा भौतिक, आचारिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से एक कल्याणकारी सांसारिक सभ्यता का विकास किया था। हिन्दू इस संसार में अपना जीवन सुखी और सुन्दर बनाना चाहते थे। वे अपने देवताओं से सौ वर्ष की दीर्घ आयु की प्रार्थना करते थे। उन्होंने कृषि की उन्नति की, पशुओं आदि की वृद्धि की, एवं उनसे उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं का उपयोग किया तथा नाना प्रकार के उद्योग धन्धों, कलाओं एवं व्यापारों का अभ्यास किया। वे शत्रुओं तथा विदेशियों से लड़ने के लिए सदैव अपने कवच एवं शस्त्रास्त्र प्रस्तुत तथा स्वच्छ रखते थे। किन्तु इन सांसारिक बातों के साथ ही

जीवन की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की ओर भी उनका ध्यान था, जिसकी तृष्णा उन्होंने ईश्वर तथा जीवन एवं प्रकृति की एकता सम्बन्धी उच्च धारणाओं का विकास कर के मिटाई थी । उन्होंने संयम तथा संयम-भंग की अवस्था में पश्चात्ताप एवं दंड से सम्बन्ध रखनेवाले नियम भी बनाये थे । ये नियम धार्मिक तथा नागरिक जीवन में उन्हें सन्मार्ग पर प्रेरित करते थे । इन हिन्दुओं का सामाजिक संघटन अनुदार एवं रूढ़िमय नहीं वरन् स्वतंत्र तथा उदार था । समाज विचारों में ग्रहणशील तथा कार्य में प्रदानशील था । व्यक्तियों को भौतिक एवं बौद्धिक उन्नति करने के अनेक सुभीते थे । वैदिक हिन्दू या आर्य पुरुषार्थ या कर्म में विश्वास रखते थे और उन्होंने अपनी आवश्यकताओं एवं आदर्शों के अनुसार ही अपने सांसारिक जीवन की रचना की थी ।

द्वितीय अवस्था (ब्राह्मण काल)

यज्ञों एवं पुरोहितों के महत्व का विकास—ब्राह्मण काल (ईसवी सन् के १००० वर्ष पूर्व से ८०० वर्ष पूर्व तक) में यज्ञ की जटिल एवं विस्तृत विधियों का महत्व बढ़ गया और पौरोहित्य की प्रधानता हुई । यज्ञ सम्बन्धी विभिन्न कार्यों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के पुरोहितों की योजना की गई । यज्ञ कार्य में यजमान की सहायता करना इनका कार्य्य था । इनमें ऋग्वैदिक मंत्रोच्चार द्वारा देवताओं का आह्वान करनेवाले 'होता' अग्नि को आहुति देनेवाले अध्वर्यु तथा यजुर्वैदिक मंत्रों के अनुसार यज्ञ के लिए आवश्यक हव्य तैयार करनेवाले अध्वर्यु, साम मंत्रों का गान करनेवाले उद्गाता और प्रधान ऋत्विक या पुरोहित, जो सब के कार्य का निरीक्षण करते थे, ब्रह्मा कहलाते थे ।

ब्राह्मण ग्रन्थ—अपनी मर्यादा में उन्नत एवं देव तुल्य इन पुरोहितों के मार्ग-प्रदर्शन के निमित्त यज्ञ सम्बन्धी विधियों का ब्राह्मण ग्रंथों में ठीक ठीक उल्लेख किया गया । यज्ञ पर उस समय इतना ज़ोर दिया जाता था कि शत्पथ ब्राह्मण (१२, ३२८) में लिखा है—"यदि पुरोहित ने यज्ञ नहीं किया तो निश्चय ही सूर्य उदित नहीं होंगे ।" इस प्रकार जो यज्ञ अभी तक केवल देवताओं को भेंट चढ़ाने के लिए होता था, वह अब देवताओं तथा पितरों के पोषण का

एक साधन बन गया और कुछ समय बाद देवताओं से वर प्राप्त करने का भी उपाय मान लिया गया।

यज्ञ से मुक्ति—इन यज्ञों में एक मुख्य यज्ञ अश्वमेध भी था जिसमें प्रधान बलि-जीव घोड़ा होता था। इस यज्ञ की पूर्त्ति में एक वर्ष का समय लगता था। प्रारम्भ में ही विधिवत् ६०६ पशुओं की बलि दी जाती थी। (S. B. E. 44. 13) ऐसा विश्वास किया जाता था कि शब्द, स्वर एवं मंत्र द्वारा ठीक तरह से यज्ञ क्रिया करने पर एक अपूर्व गुण एवं आध्यात्मिक मर्यादा की प्राप्ति होती है और एक अदृश्य शक्ति मिलती है। लिखा है—"जो कोई अश्वमेध यज्ञ करता है, उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण होती हैं और वह सर्व सिद्धियाँ प्राप्त करता है" (S. B. E. ४४. ३४७)। यज्ञ प्रत्येक बात का उपाय या साधन समझा जाता था। "जो अश्वमेध करता है, वह सब बातों से मुक्त हो जाता है।" इस प्रकार पुरोहितों द्वारा सम्पादित होने-वाले यज्ञों से मुक्ति प्राप्त होना भी माना जाता था। पुरोहितों और यज्ञों की शक्ति के सामने देवता भी गौण हो गये। इस काल में पहली बार गोमांस-भक्षण सम्बन्धी प्रतिबन्ध मिलते हैं (S. B. E. २६. ११)। ब्राह्मण ग्रन्थों में अव-तार सम्बन्धी धारणा का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

तीसरी अवस्था (उपनिषद् काल)

सत् ज्ञान पर ज़ोर—उपनिषदों ने ऋग्वेद के दशम मण्डल की परमात्मा, पुरुष या आत्मा एवं जगत सम्बन्धी भावनाओं को विकसित किया। उपनिषद् हिन्दू विचार-धारा को एक नई दिशा में प्रवृत्त करते हैं। वे विद्या या सत् ज्ञान पर ज़ोर देते हैं जिसके द्वारा ब्रह्म में विलीन होकर मनुष्य परमानन्द प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो ब्राह्मण ग्रंथों की अत्यधिक आचारिकता या कर्मकाण्ड—जिसमें पशु बलि एवं बाह्य विडम्बनाओं ने मनुष्य के मन पर अधिकार करके उसे ईश्वर के ज्ञान से विमुख कर दिया था—के विरुद्ध प्रकार की प्रतिक्रिया थी। दूसरे जगत् के आन्तरिक और अन्तिम सम्बन्ध का उल्लेख किया गया था एवं मनुष्य की मुक्ति तथा सर्वात्मा के साथ उसके मिल जाने का आदर्श निरूपित करके उस पर चलने की चेष्टा की गई थी।

भौतिक काममाओं की सिद्धि और बौद्धिक आनन्द की प्राप्ति ही इसका उद्देश्य नहीं था; सब वासनाओं के त्याग की ऊँची अवस्था में सर्वोच्च एवं दिव्य आनन्द की उपलब्धि ही इष्ट थी। मनुष्य अपनी आत्मा के बल से ही अपना विकास करने और शक्तिमान् होने की चेष्टा करता था, किसी बाहरी शक्ति या कामना की सिद्धि के द्वारा नहीं। आचार-विधियाँ और रस्में न थीं; उनकी जगह नित्य (सर्वात्मा) के साथ एक हो जाने की परम इच्छा और एकाग्रता थी।

मनुष्य ही ईश्वर है—वैदिक ऋचाओं में मनुष्य भय या आनन्द के कारण देवताओं की प्रार्थना करता है। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञों द्वारा वह देवताओं से भी ऊँचा उठता है, पर फिर भी प्रधान देवता (ईश्वर) से उसे भय है। उपनिषद् में वह देवताओं पर कोई ध्यान नहीं देता और स्वयं ईश्वर हो जाता है।

ब्रह्म एक तथ्य है; उसकी अनुभूति द्वारा मुक्ति—उपनिषद् के ये तत्त्व महान् ऋषियों ने अपने वनाश्रमों में विकसित किये थे और अपने पुत्रों, स्त्रियों तथा शिष्यों को उनका ज्ञान कराया था। सम्पूर्ण वैदिक देवता एक महान् आत्मा की विभिन्न अभिव्यक्तियों के रूप में ग्रहण किये गये थे। इस महान् आत्मा का ही नाम ब्रह्म था; वह सर्वमय, सर्वोच्च तथा सर्वशक्तिमान माना गया है। वह सम्पूर्ण, असीम, नित्य और सर्वव्यापक है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह एक सत्य है। प्रत्येक मानवात्मा को यह जानना चाहिए कि वह अन्त में विश्वात्मा में विलीन हो जायगा। इस प्रकार जो जान लेता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' (अहम् ब्रह्मास्मि), वह सम्पूर्ण हो जाता है। देवता भी उसे ऐसा हो जाने से नहीं रोक सकते; क्योंकि वह स्वयं उनकी आत्मा बन जाता है।

महर्षि याज्ञवल्क्य सर्वोच्च सत्य के सम्बन्ध में कहते हैं—"हे गार्गी! ब्राह्मण इसे 'अक्षरं' (कभी नष्ट न होनेवाला) कहते हैं। यह न भद्दा है न अच्छा है; न छोटा है, न लम्बा है; न लाल है, न तरल है; इसमें छाया नहीं, राग नहीं, स्वाद नहीं, गंध नहीं। इसे आँख नहीं, कान नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं। यह प्रकाशहीन, श्वासहीन, मुखहीन और परिणामहीन है। इसका अन्दर बाहर नहीं होता। यह न किसी वस्तु को नष्ट करता है और न इसे कोई वस्तु नष्ट कर सकती है।"

इस ज्ञान मार्ग को व्यवहार में यम-नियम सम्बन्धी योग की प्रणालियों से सहायता मिलती है जिनके द्वारा इन्द्रियों को वशीभूत, चित्त को एकाग्र एवं श्वास को रोक कर प्राणायाम विधि से अपने ही 'स्व' में अन्तर्हित ब्रह्म का ध्यान करने का अभ्यास किया जाता है।

चौथी अवस्था (स्मृति-काल)

जन साधारण के लिए नियम-बद्धता और संघटित जीवन की आवश्यकता—यह सब तो था, किन्तु यह आध्यात्मिक मार्ग केवल उन थोड़े से लोगों के लिए ही सुबोध एवं लभ्य था जो अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर विश्वात्मा का ध्यान और अनुभूति कर सकते थे तथा इस विधि से सांसारिक अस्तित्व के बन्धनों से मुक्त हो सकते थे।

जन साधारण के लिए तो व्यक्तिगत नियम-बद्धता और प्रतिरोधक नियमों, उनकी भौतिक आवश्यकताओं एवं मनोवैज्ञानिक विकास के अनुकूल एक सामाजिक संघटन और संतोषप्रद तथा प्राप्य कामनाओं एवं लक्ष्यों की श्रेणीबद्ध व्यवस्था का निर्माण एवं निर्णय होना आवश्यक था। इसलिए तदनुकूल नियम और व्यवस्थाएँ बनीं। ये व्यवस्थाएँ और नियम, शिक्षा तथा गार्हस्थ जीवन से क्रमशः निवृत्ति (वाणप्रस्थ) और अन्त में संसार-त्याग (संन्यास) द्वारा जन-साधारण को सन्मार्ग पर अग्रसर करते और ऊँचे आध्यात्मिक जीवन के योग्य बनाते थे।

महान् स्मृतिकार तथा स्मृतियाँ—यह महत्वपूर्ण कार्य स्मृतिकारों ने किया। उन्होंने अपनी स्मृतियों में सदाचारी ब्राह्मण, राजा-प्रजा, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के लिए उनके व्यक्तिगत और सार्वजनिक व्यवहार के सम्बन्ध में उचित एवं उपयुक्त नियम बनाये। उन्होंने केवल चातुर्वर्ण के ही कर्तव्य स्थिर नहीं किये, वरन् परस्पर सम्बन्ध दिखाते हुए, उनके चारों आश्रमों के विषय में भी उपयुक्त विधियाँ समाज के सम्मुख रखीं। सर्वोच्च जीवनावस्था से इन आश्रमों का ठीक ठीक सम्बन्ध भी उन्होंने स्थापित किया। इस प्रकार दैनिक जीवन सम्बन्धी विस्तृत नियमों, आदेशों और विधि-निषेधों के साथ जीवन एवं सत् जीवन की धारणाएँ संस्था-रूप में संघटित की गईं।

मनुस्मृति—मनु ने, जो हिन्दुस्तान के सर्व प्रथम व्यवस्थापकों में से एक थे (ईसा के पूर्व ३०० वर्ष), जीवन के इस संघटित सामाजिक उपकरण तथा उसके कर्त्तव्यों एवं बन्धनों को बहुत महत्त्व दिया है। वह जीवन-निर्वाह के लिए पाँच बातें तथा सभ्य जीवन के लिए इनके अतिरिक्त पाँच और बातें आवश्यक बताते हैं।

मनुस्मृति में खाद्य पदार्थ, भोजन-क्रिया, पान, शयन, शिक्षा, कौटुम्बिक जीवन, वर्ण जीवन, सामाजिक जीवन, धार्मिक जीवन तथा राजनीतिक जीवन और आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में नियम मिलते हैं। नैतिक क्षेत्र में अभिभावकों एवं शिक्षकों के प्रति आदर, तथा कठिनाइयों को बिना क्रोध के सहन करना इत्यादि सम्मिलित हैं। "कठोर शब्दों को शांतिपूर्वक सहन करो। किसी का अपमान मत करो। किसी क्रुद्ध आदमी के क्रोध के बदले क्रोध न करो। जब कोई कठिनाई में हो, तब उसकी सहायता करो।" (मनु २. ४७-४८)

आध्यात्मिक विषयों में वेद की निर्भ्रम प्रामाणिकता, यज्ञों एवं संस्कारों के सम्पादन और ब्रह्म की अनुभूति एवं ध्यान का महत्व बतलाया गया है।

सामाजिक संघटन में जाति-व्यवस्था का विस्तृत विवेचन किया गया है। यह जाति-व्यवस्था दैव-कृत बतलाई गई है (मनु, प्रथम अध्याय, ३१, ८७-९३) ब्राह्मण को उच्च कहा गया है (प्रथम अध्याय, ९३-१०० ; ९,३७७-९) छोटी जाति के लोग निम्न कोटि की सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था में रखे गए हैं। (मनु १०, ५१-५६ ; १२१-१२५ ; १२९.)

वर्णाश्रम-व्यवस्था द्वारा मुक्ति—इस प्रकार स्मृति निरूपित धर्म का अनुगमन अनिवार्य समझा गया था और उसके द्वारा आध्यात्मिक मुक्ति उपलब्ध करने की आशा की जाती थी। वर्णाश्रम धर्म एवं उसकी संरक्षा पर बहुत अधिक ज़ोर दिया गया है। इस वर्ण व्यवस्था ने कानूनों, आदेशों और निषेधाज्ञाओं के रूप में हिन्दुओं की महान् सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं शैक्षणिक प्रणालियों की नींव डाली। आज इन प्रणालियों के अनुयायी अपने आपको सनातनी हिन्दू अथवा स्मृतिमार्गी कहते हैं।

पाँचवीं अवस्था (समन्वय तथा भक्ति मार्ग का काल)

क्रमशः सुन्दर धार्मिक जीवन के मार्गत्रय—कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्ति-मार्ग—का निरूपण एवं समन्वय हुआ ; और इस धारणा का विकास हुआ कि व्यक्तिगत एवं सामाजिक सदाचरण, पूर्ण सत् ज्ञान तथा भगवान् के प्रति अटूट भक्ति सब मिलाकर प्राणी को अन्तिम मोक्ष लाभ कराते हैं।

मुक्ति के लिए भक्तिमार्ग पर जोर—भगवद्गीता में तीनों मार्गों की विशेषताओं का वर्णन करने के बाद अंत में कहा है—"जो कोई पूर्ण भक्ति से भगवान की उपासना करता है, वह मुझ में अवस्थित होता है—चाहे उसका जीवन क्रम कैसा ही हो।" (६,३१) अथवा—"मेरे भक्त का नाश नहीं होता।" वह बच जाता है। स्त्रियाँ तथा नीची जातियों के लोग भी मुक्त हो जाते हैं। गीता में चारों वर्णों की विभिन्न विशेषताओं का विश्लेषण किया गया है (१८ ४३-४४)। वे अपने कर्म और गुण-कर्म के अनुसार, भगवान् द्वारा, जन्म पाते हैं (४. १३)। इस ग्रन्थ में सब मार्गों के प्रति आदर प्रदर्शित किया गया है। इसके अनुसार निष्काम भावना से ही सब मार्गों का अभ्यास करना चाहिए।

भगवद्गीता ने भक्ति के एक विशेष रूप का निरूपण किया है, जो आगे जाकर भागवत या वैष्णव लोगों द्वारा विकसित हुआ।

छठी अवस्था (पौराणिक काल)

पौराणिक प्रभाव एवं लोकप्रिय हिन्दुत्व—यह वह अवस्था है, जब देश के विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों को क्रमशः जाति के एक संग्रथित धार्मिक जीवन के साँचे में ढाला गया। इसे नवीन अथवा लोकप्रिय हिन्दू धर्म कहा जा सकता है। अपने प्रारम्भिक धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक रूप में यह धर्म महाकाव्यों एवं पुराणों में व्यक्त हुआ है और शङ्कराचार्य के समय में उनके लिखे महाभाष्यों एवं अन्य भक्तिमय अथवा दार्शनिक काव्यों में इसके दार्शनिक रूप की अभिव्यक्ति हुई है।

इस काल में सामाजिक विधियों एवं संस्कारों की सख्ती बढ़ी, किन्तु धार्मिक रूपों, विश्वासों और प्रणालियों में उदारता एवं सहनशीलता की वृद्धि हुई। जातियाँ एवं उपजातियाँ बढ़ीं, अनेक सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। देवताओं की

संख्या भी बढ़ गई ; और मूर्त्ति-पूजा का ख़ूब प्रचार हुआ। विभिन्न स्थानों पर मन्दिर एवं उपासना-गृह बनाये गये। व्रतों एवं त्योहारों, प्रायश्चित्तों एवं तीर्थ-स्थानों की संख्या बढ़ गई। पवित्रता एवं छूआछूत के भावों ने अपनी नींव सुदृढ़ कर ली। इस प्रकार अनेक धार्मिक विश्वास एवं आचार हिन्दू धर्म के अंग बन गये।

अब हिन्दू धर्म 'श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त धर्म' समझा जाने लगा। वैष्णव एवं शैव मत इस धर्म के मुख्य मतों में हैं। इनके अतिरिक्त शाक्त, सौर्य और गाणपत्य आदि अन्य मत भी हैं।

हिन्दू धर्म के तात्विक उपकरण—हिन्दू धर्म के तात्विक उपकरणों में प्रधान ये हैं—

१—वेदों की अचल प्रामाणिकता अथवा उनमें भक्ति।

२—एक ईश्वर में विश्वास, किन्तु उसकी अनेक अभिव्यक्तियों की उपासना।

३—कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्वीकृति।

४—सामाजिक संघटन की आधार-शिला के रूप में जाति-व्यवस्था का मान।

पुराणों ने नवीन हिन्दू धर्म को श्रेणीबद्ध किया—नवीन हिन्दू धर्म पर इस देश के आदि अधिवासी द्रविड़ों के विश्वासों और रीतियों, जैन एवं बौद्धधर्मों और भारत में आकर बस जानेवाले विदेशी फिरकों के विश्वासों का भी प्रभाव पड़ा। पुराणों ने इन विभिन्न विश्वासों, मतों, कथाओं और देवताओं को श्रेणीबद्ध किया और उन्हें आर्य गोत्र, रूप एवं अभिव्यक्ति प्रदान करके अपने साँचे में ढाल दिया। जन-साधारण इन पुराणों को सरलतापूर्वक पढ़ और समझ सकते थे।

वैदिक धर्म एवं समाज का विरोध—वैदिक धर्म का विकास और मार्ग शांतिमय और सीधा नहीं रहा है। इसकी उपासना के विशेष रूपों और सामाजिकतामय धार्मिक संस्थाओं का लगातार विरोध होता रहा है। कुछ सुधा-

रकों ने इसका विरोध न करके भी नये मार्ग दिखाये हैं अथवा इसी में नवीन तत्व मिलाये हैं। दूसरों ने इसका विरोध किया है और नवीन मार्गों की स्थापना की है तथा इसके पिछले काल से इतिहास को नवीन रूप दिया है; ये प्रधानतः ईश्वर, विश्व एवं मनुष्य की एकता के उपनिषद्-निरूपित तत्वज्ञान से अनुप्राणित हुए थे।

२—वासुदेवोपसना एवं भागवतवाद

भक्ति के एक मात्र देवता विष्णु—भागवत सम्प्रदाय विष्णु को सर्व-प्रधान देवता मानता है। भगवान्, हरि, नारायण इत्यादि नामों से भी विष्णु का उल्लेख किया गया है। यह सम्प्रदाय पहले उन सात्वत या अन्धक वृष्णी लोगों में चला था जिनमें देवकी-पुत्र वासुदेव या कृष्ण ने जन्म लिया था।

वेदों में विष्णु—विष्णु की उपासना वेदों की भाँति ही प्राचीन है। वेदों में विष्णु का उल्लेख मिलता है। उनके अनुसार वह आदित्यों अर्थात् सूर्य्य की अभिव्यक्तियों में से एक है (गीता १०—२१) जो उसके दैनिक एवं वार्षिक मार्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। वह (विष्णु) तीन पग चला और स्वर्ग को पार कर गया (ऋग्वेद, १, २२, १७-१८)। वैदिक काल में वह एक महान् देवता था; पर एक मात्र सर्व-प्रधान देवता नहीं था। पीछे उसकी मर्यादा और भी बढ़ गई। वह देवताओं में सर्वोच्च एवं असुरों के विरुद्ध इन्द्र की सहायता करनेवाला है।

कृष्ण, विष्णु के अवतार रूप में—जन साधारण के विश्वास के अनुसार विष्णु ने पीछे सात्वत लोगों में कृष्ण या वासुदेव के रूप में अवतार लिया। कृष्ण या वासुदेव ईश्वर एवं सर्वव्यापी स्रष्टा समझे गये। यह विश्वास भी फैला कि भक्ति द्वारा मनुष्य उसका प्रसाद प्राप्त करता है और इस प्रकार मुक्ति पाता है। इस धर्म में जीव-बलि का कोई स्थान नहीं; केवल आरण्यकों के अनुसार हवन, आहुति एवं नैवेद्य की व्यवस्था है। ये चीज़ें देवों के द्वारा स्वीकृत की गई हैं।

इस धर्म के सिद्धांत—अहिंसा और गो-रक्षा इस धर्म के प्रधान तत्व हैं। निष्काम कर्म एवं सब के प्रति सम भाव (समाः सर्वेषु भूतेषु) इसके व्याव-

हारिक सिद्धान्त हैं और भगवान् विष्णु की उपासना इसका प्रधान उद्देश्य है। भगवान् कृष्ण ने भगवद्गीता में इन सिद्धान्तों एवं विचारों को एक निश्चित रूप दिया। यह प्राचीन धर्म के विरुद्ध नहीं था।

इस धर्म का प्राथमिक उल्लेख—भागवतों के इस धर्म के—जिसके नाम 'एकांतिक' और 'पंचरात्र' भी हैं—प्रारंभिक इतिहास और तत्व का उल्लेख महाभारत, शांतिपर्व के नारायणीय अध्याय में मिलता है। यह धर्म स्वयं नारायण से नारद् ने प्राप्त किया था। इसका जन्म पाणिनि (ईसा के ६०० पूर्व) के पूर्व हुआ। तैत्तिरीय आरण्यनक में एक स्थान पर वासुदेव का नाम आता है—"नारायण विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।"

वासुदेव और कृष्ण एक ही हैं। बौद्ध, जैन और यूनानी सूत्रों एवं प्रमाणों से भी यह बात सिद्ध होती है। छांदोग्य उपनिषद् में देवकी-पुत्र कृष्ण का एक महात्मा के रूप में उल्लेख हुआ है और वे ऋषि घोर अंगिरस् के शिष्य बताये गये हैं। यह बात प्राग्बौद्ध काल की कठक संहिता में भी मिलती है।

जैन ग्रंथ उत्तराध्ययन सूत्र में कृष्ण को बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का समकालिक बताया गया है।

बौद्धों के घट जातक में घट को बोधिसत्व और कृष्ण का भाई कहा गया है। कौटिल्य ने सात्वतों के राज्य-नाश का उल्लेख किया है। मेगास्थनीज़ एवं एरियन ने शौरसेनों तथा मथुरा एवं हरक्यूलिस या कृष्ण का उल्लेख किया है। कृष्ण का मानवी रूप सभी साहित्यों से प्रकट होता है। इन बातों से मालूम होता है कि कृष्ण का यह धर्म बौद्ध एवं जैन धर्मों के उदय के पूर्व विकसित हो चुका था। संभवतः यह उतना पुराना होगा जितने पुराने उपनिषद् हैं जिनमें घोर अंगिरस् ने कृष्ण को अहिंसा का तत्त्व समझाया है।

बौद्ध एवं जैन धर्मों पर इस धर्म का संभावित प्रभाव—संभव है कि जैन और बौद्ध धर्म, जो बाद में प्रचलित हुए थे, भागवद्धर्म द्वारा प्रभावित हुए हों। भागवद्धर्म के सिद्धान्त एवं उपदेश प्रधानतः उपनिषदों पर आश्रित हैं या उनसे लिये गये हैं। भगवद्गीता के तत्त्व इन्हीं सिद्धान्तों की अभिव्यक्तियाँ हैं। तप, दान, आर्जव, अहिंसा एवं सत्य वचन इस धर्म के आचार

हैं। भगवद्गीता * (अध्याय १६, श्लोक १—३) में कहा है—"अभय, जीवनशुद्धि, ज्ञानयोग में व्यवस्थिति, दान, आत्मदमन, यज्ञ, स्वाध्याय तप एवं आर्जव,

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, अक्रूरता, जीव मात्र के प्रति दया, अलोभ, नम्रता, विनय एवं अचंचलता,

तेज, क्षमा, पवित्रता, अद्रोह और अनभिमानता इत्यादि गुण उसी में होते हैं जो दैवी संपदा साथ लेकर उत्पन्न होता है।"

३—जैन धर्म

महावीर द्वारा जैन धर्म का स्थापन—ऐतिहासिक दृष्टि से जैन धर्म वर्द्धमान महावीर द्वारा स्थापित हुआ। पौराणिक दृष्टि से, इसके चौबीस तीर्थंकरों का विचार करने पर, प्राक्-ऐतिहासिक काल में इसका आरंभ होना पाया जाता है। किम्बदन्तियों और पौराणिक कथाओं के अनुसार प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ वेद-सदृश प्राचीन हैं और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ईस्वी सन् के ८१७ वर्ष पूर्व बताये जाते हैं।

यह वैदिक धर्म्म के विरोध में चला था—कतिपय दृष्टियों से महावीर का धर्म वैदिक धर्म के कुछ अंगों का विरोध करने के लिए प्रचलित हुआ था। किन्तु अन्य दृष्टियों से विचार करने पर यह भी मालूम होता है कि वह औपनिषदिक सिद्धान्तों एवं विशेषताओं को विकसित करके सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन में उन्हें प्रयुक्त करने का भी प्रयत्न करता था।

---

* अभयं सत्त्व संशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचपलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

महावीर का जीवन (ईस्वी सन् के ५९९ वर्ष पूर्व से ५२७ वर्ष पूर्व तक)

प्रारंभिक जीवन—महावीर उत्तर पूर्व भारत के अंचल में स्थित वैशाली (मुज़फ़्फ़रपुर-बिहार) नगर के राजा के पुत्र थे। कहा जाता है कि तीस वर्ष की अवस्था तक उन्होंने राजकीय सुखों का ख़ूब उपभोग किया। उनका विवाह हो गया था और उन्हें एक पुत्री भी हुई थी। किन्तु तीस वर्ष की अवस्था में, माता-पिता की मृत्यु हो जाने से, उनका मन संसार से उचट गया और मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से वे संन्यासी हो गये। उन्होंने अपने सम्पूर्ण मूल्यवान् वस्त्राभूषण उतार फेंके, सारी सम्पत्ति त्याग दी, पाँच बार में मुट्ठियों से अपने सब बाल नोच डाले और पूर्ण पवित्रता का व्रत ग्रहण किया।

इस प्रकार एक वर्ष बीतने पर उन्होंने वस्त्रों का पूर्ण रूप से त्याग कर दिया और शारीरिक कष्टों की कुछ भी परवा न करते हुए वे इधर उधर घूमते रहे। उनके सम्बन्ध में जैन ग्रंथों में कहा गया है—"वे सब के प्रति समान भाव से उदासीन रहते थे। उनके लिए मल और चन्दन की गन्ध, तिनका और रत्न, धूल और सोना, दुःख और सुख सब बराबर थे। उनकी न तो इस दुनिया से कोई ममता थी, न परलोक से। वे न जीवन चाहते थे न मृत्यु।" (S. B. E. २२-२६२) आगे कहा गया है—"सर्वोच्च ज्ञान, नम्रता, धैर्य, यम एवं संतोष के साथ इस दिव्य पुरुष ने बारह वर्ष तक आत्म-चिंतन किया।" (S. B. E. २२-२६३)। तेरहवें वर्ष योग-मुद्रा में स्थित, गम्भीर ध्यान में निमग्न इन महापुरुष को निर्वाण या कैवल्य प्राप्त हुआ—वे केवली हो गये।

उनका सन्देश—४२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपने नवीन धर्म का प्रचार आरंभ किया। यह धर्म अपनी विधि, प्रणाली और आदर्श के विचार से तपस्यामय था। महावीर ने अपने मन और शरीर पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था। वे अनेक संन्यासियों के पथप्रदर्शक एवं गुरु बन गये। बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने उनका धर्म ग्रहण किया। वे अन्तिम या निर्वाण-काल तक लोगों को धर्मोपदेश करते रहे।

उनकी शिक्षाओं में से एक शिक्षा यह भी थी कि किसी पदार्थ की पूजा न की जाय। उनके अनुसार मन और शरीर का कठोर संयम जीवन का कार्यक्रम है। संसार और अपने 'स्व' को वश में कर लेना—जैन धर्मानुसार 'जिन पद' प्राप्त करना—उनका उद्देश्य था। परमात्मा का अस्तित्व वे नहीं मानते थे; इसी लिए किसी देवता की प्रार्थना या ईश्वर की दया में भी उनका विश्वास नहीं था। उन्होंने कहा था—"मनुष्य! तू ही अपना मित्र है। अपने 'स्व' के बाहर मित्र की इच्छा क्यों करता है?" (S.B.E. २२ ३३)

वे कर्म को कार्यशील ज्ञेय और अटूट, निराकार लौकिक शक्ति मानते और उसका उपदेश करते थे।

पूर्ण जैन कौन है?—पूर्ण जैन वही है जो तपस्वी, दीन, शीलवान और प्रतिहिंसा के भावों से रहित हो,—"मार खाकर वह क्रुद्ध न हो, गाली सुनकर वह चंचल न हो जाय, गम्भीर मन से सब कुछ सहन करे और बखेड़ा न खड़ा करे" (S. B. E. ४५, ३०१-३०५)। इस धर्म में किसी वस्तु से ममता रखने का निषेध है, इस कारण राग-द्वेष, प्रेम और घृणा की गुञ्जाइश नहीं रह जाती। केवल "सत् ज्ञान की शिक्षा देने, अज्ञान एवं माया दूर करने तथा राग-द्वेष दोनों का विनाश कर देने से ही मनुष्य अंतिम मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त कर सकता है।" (S. B. E. ४५ ; १८४) इस प्रकार निश्चय ही यह ज्ञान और सदाचार का मार्ग था। अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्रता और सांसारिक मोह का त्याग इसके पंचयम हैं। विश्व जड़-चेतनमय है। मनुष्य के शुद्ध चेतन का एक भौतिक शरीर में आकर बँध जाना ही दुःख का कारण समझा गया है। अतएव आत्मा को,—जिसका अंतिम लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण है—विकसित और मुक्त करने के लिए शरीर को कष्ट देना और दबाना आवश्यक है। जब यह क्रिया पूर्णता को प्राप्त हो जाती है, तब सब पूर्व कर्म नष्ट हो जाते हैं और व्यक्तिगत आत्मा सम्पूर्ण शारीरिक बन्धनों से मुक्त हो जाती है।

महावीर का संघ—सम्यक् ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यगाचार, अन्तिम मोक्ष के तीन रत्न हैं (S.B.E. ४५.१२३)। जैन क्रियावादी हैं। महावीर ने अपने शिष्यों और अनुगामियों के लिए एक संघ बनाया जिसमें सब श्रेणी के लोग

भरती किये गये। उन्होंने अपने गृहस्थ अनुयायियों के लिए कोई नवीन सामाजिक संघटन नहीं बनाया, क्योंकि उनका धर्म सामाजिक विरोध-प्रदर्शन के रूप में नहीं था।

उपनिषदों के भावों का ग्रहण—जैन धर्म अपनी कतिपय धारणाओं और विधियों के लिए स्पष्टतया उपनिषदों का ऋणी है। ऐसी धारणाओं में इन्द्रिय-निग्रह, शुद्धाचार और संन्यास-वृत्ति मुख्य हैं। किन्तु उपनिषदों में ब्रह्म, जगत् और मनुष्य सम्बन्धी महत्तम समस्याओं और सत्यों का ही विश्लेषण किया गया है; उनमें अंतिम सत्यों और परमोच्च त्याग को ही दार्शनिक विवेचन हुआ है।

उपनिषदों से अंतर—जैन और बौद्ध धर्मों ने मनुष्य की व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने की ओर अधिक ध्यान दिया है। उपनिषदों के सिद्धान्त सर्व साधारण के लिए अत्यन्त गूढ़ और अगम्य थे। विकसित और निश्चित सदाचार ही उनके सांसारिक और धार्मिक कल्याण में सहायक हो सकते थे। इसलिए इन धर्मों ने ज्ञान मार्ग की सूक्ष्म विवेचनाओं और पूर्ण आत्मवाद की ओर ध्यान न देकर नीति-मार्ग पर ही अधिक जोर दिया है। हाँ, उन्होंने उपनिषदों के कतिपय मूलभूत सत्यों का अवश्य उपयोग किया। उपर्युक्त धर्म ब्राह्मणों के कर्म मार्ग—जो केवल थोड़े से आदमियों तक परिमित कर दिया गया था—एवं पुरोहितों के प्राधान्य के विरुद्ध थे। अतएव उन्होंने एक नवीन नीतिमार्ग की स्थापना की जिस पर चलकर सब लोग सम्मिलित होकर अपना सामाजिक एवं धार्मिक कल्याण कर सकें। इसके अतिरिक्त इन धर्मों ने पशु-बलि के प्रति घृणा प्रदर्शित की और इस विश्वास का प्रसार किया कि किसी प्रकार के यज्ञ और बलि से मुक्ति नहीं मिल सकती।

पवित्र ग्रंथ, सम्प्रदाय और संख्या—जैन धर्म के पवित्र ग्रन्थों को आगम अथवा सिद्धान्त कहते हैं। इनमें १२ आचराङ्ग हैं, जो पहले प्राकृत और बाद को संस्कृत में लिखे गये थे। जैन धर्म में श्वेताम्बर और दिगम्बर नामक दो सम्प्रदाय हैं। आजकल तो इनमें अनेक उपसम्प्रदाय भी उत्पन्न हो गये हैं। १९२१ की मनुष्य गणना के अनुसार जैनों की कुल संख्या ११,७८,५९६ है।

इनमें से लगभग ७० प्रतिशत बम्बई प्रांत, राजपूताना, बड़ौदा एवं बम्बई की अन्य रियासतों के अधिवासी हैं। ये लोग अधिकतर व्यापारी हैं और सम्पूर्ण भारत में फैले हुए हैं।

ईस्वी सन् के ३१० वर्ष पूर्व उत्तर भारत में एक भयंकर अकाल पड़ा था। उस समय भद्रबाहु के नेतृत्व में अधिकांश जैन दक्षिण की ओर चले गये और मैसूर में बस गये थे।

महावीर की पूजा—आजकल जैन लोग स्वयं महावीर की प्रार्थना और पूजा करने लगे हैं और उन्हें सम्पूर्ण दैवी सम्पदाओं से युक्त मानते हैं। वे निष्पाप और सर्वज्ञ भी माने जाते हैं। जैनों ने अहमदाबाद, एलोरा, अजमेर, आबू पर्वत, काठियावाड़ एवं दक्षिण में स्थापत्य कला की दृष्टि से अनेक सुन्दर मन्दिर निर्मित किये हैं। श्रवण वेलगोला में गोमतेश्वर स्वामी की गोमूर्त्ति है। वह भारत की एक आश्चर्यमय और सब से बड़ी मूर्त्ति है।

तर्क शास्त्र की वृद्धि—जैनों में सदैव बड़े बड़े तार्किक होते रहे हैं और उनका स्याद्वाद भारतीय तर्कशास्त्र का एक विशेष अंग है। भिन्न एवं द्वंद्वमय होने के कारण उनके दार्शनिक विवेचन, सांख्य के प्रकृति-पुरुष सिद्धान्त से मिलते जुलते हैं।

ये हिन्दू हैं—ये गो की भक्ति करते हैं एवं ब्राह्मणों को अपने यहाँ स्थान देते, हिन्दू मन्दिरों में पूजा करते, हिन्दू तीर्थ स्थानों में जाते और हिन्दुओं के उत्तराधिकार सम्बन्धी क़ानून को मानते हैं। ये सब तरह से हिन्दू हैं। इनकी गणना हिन्दुओं से अलग करना शुद्ध राजनीतिक चाल है और ऐतिहासिक या सांस्कृतिक दृष्टि से किसी प्रकार उचित या न्याय्य नहीं है।

४–बौद्ध धर्म

एक प्रकार से ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्म, आधुनिक धर्म के विकास की तीन भिन्न अवस्थाएँ हैं।

बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम—इस धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध (ईस्वी सन् के पूर्व ५६०—४८०) थे। कहा जाता है कि उनके जन्म के समय अनेक चमत्कार दिखाई पड़े थे। वे कपिलवस्तु के शाक्यवंशीय राजा शुद्धोदन के पुत्र थे। विलासिता और वैभवपूर्ण परिस्थिति में उनका लालन-पालन हुआ था। उन्नीस वर्ष की अवस्था में एक पड़ोसी राजा की लड़की यशोधरा के साथ उनका विवाह हुआ था। दस वर्ष बाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम राहुल रक्खा गया। उनके पिता ने उनके पास सब तरह की सुख सामग्री एकत्र कर दी थी और वे उन्हें मनुष्य के वास्तविक जीवन के संसर्ग में आने का अवसर ही न देते थे। अपनी आयु के २९ वें वर्ष में उन्होंने एक जीर्ण-शीर्ण वृद्ध, एक रोगी, एक शव तथा एक ऐसे तपस्वी को देखा जो किसी प्रकार के दुःख से अस्थिर न था। गौतम पर इन दृश्यों का बहुत प्रभाव पड़ा और उन्हें मनुष्य को इतना दुःखी देख कर बड़ी वेदना हुई। उनके जीवन सम्बन्धी दृष्टि-कोण में बड़ा परिवर्तन हो गया। उन्होंने स्त्री, पुत्र, राज्य और सम्पूर्ण सांसारिक सुखों को त्याग दिया और जीवन का सच्चा मार्ग ढूँढने और दुःख के मूल कारण का पता लगाने का निश्चय कर लिया। इस प्रकार प्राणि-जगत् के हित के लिए उन्होंने महान् त्याग किया। उन्होंने अपने बाल कटवा डाले और साधु का वेष धारण किया। २९ वर्ष की अवस्था से ३५ वर्ष की अवस्था तक अर्थात् पूरे ६ वर्ष उन्होंने निरन्तर मोक्ष और सद्ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व-स्वीकृत कृत्य और आचरण किये, पर फल कुछ भी न हुआ। उन्होंने कठोर से कठोर शारीरिक तपस्या भी की, किन्तु विफल रहे।

उनका प्रारम्भिक जीवन

चार दृश्य

महान् त्याग

ज्ञान की प्राप्ति और संदेश—अन्त में उन्होंने इन साधनों को छोड़कर एकान्त में शांत चित्त से ध्यान और विचार करना आरम्भ किया। इसी ध्यानावस्थिति में, जब वे योगमुद्रा में एक बोधि-वृक्ष के नीचे बैठे थे, एक रात को उन्होंने मनुष्य के दुःखों का कारण और उसकी निवृत्ति का सरल उपाय सोचकर हृदयङ्गम कर लिया। यह 'ज्ञान' चार उच्च सत्यों में निहित था। ये सत्य निम्नलिखित हैं—

१—सम्पूर्ण जीव जगत् दुःखों में फँसा है।

२—स्वभावतः कभी तृप्त न होनेवाली कामनाओं (तृष्णाओं) के वश में रहने से ही सम्पूर्ण दुःख उत्पन्न होते हैं।

३—अतः समस्त इच्छाओं एवं कामनाओं का त्याग (तृष्णाच्छेद) कर देने पर सब दुःख स्वतः नष्ट हो जायँगे।

४—कम से कम प्रत्येक प्राणी या मनुष्य को 'आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग' के अनुसार जीवन यापन करना चाहिए। सद्विश्वास, सदिच्छा, सद्भाषण, सद्कार्य, सत्जीवन, सत्प्रयत्न, सद्विचार और सच्ची एकाग्रता ही इसके आठ अंग हैं (S. B. E. १० : १, ५२; ११ : १४८—१५२; १३ : ६५—१०२; १७ : १४४—४५)। जितने उपदेश दिये गये हैं, उन सब से ये उपदेश महान् और सुन्दर आदर्श हैं। इसी को महाज्ञान कहते हैं।

उनकी शिक्षाएँ—यह वासना और उसके परिणामों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण था। बुद्ध ने एक सदाचारिक किन्तु आत्म-संयमपूर्ण जीवन, एक आत्माधिकारपूर्ण नीति मार्ग का उपदेश किया। उनके धर्म में ईश्वर, उसकी पूजा या अनुग्रह की आवश्यकता न थी; और न पुरोहिताई विधानों और उपचारों की ही कोई ज़रूरत थी। निर्वाण अथवा मोक्ष का मार्ग आन्तरिक था। इसी लिए बुद्ध ने वेद, प्रार्थना, यज्ञ, बलि, परमात्मा या ज्ञान को किसी प्रकार का महत्व नहीं दिया। उन का प्रश्न था—"ब्रह्म का साक्षात्कार किसने किया है?"

"वेद, शब्द मात्र एक हीन और शून्य वस्तु हैं (S. B. E. ११; १७२, १७४, १८०)। बुद्धत्व की प्राप्ति के बाद ही काशी में पहली बार कई व्यक्ति उनके शिष्य बने। उन्होंने अपने साठ शिष्यों से कहा—"तुम सहानुभूतिपूर्ण हृदय से देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए दुनिया में जाओ। तुम में से कोई दो एक तरफ़ न जायँ। उन्हीं सिद्धान्तों का उपदेश करो जो गौरवपूर्ण एवं कल्याणकारक हों। सम्बद्ध, पूर्ण और पवित्र धार्मिक जीवन की घोषणा कर दो" (S. B. E. १३; ११२—१३)।

उनके सदाचारिक अनुशासन—उन्होंने अपने उपदेश और आदर्श आचरण द्वारा बहुतेरे आदमियों को अपना अनुयायी बना लिया। "सैकड़ों तर्कों एवं उदाहरणों द्वारा किसी न किसी रूप में मैंने सम्पूर्ण जीवों को प्रसन्नता प्रदान की है" (S. B. E. २१: ४४)। बुद्ध ने अपने अनुयायियों से अनुरोध किया—"परिश्रम और दृढ़तापूर्वक स्वयं अपनी मुक्ति का मार्ग निर्माण करो" (S. B. E. २१ : ११४)। उन्होंने सब को अपने पंचशीलों का अनुगमन करने का उपदेश दिया। ये पंचरत्न, अहिंसा चोरी न करना, व्यभिचार—बुरी बातों एवं शारीरिक वासनारंजन—से बचना, असत्य भाषण न करना और नशेबाज़ी से बचना है।

उपास्य के रूप में बुद्ध—उनकी जातक कथाओं में विविध प्रकार के सदाचारिक अनुशासन एवं जीवनक्रम देखने में आते हैं। पिछले काल में उनके अनुयायी प्रेमातिरेक से उनकी पूजा करने लगे, क्योंकि वे "संसार में अद्वितीय, परम नम्र एवं दयालु थे और उन्होंने अपने सम्मुख इतने उच्च आदर्श रखे थे। वे वैश्विक राजाओं के राजा एवं विजेता थे" (S. B. E. १० : २, १०२)।

मत-भेद और विभक्तीकरण—बुद्ध के महानिर्वाण के बाद उनके अनुयायियों के दो सम्प्रदाय बन गये—(१) हीनयान और (२) महायान।

हीनयान—यह सम्प्रदाय बुद्ध की शिक्षाओं का सच्चा अनुयायी था। इसने बुद्ध को केवल एक ऐसे शिक्षक एवं पथ-प्रदर्शक के रूप में ग्रहण किया, जिसने दुःखों से मुक्त होने का मार्ग दिखाया और जो धर्म सम्बन्धी आनुमानिक बातों में नहीं फँसा। इस पंथवालों का विचार है कि बुद्ध ने दुःखों का विश्लेषण किया, उसके मूल कारण का पता लगाया, उसकी वृद्धि का विरोध किया और दुःखों से छूटने का मार्ग बताया।

महायान—इस सम्प्रदाय ने बुद्ध को ऐसे ईश्वर के रूप में उपस्थित किया जो निष्पाप, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, देवों और मनुष्यों का रक्षक एवं नित्य था। इसने उनको उपास्य बनाकर उनकी पूजा प्रचलित कर दी।

बुद्ध की प्रधान शिक्षाएँ—बुद्धि की मुख्य शिक्षा का अभिप्राय मनुष्य के नैतिक सदाचार पर अधिक ज़ोर देना था, मर्यादा अथवा वंशानुगत क्रम को महत्व देना नहीं। "ब्राह्मण अपने कुटुम्ब अथवा जन्म के कारण ही ब्राह्मण नहीं हो जाता। जिसमें सत्य और ज्ञान का वास है, वह धन्य है, वही ब्राह्मण है।" पुनः कहा गया है—" जो क्रोधी होता और दूसरों के प्रति घृणा करता है, जो जीवों को हानि पहुँचाता है, जो झूठ बोलता है, जो अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करता है, उसी को जाति-बहिष्कृत समझना चाहिए।"

संघ और नियम-बद्धता—संघ में जातिभेद का कोई स्थान नहीं था। हाँ, गृहस्थों में उसका प्रचलन रहा। भिक्षुओं के लिए निषिद्ध समय में भोजन करने की तथा नाचने, गाने, संगीत एवं तमाशों में सम्मिलित होने, माला, इत्र, उबटन, तेल-फुलेल, आभूषण एवं शृङ्गारिकतापूर्ण वस्तुएँ पहनने एवं लगाने, ऊँची और विशद चारपाई पर सोने तथा सोना चाँदी ग्रहण करने की मनाही थी। संसार एवं उसकी वासनाओं का त्याग करना तथा बाल बच्चों, धन एवं सम्बन्धियों को भूल जाना ही सर्वान्तिम लक्ष्य था। गुण और दोष दोनों के ऊपर उठना और इनके अस्तित्व की चिन्ता से मुक्त हो जाना ही इस संघ का सदाचारिक आदर्श था (S. B. E. १० : १, १५—१४)। ब्राह्मण धर्म के लिए ये सदाचारिक तत्व नये नहीं थे। पर उसमें इनकी सीमा बहुत संकुचित थी। बौद्ध धर्म ने उस पर ज़ोर दिया और विश्व भर के लिए उसका द्वार खोल दिया। बौद्ध धर्म के अन्य सिद्धान्त इस प्रकार थे—

बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्त—(१) कर्म-विधि नैतिक प्रतिफल एवं न्याय का अमूर्त्त सिद्धान्त। बौद्ध धर्म एवं इतिहास के प्रसिद्ध विशेषज्ञ डाक्टर रीज़ डेविड के कथनानुसार—" कामासक्ति, दुर्भावना एवं मूर्खता नामक तीन मूलभूत पापों के भयंकर तापों के मन से नष्ट हो जाने का नाम निर्वाण" है।

बुद्ध-प्रदर्शित आत्म-नियमन के द्वारा मनुष्य इन पापों से मुक्त हो सकता है। कोई ईश्वर या वंशपरम्परा इसमें सहायक नहीं हो सकती।

(२) आवागमन या पुनर्जन्म का नियम।

(३) निर्वाण अथवा परम आनन्द की अवस्था।
(४) बौद्ध धर्मानुयायी भिक्षुओं का संघ।

इसकी पवित्र पुस्तकें—त्रिपिटक बौद्धों के धर्म-ग्रन्थ हैं। सुत्त पिटक में बुद्ध की वाणियें और उपदेशों का संग्रह है; विनय पिटक में धर्मानुयायियों के लिए बने हुए नियम हैं और अभिधम्म पिटक में बौद्ध धर्म की मनोवैज्ञानिक समस्याओं और सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखनेवाले जटिल प्रश्नों की मीमांसा की गई है।

एशिया में बौद्ध धर्म का प्रचार—अशोक द्वारा नियुक्त धर्म-प्रचारकों तथा उनके उत्तराधिकारियों के प्रयत्नों के फल स्वरूप संसार में पहली बार बौद्ध धर्म ने ही सार्वराष्ट्रीय धर्म का रूप धारण किया था। आज भी यह एशिया का सबसे बड़ा धर्म है और चीन, जापान, कोरिया, स्याम, बरमा, तिब्बत, लंका तथा अन्य अनेक स्थानों में इसके अनुयायी अधिकता से पाये जाते हैं।

ब्राह्मण धर्म का प्रभाव—बौद्ध एवं जैन धर्म, दोनों, ब्राह्मण धर्म से उत्पन्न हैं और उनकी अनेक विधियाँ एवं सिद्धान्त उसी से लिये गये हैं। इन दोनों धर्मों ने भी नवीन हिन्दू धर्म को जन्म देने में बड़ा काम किया है और यह जीवन के आध्यात्मिक अंगों की अपेक्षा उसके मानवी एवं नैतिक अंगों पर अधिक ज़ोर देनेवाले धर्म हैं, इस कारण नये हिन्दू धर्म पर इनका प्रभाव भी खूब पड़ा है। इन दोनों धर्मों ने उपनिषदों की रचना और अनुशीलन करनेवालों से बहुत कुछ ग्रहण किया है और आत्म-संयम, समाज सेवा एवं मानवी सहानुभूति के रूप में वे अपने सिद्धान्त जन साधारण के सम्मुख रखते हैं। प्राचीन पौराणिक विधियों तथा उपासना एवं विश्वास से अनार्य रूपों का मिश्रण और उपासना तथा धर्म-शास्त्रों का एक नया राष्ट्रीय आदर्श खड़ा करके उन्होंने पिछले काल में हिन्दू धर्म पर बड़ा प्रभाव डाला और उसे वह रूप दिया जो महाकाव्यों और स्मृतियों में व्यक्त हुआ है। उन्होंने यज्ञ बलि की विधियों एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों की जटिलता में कमी की और पुरानी अनुदार धारणाओं के स्थान पर जीवन सम्बन्धी एक अधिक मानवी एवं सामाजिक विचार शक्ति को जन्म दिया।

कोई अभेद्य अन्तर नहीं—उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू, बौद्ध एवं जैन धर्मों में कोई अभेद्य अन्तर नहीं है। हिन्दू धर्म में बौद्ध, जैन अथवा अन्य किसी धर्म के विरोध की प्रवृत्ति का अभाव यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि इन सब मतों में धर्म एवं जीवन सम्बन्धी मूल सिद्धान्तों में समानता और पारस्परिक सहनशीलता विद्यमान है।

जातकों में स्वयं बुद्ध ने कहा है—"मेरी शिक्षाएँ वेद के तत्त्व-स्वरूप हैं।" उन्होंने वस्तुतः वर्ण का विरोध नहीं किया, वरन् ब्राह्मणों और उनके ज्ञान सम्बन्धी एकाधिपत्य और प्राधान्य का विरोध किया। उन्होंने आर्य सभ्यता का सदाचारिक सन्देश भारत की प्रत्येक जाति और मनुष्य तक पहुँचाया; और जो लोग अपने आध्यात्मिक कल्याण के लिए उच्च ज्ञानमय जीवन बिताना चाहते थे, उनके हितार्थ संघ का निर्माण किया। संघ में कोई जातिगत भेद न था। सब बराबर थे। उन सबके जीवन का लक्ष्य एक ही मुक्ति या निर्माण था। निर्वाण न तो अभाव है, न विनाश। वह सोचा-विचारा नहीं जा सकता, न उसका वर्णन ही किया जा सकता है। वेदान्ती कहते हैं—"जो सत् या अस्तित्व विचार-सीमा के बाहर की वस्तु है, उसे वाद विवाद का विषय नहीं बनाना चाहिए।" इसी प्रकार बौद्ध कहते हैं—"जो सत्य वाणी के अधिकार के बाहर है, उसका वर्णन या निर्देश करना कैसे संभव है?" उपनिषद् के मत से भी "वाणी जहाँ से लौट आती है, उसका वर्णन असम्भव है।"

भिक्षु-प्रणाली पुरानी है—बुद्ध ने जो भिक्षु-प्रणाली चलाई, वह नई नहीं थी। उपनिषद्-काल के परिव्राजक इस प्रणाली के प्राचीनतर उदाहरण हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है—"जब ब्राह्मण अपने 'स्व' का ज्ञान प्राप्त करके पुत्र, धन और संसार की तृष्णाओं से ऊपर उठ जाता है, तब वह भिक्षुकों की भाँति इधर उधर घूमता है; क्योंकि पुत्रों की कामना, धन की ही एक कामना है और धन की कामना संसार की कामना है—दोनों ही कामनाएँ हैं। अतएव विद्या के उपरान्त ब्राह्मण को सच्ची शक्ति का आश्रय लेना चाहिए। जब वह इस विद्या और शक्ति की सीमा पार कर लेता है, तब मुनि होता है। इसके पश्चात् जब वह मुनि के ज्ञान-अज्ञान के झगड़े से छूट जाता है, तब ब्राह्मण

बनता है। चाहे जिस प्रकार वह ब्राह्मण बन गया हो, पर उसका रूप निश्चय यही है और दूसरी चीज़ें दूषित हैं।" भिक्षुणियों की प्रणाली भी नई नहीं थी। उपनिषद् काल में अनेक ब्रह्मवादिनी महिलाएँ हुई हैं जिन्होंने आजीवन-कौमार व्रत धारण किया था और वेदों के अध्ययन तथा ब्रह्म ज्ञान के अन्वेषण में अपना सम्पूर्ण समय बिता दिया था। बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्मवादिनी गार्गी का वर्णन मिलता है। गार्गी एक विदुषी ब्रह्मचारिणी थी और महाराज जनक की राजसभा में होनेवाले अत्यन्त गूढ़ दार्शनिक एवं आध्यात्मिक वाद विवाद में सम्मिलित होती थी।

प्रणाली नई थी—केवल प्रणाली नई थी। बुद्ध ने ईश्वर के प्रश्न पर कुछ कहा ही नहीं। सांख्य-वादियों और मीमांसकों के जगत् में ईश्वर के लिए स्थान नहीं था। बुद्ध ने आत्मा के अभाव की शिक्षा दी। कूटदन्त के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था—"प्रकृति का पुनर्जन्म होता है, किन्तु 'स्व' का पुनर्जन्म नहीं होता। विचार के रूप पुनः प्रकट होते हैं, पर चेतन का आवागमन असिद्ध है। केवल अज्ञान और भ्रमवश मनुष्य यह सोचते हैं कि हमारी आत्माओं की परस्पर भिन्न और स्वतंत्र सत्ता है। यह सत्य बात मैं तुमसे कहता हूँ कि यह पवित्रात्मा (मैं) मृत्यु का नहीं वरन् जीवन का तत्त्व सिखाने आया है। तुम जीवित और मरणोन्मुख की प्रकृति की खोज में मत पड़ो। 'स्व' मृत्यु है; सत्य जीवन है। 'स्व' के प्रति आग्रह सर्वकालिक जीवन है; किन्तु सत्य में विचरण करना, निर्वाण में—जो अनन्त जीवन है—योग करना है।"

ईश्वर और आत्मा में विश्वास नहीं

बुद्ध का विश्वास था कि जीव पुनर्जन्म लेते हैं, वे जीवन के विकास में स्थान परिवर्त्तन करते रहते हैं और कर्म-विधि के वश में हैं। "केवल अभ्यास से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस सत्य को अभ्यास द्वारा कार्यान्वित करो कि तुम्हारा भाई वही है जो तुम हो। सत्य के पूर्ण मार्ग पर चलो, तब तुम समझ सकोगे कि जहाँ 'स्व' में मृत्यु है, वहाँ सत्य में अमरता है।" आजकल अधि-

कांश लोगों में यह भाव फैला है कि गौतम बुद्ध हिन्दू धर्म के शत्रु थे; और आज उनके प्रति इस देश की जनता की जो भक्ति है, उसका कारण केवल यह है कि उन्होंने अन्याय, दमन, धोखे एवं जाल की प्रथा का नाश कर दिया। पर ये विचार नितान्त भ्रममूलक और अशुद्ध हैं। यह बात नहीं है। गौतम हिन्दू घर में पैदा हुए, हिन्दू की तरह पले, हिन्दू की तरह रहे और हिन्दू रह कर ही मरे। उनके आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों में ऐसी बातें बहुत कम हैं जो किसी न किसी कट्टर सम्प्रदाय में न पाई जा सकें। उनकी सदाचारिक शिक्षाएँ उनके पूर्व एवं परवर्ती ग्रंथों में से ढूँढ निकाली जा सकती हैं। गौतम बुद्ध की मौलिकता उनकी उस विधि में है जिसमें उन्होंने पूर्व-कथित बातों को ग्रहण करके उन्हें विकसित किया, कल्याण-कारी बनाया और संग्रथित एवं क्रम-बद्ध किया। उनकी मौलिकता उस मार्ग में है जिसमें उन्होंने न्याय, दया और धर्म के उन सिद्धान्तों को कार्यान्वित किया, जिन्हें कतिपय महान् हिन्दू विचारक पहले प्रकट कर चुके थे।" (डा० रेज़ डेविड्स)

गौतम हिन्दू थे

औपनिषदिक सिद्धान्तों की कार्य रूप में परिणति—बुद्ध की सब से बड़ी सफलता इस बात में है कि उन्होंने औपनिषदिक धर्म के चिर सत्यों को कार्य रूप में परिणत किया और उन्हें व्यावहारिक रूप दिया। उन्होंने वेदान्त के विचारों में मानवता को मिलाया और त्याग एवं तपश्चर्या के जीवन में सेवा मार्ग की वृद्धि की, जिसका वर्णन मात्र वेदान्त सम्बन्धी भाष्य ग्रन्थों में किया गया था। उन्होंने ईश्वर और आत्मा के ज्ञान सम्पादन पर (जिसने कितने ही मनुष्यों को जीवन से दूर कर दिया था) कोई ज़ोर नहीं दिया। किन्तु उन्होंने सेवा के सच्चे मार्ग करुणा और मैत्री के प्रसार पर ज़ोर दिया और उन्हें ध्यानपूर्वक जीवन की कोरी बौद्धिकता या रुग्ण निष्क्रियता में परिणत हो जाने से बचाने का निश्चित साधन बताया। उन्होंने सर्वोच्च आर्य संस्कृति को सार्वजनीन और वर्ण, जाति तथा सम्प्रदाय के भेदभाव से रहित करके सब की पहुँच के योग्य बनाया। उन्होंने अपना विशाल हृदय महान् ब्राह्मण-मस्तिष्क में मिला दिया।

५–त्रिमूर्ति

त्रिमूर्ति की धारणा—त्रिमूर्ति की जो धारणा है, उसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश या तो अलग सर्वप्रधान देवता माने जाते हैं या तीनोंमिल कर एक सर्वप्रधान देवता के रूप में ग्रहण किये जाते और ईश्वरीय शक्ति के स्रष्टा, पालक तथा संहारक इन तीन अंगों का भाव व्यक्त करते हैं। महाभारत में कहा है—"प्रजापति की तीन अवस्थाएँ हैं। ब्रह्मा के रूप में वह सृष्टि करता है; विष्णु के रूप में (मानव शरीर धारण करके) रक्षा और पालन करता है; और रुद्र रूप में वह संहार करता है"। (महाभारत ३, २४७-४७)

ब्रह्मा, विष्णु और शिव के एक ही होने की इस धारणा के अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में एक और धारणा भी पाई जाती है। इस धारणा के अनुसार त्रिमूर्ति के प्रत्येक देवता के साथ सहधर्मिणी के रूप में एक शक्ति होने की कल्पना की गई है। विद्या की देवी सरस्वती, ब्रह्मा की पत्नी मानी गई हैं और धन, वैभव तथा विलासिता की देवी लक्ष्मी या श्री विष्णु की; और उमा, दुर्गा या पार्वती शिव की पत्नी के रूप में उल्लिखित हुई हैं।

ईश्वरत्व की एकता के विचार से ये तीनों देवियाँ भी प्रधान शक्ति के रूप में रखी गई हैं। इन तीनों देवियों या शक्तियों के उपासकों ने या तो तीनों की व्याख्या करने के बाद उनमें से किसी एक को सर्वोच्च और नित्य मान लिया अथवा त्रिमूर्तियों की एकता सम्बन्धी धारणा का अनुभव करके लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा तीनों को एक ही शक्ति के सृजन, पालन और विनाश करनेवाले अंगों के रूप में ग्रहण किया।

इस प्रकार स्त्री या पुरुष रूप में अन्तिम एकत्व के भाव का जन्म हुआ। शाक्त लोग शक्ति या स्त्री रूप में ईश्वरत्व की उपासना करते हैं। उनके विश्वासों, विधियों, अभ्यासों और दार्शनिक तथ्यों का तंत्रशास्त्रों में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

पुराणों और तंत्रों में इनका उल्लेख—पुराण एक प्रकार के विशद् व्याख्या-ग्रंथ हैं, जिनमें इन देवी देवताओं के विभिन्न रूपों के विवरण मिलते

हैं। इन रूपों से उत्पन्न होनेवाली उपासना-विधियों, कार्यों तथा विभिन्न अंगों का उनमें संग्रह किया गया है। इन ग्रंथों में हिन्दू धर्म का जो रूप विकीर्ण हुआ है, वह पौराणिक हिन्दू धर्म कहलाता है। यह भारत के धार्मिक मन के विकाश में लगी हुई विभिन्न शक्तियों का फल रूप है और इसी लिए धर्म का नया रूप होने की अपेक्षा यह एक प्रकार का समझौता ही है। त्रिमूर्तियों में से जिस देवता का वर्णन जिस पुराण में किया गया है, उसमें उसी को स्रष्टा, पालक और संहारक बता कर सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

६—शैव मत

वेदों में शिव—'शिव' का अर्थ शुभ या कल्याणकर है। ऋग्वेद के अन्य देवताओं के अतिरिक्त रुद्र के लिए भी इस विशेषण का प्रयोग हुआ है। रुद्र केवल भयंकर और पापों का विनाश करनेवाले नहीं हैं, वरन् लाभकारी, आयुर्वैदिक वनस्पतियों के अधिष्ठाता तथा रोग-नाशक एवं जीवनदायक भी हैं। वे चिकित्सकों में सर्वश्रेष्ठ हैं; वे सर्वज्ञ तथा ईश्वरीय हैं। इस प्रकार रुद्र हानिकर और लाभकर दोनों हैं।

उनका स्वरूप—श्री अविनाशचन्द्र दास अपनी पुस्तक 'ऋग्वैदिक संस्कृति' (Rigvedic Culture) में लिखते हैं कि शिव की कल्पना वर्षा, वज्र और वर्ष के सब से गर्म महीने के अधिनायक और देवता के रूप में की गई थी, जो अपनी इन शक्तियों के द्वारा मनुष्यों, जीवों और वृक्षों पर केवल तापयुक्त प्रभाव ही नहीं डालता था, वरन् वातावरण को स्वच्छ करता, रोगों के कीटाणु नष्ट करता तथा लोगों में स्वास्थ्य और स्वच्छता की वृद्धि भी करता था।

इस प्रकार वेदों में दो रूप मिलते हैं। यह द्वैध रूप उनकी परवर्ती उपासना एवं धारणाओं में सुरक्षित दिखाई पड़ता है। किन्तु लोग उनसे प्रेम की अपेक्षा ठीक उसी प्रकार भय ही अधिक करते हैं, जिस प्रकार लोग विष्णु से भय की अपेक्षा प्रेम अधिक करते हैं। इस तरह व्यावहारिक जगत् में शिव का वही पुराना रुद्र रूप बना हुआ है और वह विष एवं सर्प, विद्युत् एवं वज्र के स्वामी माने जाते हैं।

सर्वोच्च देवता के रूप में—इतने पर भी वे सर्वोच्च देवता माने गये हैं। वे महादेव एवं महेश्वर के नामों से विख्यात हुए और उनकी उपासना करने तथा उन्हें सर्वोच्च देवता माननेवाला एक अलग सम्प्रदाय चल पड़ा। श्वेताश्वर उपनिषद् (३-१) में ब्रह्म के रूप में उनका उल्लेख किया गया है। इस प्रकार हर या रुद्र एक-छत्र अधिनायक ही माने जाते हैं। वेदों में उनकी कल्पना अनेक आँखों, बाहुओं, मुख एवं चरणोंवाले साकार ईश्वर के रूप में भी की गई है। वह असीम, सर्वमय और सर्वग्राही शिव माने गये हैं।

उनके तीन मुख्य रूप—पुराण-काव्यों में विभिन्न रूपों में उनके वर्णन मिलते हैं; किन्तु उनमें भी उन्हें अन्त में 'सम्पूर्ण' ही माना गया है। इस प्रकार उनमें तीन भिन्न रूपों की धारणा की जाती है। एक तो धर्म और दर्शन के सर्वोच्च सत्य की धारणा है। दूसरी धारणा है व्यक्तिगत भक्ति के सब से महान् देवता की; और तीसरी है पौराणिक कल्पना के नायक के रूप में। इस तीसरी धारणा में उनके निवासस्थान, भक्तों के साथ किये हुए कार्यों, विविध लीलाओं तथा अपनी पत्नी उमा या पार्वती या पुत्र गणपति एवं कार्तिकेय के साथ दाम्पत्य एवं गृह्य जीवन के विशद् वर्णन सम्मिलित हैं। हिमालय में का कैलास उनका घर बताया गया है। उनके सिर पर गंगा हैं और गले में सर्पों की माला है। वन-देव, किरात एवं नग्न रहनेवाले व्यक्ति के रूप में भी उनका वर्णन हुआ है। वह एक पूर्ण योगी और सब योगियों के आदर्श भी माने गये हैं। वे सम्पूर्ण जगत के विनाशक एवं जीवदायक या स्रष्टा हैं। सृष्टि कार्य में वे जगन्माता या दैवी शक्ति उमा और पार्वती से युक्त हैं। पुरुष और प्रकृति के नित्य-सिद्धान्तों की दृष्टि से लिंग-उपासना सृष्टि का यही रूप व्यक्त करती है।

उनके धर्म की मूल बातें—जीवन-हरण संबन्धी कार्यों का त्याग (अहिंसा), सत्य भाषण, सब जीवों के प्रति दया, दान या उदारता तथा चोरी और व्यभिचार का निषेध उनके धर्म और सदाचार की मूल विशेषताएँ हैं। इस रूप में वह समाज एवं उसके कल्याण की रक्षा करते हैं। पौराणिक महाकाव्यों में महादेव या सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में उनकी परम उच्च कल्पना की गई है। वह सर्वोच्च सत्य, ज्ञान और आनन्द माने गये हैं। उन्हें सब भक्त भजते और

अपने आप को सर्वस्व त्याग कर उनके हाथों में सौंप देते हैं। उनका प्रसाद् मुक्ति देता है। शैव सन्तों के भजनों और शैव सिद्धान्तों से इस (शैव) सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखनेवाली बातों की जानकारी होती है।

आठवीं शताब्दी (७८८—८२० ई०) में शंकराचार्य ने ब्रह्म, जगत् और मनुष्य सम्बन्धी सच्चा ज्ञान पुनः जाग्रत करने के उद्देश्य से अद्वैतवाद् का उपदेश और प्रसार किया; किन्तु प्रचलित मतों एवं सम्प्रदायों की चर्चा करते समय उन्होंने 'पंचायतन' नाम से प्रसिद्ध केवल पाँच देवों अर्थात् विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति और सूर्य को माना है। किन्तु इस समय भारत में सब से अधिक प्रचलित और व्यापक सम्प्रदाय दो ही हैं, जो विष्णु और शिव की उपासना का उपदेश करने के कारण वैष्णव और शैव कहलाते हैं।

शैव मत और तामिल सन्त—अप्पर, तिरुनानसम्बधार, सुन्दर तथा अन्य तामिल सन्तों में शैव मत के भक्ति-सम्बन्धी अंग का चरम विकास दिखाई पड़ता है। ये संत 'नयनमर' कहलाते हैं। इन्होंने अपने भजनों या स्तवों में स्वानुभूतिगम्य मुक्ति का द्वार सब के लिए उन्मुक्त कर दिया है। इनका उपदेश है कि जो लोग मानव-जाति के प्रति प्रेम नहीं रखते, उनमें ईश्वर के प्रति भी प्रेम नहीं होता। वे यह भी कहते हैं कि शिव के प्रसाद् से मनुष्य जाति रक्षित है। इन शैव भजनों या स्तवों का सर्व प्रथम संग्रह 'देवराम' है। इसका समय १०२५ ई० है। देवता के प्रसाद् और उसके तथा मानव जाति के प्रति विशुद्ध प्रेम की इसमें प्रधानता है।

लगभग ग्यारहवीं शताब्दी में मानिक्क वासगर नामक प्रसिद्ध भक्त कवि ने शिव की भक्ति और विनय में अपनी प्रतिभा का सदुपयोग किया। वासगर का जन्म छोटी जाति में हुआ था। उसके भजन 'तिरुवासगम्' अर्थात् 'पवित्र वाणी' के नाम से विख्यात हैं। इनमें अज्ञान और मोह के बन्धन से निकल कर ज्ञान और प्रेम की स्वतन्त्रता की ओर बढ़ानेवाली आत्मा के सजीव चित्र मिलते हैं।

अपने श्रेष्ठ रूप में शैव धर्म सर्वोच्च ज्ञान और सर्वोच्च भक्ति का संयोग है। इसमें अन्ध मूर्तिपूजा, पुरोहिताई, बलिदान और अति आचारिकता के विरोध का भाव भी दिखाई पड़ता है। इसमें केवल विशुद्ध भक्ति का उपदेश किया

गया है ; और कुल, जाति, मर्यादा तथा लिंग भेद का कोई विचार नहीं रखा गया है। इसका द्वार सब के लिए खुला है।

"शिव सब को शरण देते हैं। चाण्डाल भी यदि शिव का नाम ले तो तुम उसके साथ बोलो, रहो और खाओ पीओ।"—नीलकंठ।

तिरुमुलर ने घोषित किया है—"विश्व में केवल एक जाति और एक देवता है।"

उपर्युक्त 'नयनमर' सन्त अधिकतर पल्लवों के शासन काल में सातवीं और आठवीं शताब्दियों में हुए थे।

७—वैष्णव धर्म

विष्णु की धारणा—इस संप्रदाय में विष्णु को समस्त चराचर सृष्टि के ईश्वर और पथ-प्रदर्शक के रूप में ग्रहण किया गया है। वे पोषक और कल्याण-कारक देव (ईश्वर) हैं। उनकी कृपा विश्वव्यापी है; इसलिए उनका भक्त अपनी भक्ति, श्रद्धा और दीनतापूर्ण हृदय से उनके साथ प्रेम करता और उनमें विश्वास रखता है। वे केवल पृथ्वी के भक्तों एवं साधु सन्तों के आश्रय-दाता ही नहीं हैं, वरन् दानवों से पीड़ित एवं विजित देवताओं की भी, दानवों को मारकर, रक्षा करते हैं। तत्वतः विष्णु भलाई के देवता हैं; और इसी लिए यह कल्पना की गई है कि वे पृथ्वी पर बुराई और पाप का नाश करके भलाई और धर्म की प्रतिष्ठा करने के लिए अवतीर्ण होते हैं। उनके दस अवतार माने जाते हैं, जिनमें राम, कृष्ण और बुद्ध का क्रम सातवाँ, आठवाँ और नवाँ है। इस प्रकार वे विकास की सम्पूर्ण अवस्थाओं और जगत के जीवन में व्याप्त एक कार्यशील कल्याणकर शक्ति के रूप में पूजनीय ईश्वर हैं। वे पाप के साथ चिरन्तन युद्ध में लगे हुए हैं। वे सत्य-धर्म के उत्थान या सृष्टि के विकास में आने-वाली सम्पूर्ण विघ्न-बाधाएँ दूर करते हैं।

अवतार के रूप में उनका कार्य—विष्णु मारकंडेय से कहते हैं—"जब धर्म एवं सदाचार का पतन हो जाता है और पाप तथा अत्याचार बढ़ जाते हैं, तब मैं स्वयं अपने आप को उत्पन्न करता और सज्जनों के घर जन्म लेता हूँ। इस

प्रकार मानव रूप में सब प्रकार के पापों का नाश करके मैं संसार में शान्ति और धर्म की स्थापना करता हूँ।" (महाभारत, ३-१८६) विष्णु का अन्तिम या दसवाँ अवतार कलियुग के अन्त में होगा। उसका नाम कल्कि होगा। यह कल्कि सफ़ेद घोड़े पर सवार और हाथ में नंगी चमकती हुई तलवार लिये हुए होगा। इस रूप में विष्णु दुष्टों का नाश करके सद्धर्म की स्थापना करेंगे और विश्व में पुनः पवित्रता एवं उत्साह का जन्म होगा।

विष्णु के तीन रूप—इस प्रकार तीन रूपों में विष्णु की कल्पना की गई है। पहली ज्ञान या तत्वदर्शन की चरम सत्यता की धारणा है। दूसरे में वे धर्म या भक्ति के सर्वोच्च देवता के रूप में व्यक्त हुए हैं। तीसरे में उन्हें विश्व के ऐतिहासिक विकास एवं पौराणिकता के नायक का रूप दिया गया है।

सृष्टि के महान् स्वामी के रूप में वे बैकुण्ठ में निवास करते हैं और पृथ्वी के धारण करने एवं उसे अपने घेरे के अन्दर रखनेवाले अन्तहीन सर्प शेष अथवा अनन्त पर सोते हैं।

तात्विक दृष्टि से वे सब देवताओं से श्रेष्ठ, साक्षात् ब्रह्म और एक मात्र देवता एवं असीम हैं। वे स्रष्टा, रक्षक और संहारक हैं; वे समस्त सदाचारों के उद्गम और सर्व-सत्य के प्रकाशक हैं; वे सबको क्षमा करते और सब पर कृपा रखते हैं। वे श्रेष्ठ देवता अथवा भलाई एवं सत्य की चरम अभिव्यक्ति हैं। विश्व उनके दैवी प्रेम की उपज है और सर्वोच्च के साथ मनुष्य का सान्निध्य स्थापित करने के लिए संयम का एक क्षेत्र है।

इस प्रकार मानव जाति की सेवा एवं संसार के कल्याण के विचार से इस महान् देवता की कल्पना की गई है और इसी लिए उन्हें पुरुषोत्तम अर्थात् सर्वोत्तम पुरुष कहा जाता है।

इस धर्म में पशुओं की बलि या हिंसा के लिए स्थान नहीं है, वरन् उसके प्रति निन्दा या घृणा के भाव मिलते हैं। विष्णु को हरि भी कहा जाता है।

वैष्णव धर्म के पवित्र ग्रन्थ और उसका सन्देश—भगवद्गीता और भागवत में भक्ति की इस प्रणाली के विभिन्न रूपों एवं अंगों का वर्णन दिया

गया है। यह भी विश्वास दिलाया गया है कि विष्णु के भक्तों को मुक्ति मिलती है। "जो मेरा कार्य करता है, जो मेरी भक्ति करता है, जो मुझे अपने को समर्पित कर चुका है, जो निष्काम है और जिसमें किसी जीव के प्रति घृणा का भाव नहीं है, वह मुझको प्राप्त होता है।"—गीता।

श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

(श्रीमद्भागवद्गीता, अध्याय ४; ७)

अर्थात्—हे अर्जुन! जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं स्वयं प्रकट होता हूँ।

इसी प्रकार—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥—गीता, ४; ८।

अर्थात्—साधु पुरुषों की रक्षा करने, दुष्टों का नाश करने और धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग युग में प्रकट होता हूँ।

और भी—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोपिददासियात्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

—गीता, ६; २७।

अर्थात्—हे अर्जुन, तू जो कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन और दान करता है, स्वधर्माचरण के निमित्त जो तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

—गीता, १३; २७।

अर्थात् जो पुरुष नष्ट होते हुए सब भूतों में अविनाशी परमेश्वर को सम भाव से स्थित देखता है, (सच पूछिए तो) वही देखता है।

इसी प्रकार—

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशु चः॥

—गीता, १८ ; ६६।

अर्थात्—समस्त धर्मों और कर्म-विधियों को त्याग कर मेरी शरण में आ ; मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता न कर।

इस प्रकार सम्पूर्ण दुःखों एवं कामनाओं से ऊपर उठकर तथा सम्पूर्ण जीवों के प्रति सम भाव धारण करके भक्त अपने स्वामी या उपास्य को सत्य में पाता है और उसमें प्रवेश भी करता है। वह दर्शन में ही मस्त रहता है ; कोई पुरस्कार या फल नहीं चाहता। पाप पर विजय पाने में ईश्वर उसकी सहायता करता और उसे मुक्ति तक प्रदान करता है। भगवद्गीता, महाभारत, विष्णु पुराण, भागवत पुराण और शाण्डिल्य के भक्ति सूत्र में वैष्णव धर्म के तात्विक, धार्मिक, भक्ति सम्बन्धी तथा अन्य अंगों की व्याख्या की गई है।

विष्णु पुराण (३ ; ८ ; १२) में कहा है—

"केशव (विष्णु) उससे सर्वाधिक प्रसन्न रहते हैं जो दूसरों का उपकार करता है ;

जो किसी पर असत्य आरोप नहीं करता या दुर्वचन या झूठ कभी नहीं बोलता ;

जो पर-स्त्री या पर-धन की ओर आँख नहीं उठाता ;

जो किसी के प्रति दुर्भावना नहीं रखता;

जो किसी जीव या स्थिर वस्तु (वृक्षादि) को नहीं मारता पीटता या उसकी हत्या नहीं करता ;

जो देवों, ब्राह्मणों और अपने आध्यात्मिक गुरु की सेवा में सदैव मन लगाता है ;

जो संपूर्ण जीवों, अपनी सन्तान तथा स्वयं अपने अंतःकरण के कल्याण की इच्छा रखता है ;

तथा जिसके पवित्र हृदय में प्रेम और घृणा की अपूर्णताएँ कोई सुख नहीं उत्पन्न करतीं।"

शैवों की भाँति वैष्णवों की भी तामिल प्रान्त में ही प्रधानता थी। शङ्कराचार्य ने इस धर्म के सिद्धान्तों की भी विवेचना की है।

वैष्णव धर्म और तामिल सन्त—इस सम्प्रदाय को बारह 'अलवार' सन्तों के भक्तिमय गीतों से बड़ी शक्ति प्राप्त हुई। इन गीतों में भक्ति और कृष्णोपासना एवं नाम जपने पर बहुत जोर दिया गया था। इन बारहो अलवारों के नाम उनकी भक्ति और गीतों के कारण प्रसिद्ध हैं। वे पूर्वोल्लिखित शैव कवियों और सन्तों के समकालीन थे और छठी से दसवीं शताब्दियों के बीच हुए थे।

अन्तिम अलवार सन्त के शिष्य नाथ मुनि (१०००–१०५० ई० के लगभग) ने उनके गीतों को एकत्र किया। ये अलवार सन्त विभिन्न जातियों के थे। नारायण या विष्णु को ये परमेश्वर या उपास्य मानते थे। इस सम्प्रदाय का यह सिद्धान्त है कि मन्दिर में विष्णु की पूजा करने एवं उसका नाम जपने से मुक्ति मिलती है। 'नालाइरा प्रबन्धम्' नामक ग्रंथ में इन सन्तों के भक्तिमय गीतों का संग्रह है। इन बारह सन्तों में अन्तिम नम्मलवर या सत्गोपन ने नाथ मुनि को ये गीत सिखाये थे। ये भक्त वैष्णव धर्म के भक्तिमय अंग के प्रतिनिधि हैं; बौद्धिक प्रतिनिधि 'आचार्य' लोग थे। इन आचार्यों में प्रथम उपर्युक्त नाथ मुनि थे जो अलवार सन्तों विशेषतः सत्गोपन के गीतों के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने इन सन्तों की कृतियों को प्राप्त करके उन्हें क्रमबद्ध किया और विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का उपदेश एवं प्रचार किया। नाथ मुनि का स्थान उनके पोते यमुनाचार्य (९२० ई०) ने ग्रहण किया और उनके बाद सुप्रसिद्ध रामानुजाचार्य हुए। रामानुजाचार्य ने 'प्रपत्ति' या उपास्य को सर्वस्व समर्पण कर देने के सिद्धान्त का प्रचार किया। यह वैष्णव मत का मूलभूत सिद्धान्त था, जिसे रामानुजाचार्य तथा उनके उत्तराधिकारियों ने विशद और विवेचनापूर्ण रूप दिया।

आचार्यगण—बौद्धिक अंग

वैष्णवों में और भी कई महान् दार्शनिक हुए। निम्बार्क (१२वीं शताब्दी), माधव (११९९–१२९९) एवं वल्लभाचार्य (१५वीं शताब्दी) मुख्य हैं। उपर्युक्त चारों महान् आचार्य दक्षिण के थे; शङ्कराचार्य मलयालम के, रामानुजाचार्य तामिल के, मध्वाचार्य कर्नाटक के और वल्लभाचार्य तेलगू प्रान्त के

रहनेवाले थे। शङ्कराचार्य की ही भाँति सब ने अपने सिद्धान्तों की रक्षा और प्रचार के लिए सम्प्रदायों को जन्म दिया। ये सम्प्रदाय आज भी चल रह रहे हैं। उनके पास अपने मठ एवं बड़ी बड़ी देवोत्तर भू संपत्तियाँ या कोष हैं; किन्तु अब दार्शनिक या शास्त्रीय विवादों के समय ही पुराना जोश दिखाई पड़ता है; व्यावहारिक जीवन में अब वह बात नहीं रही।

८—शाक्त

शाक्त लोग शक्ति या स्त्री रूप में दैवी शक्ति के पूजक हैं। यह शक्ति काली, दुर्गा या पार्वती के रूप में पूजी जाती है। तन्त्र-ग्रन्थों में इस सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों तथा धार्मिक विधियों की व्याख्या एवं उपासना सम्बन्धी विधि-विधानों के वर्णन मिलते हैं। यह सम्प्रदाय प्रधानतः आसाम और पूर्व बंगाल में प्रचलित है, अन्य प्रान्तों में इसका प्रचार बहुत कम या नागण्य है। इसकी रहस्यमय और गुप्त रीतियों ने बहुतों में अवहेलना के भाव उत्पन्न कर दिये हैं। इनमें से कुछ—जैसे पंच मकार—इस धर्म के पवित्र ग्रन्थों को बिना पढ़े और उन्हें समझने की चेष्टा किये नहीं समझे जा सकते। इस संप्रदाय के अनुयायियों के दक्षिणमार्गी और वाममार्गी दो विभाग हैं। इनमें लिङ्गोपासना और कतिपय ऐन्द्रजालिक विधियाँ भी प्रचलित हैं।

९—भक्ति आन्दोलन

विकास—मध्य-कालीन भारत के भक्ति आन्दोलन को वैष्णव धर्म या भागवत सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष विकास कहा जा सकता है। भागवत और भागवद्गीता इसके अनुयायियों के प्रधान ग्रन्थ हैं। इन भक्तों के मीमांसा-कारों के कर्मयोग अर्थात् श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित आचार-विधियों की उपेक्षा की, कर्म-लिप्सा के पूर्ण त्याग पर जोर दिया, शङ्कराचार्य के ज्ञानवाद का विरोध किया, एक देवता की उपासना की प्रथा चलाई और वर्णाश्रम को मानते एवं शास्त्रों की मर्यादा की रक्षा करते हुए भी नीच जातियों, शूद्रों और अछूतों को आश्वासन दिया। इनके मत से ईश्वर प्रेम-मय है, मानवात्मा उसका एक अंश है, जिसका व्यक्तित्व सदैव बना रहता है, सब जातियों के लोग भगवान् में भक्ति

और श्रद्धा रख कर मुक्ति पा सकते हैं, पर उपास्य के प्रति पूर्ण आत्मार्पण या 'प्रपत्ति' का भाव होना चाहिए। भक्त तिरुवल्लुवर एक नीच जाति के हिन्दू थे। उनका समय दूसरी शताब्दी के लगभग है। उनका उपदेश था कि ईश्वर के प्रसाद से मुक्ति मिलती है। उनका 'कुरुल' तामिल भाषा के सब से अधिक प्रभावशाली और जोरदार काव्यों में से एक है। वे भक्तिवाद के आरम्भिक प्रतिनिधियों में से एक थे।

रामानन्द—किन्तु सच पूछिए तो चौदहवीं या पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्त-शिरोमणि रामानन्द ने उत्तर भारत में जोरों से भक्ति आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन ने मुख्यतः राम या कृष्ण की भक्ति का रूप ग्रहण किया और लोगों में स्थानीय नाम-रूप के अनुसार इसके प्रति अत्यधिक श्रद्धा उत्पन्न हुई। इस आन्दोलन ने गीतों और कविताओं के एक महान् भक्तिमय-साहित्य को जन्म दिया। सन्तों की जीवनियाँ लिखी गईं और महाभारत एवं रामायण के आधार पर जनता की भाषा में ऐसे काव्य ग्रंथ लिखे गये जिनमें सदाचार की भव्य भावनाओं और भक्त कवियों के विह्वल एवं विशाल हृदय की सुन्दर अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं।

रामानन्द, रामानुजाचार्य के श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के थे। उन्होंने ऊँच नीच का भेद-भाव हटा कर सब जाति के लोगों, और अछूतों को भी, अपनाया। उनका आदर्श था कि 'किसी को किसी की जाति या सम्प्रदाय पूछने की आवश्यकता नहीं है। जो भगवान की पूजा करता है, वह भगवान का है।' उन्होंने घोषणा की कि राम के सब भक्त, चाहे वे किसी जाति या पेशे के हों, राम की दृष्टि में बराबर हैं। राम में उन भक्तों के प्रति असीम प्रेम है।

रामानन्द ने हिन्दी में अपने उपदेशों और सिद्धान्तों का प्रचार किया था; इसलिए वे सीधे जनता के हृदय तक पहुँच सके।

उत्तर भारत के भक्ति आन्दोलन में जो प्रवाह, जो जान आई, उसका श्रेय इन्हीं को है। इस आन्दोलन में न तो ईसाइयों का प्रभाव था, न मुसलमानों का। बौद्धों, शैवों और वैष्णवों के भक्तिमय आन्दोलनों के प्रभाव में इसका उत्थान हुआ। रामानन्द के अनुयायियों में हज्जाम, ब्राह्मण, मोची, राजपूत, स्त्री, मुसलमान

सभी थे। इन शिष्यों और अनुयायियों ने गाँव गाँव में गीत गा गा कर एवं अन्य उपायों से अपने मत का प्रचार किया और जनता में एक नवीन उदार धार्मिक उत्साह का संचार किया।

कबीर—कहा जाता है कि कबीर (१४४०—१५१८) रामानन्द के शिष्य थे। कबीर ने अपने गुरु के विचारों एवं सत्यों का प्रचार किया ; पर इन्होंने राम-रहीम की अभिन्नता पर ज़ोर देकर हिन्दू मुसलमान दोनों को इस नये धर्म में लाने का प्रयत्न किया। वह वास्तव में हिन्दू थे, पर उनका पालन-पोषण बनारस के एक मुसलमान जुलाहे ने किया था। कबीर के विचार हिन्दू हैं, किन्तु उन्होंने यह समझाया कि हिन्दू और तुर्क एक ही विश्व-कुटुम्ब के प्राणी हैं। उनके भजन और गीत आज तक भारत में सभी प्रकार के लोगों की सम्पत्ति हैं और सब प्रान्तों के अधिवासी उन्हें बड़े प्रेम से गाते हैं। उनके अनुयायियों का 'कबीर पंथ' नामक एक सम्प्रदाय अलग बन गया। कबीर के भजनों में भक्ति के साथ ज्ञान की ऊँची बातें भी पाई जाती हैं।

दादू—रामानन्द के अनुयायियों में दादू (१५४४—१६०३) नामक एक बड़े भक्त हो गये हैं। यह अहमदाबाद के रहनेवाले और ब्राह्मण थे। इनकी शिक्षाएँ भी वही हैं। इन्होंने लिखा है—

"राम जो कुछ चाहता है, वही होगा।"

"भगवन्! तुम सत्य हो। मुझे सन्तोष, प्रेम, भक्ति और विश्वास दो।"

वल्लभाचार्य—रामानन्द के कुछ समय बाद ही वल्लभाचार्य (१४७९—१५३१) ने श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। उनका मूल-भूत सिद्धान्त यह था—"स्रष्टा के साथ तदात्म हो जाने से शरीर या अन्तःकरण के संपूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं।" वह स्वतः एक आचार्य थे। उनका तत्वज्ञान 'शुद्ध-अद्वैत' नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने ब्रह्म-सूत्र, उपनिषद् और भगवद्गीता पर भाष्य एवं टीकाएँ लिखी हैं और इनमें भागवत पुराण का संग्रथन किया है। उन्होंने सर्वात्मा के साथ आत्मा और विश्व दोनों की पूर्ण अभिन्नता पर बहुत ज़ोर दिया है। सब कुछ ब्रह्म है। ज्ञान और नित्य भक्ति ही मुक्ति या वैकुण्ठ-प्राप्ति के मार्ग हैं।

चैतन्य—चैतन्य (१४८५—१५२७) ने जाति या श्रेणी का भेद-भाव मिटा कर हिन्दू-मुसलमानों को कृष्ण के प्रेम और भक्ति का उपदेश किया। वे प्रेम-विह्वल अवस्था में अपने भजन गाते फिरते थे। उन्होंने बंगाल और उड़ीसा में वैष्णव सम्प्रदाय का ख़ूब प्रसार किया। धर्म-प्रचार के लिए उन्होंने भारत भर में यात्रा की। कहा जाता है कि उन्होंने पठान अश्वारोहियों के एक दल को अपने धर्म में मिला कर वैष्णव बना लिया; और बंगाल के बादशाह सुलतान हुसेन शाह (१४९३—१५१८) पर उनका ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने राज-पाट छोड़ कर फ़क़ीरी इख्तियार कर ली। चैतन्य ने विष्णु और शिव दोनों के प्रति अपनी उत्कट भक्ति प्रदर्शित की है। जब हम देखते हैं कि उन्होंने सहानुभूति, सत्य, उदारता, नम्रता और अन्य सद्गुणों पर अधिक जोर दिया है, तब यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके पवित्र और विशुद्ध विश्वास में एक महान् सदाचारिक आदर्श निहित था। वह कहते हैं—"कृष्ण का केवल नाम लेने से सब पाप नष्ट हो जाते हैं।" फिर कहते हैं—"सब मनुष्यों यहाँ तक कि चाण्डालों को भी कृष्ण-भक्ति की शिक्षा दो; सब में भक्ति और प्रेम का उपदेश और प्रचार करो।" भागवत पुराण ने उन्हें अपनी ओर ख़ूब आकर्षित किया था। उन्होंने जो संघ और संप्रदाय चलाया, उसमें किसी महन्त या पुरोहित की आवश्यकता नहीं थी। सब श्रेणियों और जातियों के स्त्री-पुरुषों ने वह धर्म ग्रहण किया।

मीराबाई और सूरदास—मीराबाई (१२वीं शताब्दी) और सूरदास (सोलहवीं शताब्दी) का उत्तर भारत के भक्त सन्तों में बहुत ऊँचा स्थान है। कृष्ण के प्रेम और भक्ति के रंग में रँगे हुए इनके भजन लोगों में ख़ूब प्रचलित हैं।

नरसी मेहता—गुजरात के नरसी मेहता (१६वीं शताब्दी) एक भक्त सन्त-कवि थे। इन्होंने राधा कृष्ण सम्बन्धी जो गीत लिखे हैं, वे बहुत मधुर और लोकप्रिय हैं।

तुलसीदास—तुलसीदास भी, जिनका समय १५३२ ई० से १६२३ ई० तक है, उत्तर भारत के इसी भक्त-समूह में से थे। उन्होंने हिन्दी में 'राम चरित

मानस' नामक जो अपूर्व काव्य लिखा है, उसमें राम के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की है और उनके गुणों का गान किया है। यह 'रामचरित मानस' रामायण नाम से प्रसिद्ध है और सम्पूर्ण उत्तर भारत में इसका प्रचार है। इस काव्य ग्रंथ ने जनता की बहुत बड़ी संख्या पर अपना सुन्दर प्रभाव डाला और लोगों का जीवन सुसंस्कृत करने में सहायता दी है। तुलसीदास की शिक्षा का सार यह है कि अपने को पूर्णतः राम के चरणों में समर्पित करके मनुष्य आवागमन के विकट बन्धन से मुक्ति पा सकता है। वह कहते हैं—

"हे दयामय स्वामी! हम केवल यह वर चाहते हैं कि बिना किसी शंका के मन, वाणी और कर्म से तुम्हारे चरणों में सदैव हमारी भक्ति बनी रहे।"

तुलसीदास ने ज़ोर देकर विश्वास दिलाया है कि भगवान् की दया, कृपा और सहानुभूति सच्ची है। उन्होंने शिष्य नहीं एकत्र किये, कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया, किन्तु उनकी रामायण लाखों आदमियों को अपनी ओर खींचती है, जो नित्य इसे पवित्र धर्म-ग्रंथ की भाँति पढ़ते और श्रोतागण बहुत चाव से इसे सुनते हैं।

महाराष्ट्र सन्त—दक्षिण-महाराष्ट्र का भक्ति आन्दोलन अधिक पुराना है। विट्ठोबा या कृष्ण की भक्ति के साथ पण्ढरपुर में उसका आरम्भ हुआ। इसके प्रारम्भिक नेताओं में ज्ञानदेव तथा उनके भाई और बहन एवं नामदेव मुख्य थे, जिनका समय तेरहवीं शताब्दी है। इन लोगों के बाद अठारहवीं शताब्दी तक महाराष्ट्र में सन्तों का क्रम बराबर चलता रहा; एक के बाद दूसरे सन्त स्थान ग्रहण करते रहे। सोलहवीं शताब्दी में एकनाथ और नरसिंह सरस्वती हुए। सत्रहवीं शताब्दी के सन्तों में शिवा जी के समकालिक तुकाराम और रामदास बहुत प्रसिद्ध हैं। इस सन्तों में सब जातियों के लोग—अछूत और मुसलमान भी—थे। नामदेव के भजनों को सिक्खों के 'आदि ग्रंथ' में स्थान मिला है। ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, रामदास और तुकाराम के भजन बहुत लोक-प्रिय हैं। इन भजनों की ध्वनि बहुत भक्तिमय और प्रवाह सदाचारमय एवं विशुद्धकारी है। ये जनता के जीवन को अच्छे साँचे में ढालते और उन्हें धार्मिक एवं सदाचारिक जीवन की ऊँची मर्यादा में स्थित रखते हैं।

इन सन्तों का जीवन और आदर्श—इन महात्माओं और सन्तों का जीवन ईश्वर-भक्ति से पूर्ण था। ये असहाय, अशक्त एवं दलित मनुष्यों की सेवा करते और अपने व्यक्तिगत व्यवहार को संयम, सदाचार एवं आत्मशुद्धि से युक्त रखते थे। इनमें से बहुतों के चरित्रों में चमत्कारों का भी उल्लेख मिलता है। ये रोगी को स्वस्थ करते, भूखे का पेट भरते और दलित एवं गिरे हुए लोगों को ऊपर उठाते थे। ये साधुओं की प्रथा के अनुसार सम्पूर्ण भारत में घूमा करते और लोगों को विश्वास एवं भक्ति का सरल संदेश देते थे। नामदेव ने कहा है—"प्रत्येक हृदय और प्रत्येक वस्तु में अबाध रीति से एक ईश्वर का ही निवास है।"

तुकाराम कहते हैं—"जो पीड़ितों और पददलितों को अपना कहता या अपनाता है, उसी में ईश्वर का निवास है।"

बङ्गाल, गुजरात, सिंध, पञ्जाब तथा भारत के अन्य भागों में भी इस प्रकार के भक्ति-आन्दोलनों का प्रसार हुआ। इन सब के सम्बन्ध में लिखने की अपेक्षा यहाँ हम इनमें से एक सिक्ख धर्म के सम्बन्ध में ही अलग लिखते हैं; क्योंकि पीछे इसने एक बड़े सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया और अपने नतून सामाजिक एवं सैनिक संघटन द्वारा भारत के इतिहास में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की।

१०—सिक्ख धर्म

जन्मदाता नानक—सिक्ख धर्म का शाब्दिक अर्थ एक सत् गुरु (ईश्वर) के 'शिष्यों का धर्म' है। इसके संस्थापक गुरु नानक (१४६९-१५३८) थे। इनके पिता साधारण ग्रामवासी थे। उन्होंने उपासना और धार्मिक भक्ति का जीवन ग्रहण किया। अतएव आर्थिक दृष्टि से वे अपने कुटुम्ब के लिए निकम्मे थे। विवाहित और बाल बच्चेदार होने पर भी, उन्होंने घर बार छोड़कर ध्यान एवं उपासना में वृक्षों के नीचे एवं एकान्त स्थानों में अपना समय बिताना अधिक श्रेयस्कर समझा और महात्माओं एवं सन्तों के सत्संग में रहने लगे। लगभग ३६ वर्ष की अवस्था में उन्हें यह उपदेश करने की दैवी प्रेरणा हुई—"मेरा नाम जपो। मेरा नाम ही ईश्वर और ब्रह्म है; और तुम दैवी गुरु हो।"

उस समय देश की धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक अवस्था बहुत बुरी थी, मानो पूर्णतः कलियुग आ गया हो। न्याय, सत्य और सहनशीलता का कहीं नाम न था।

उनका संदेश—नानक ने साधु एवं तपस्वी का जीवन ग्रहण किया और उपदेश किया—"यहाँ न कोई हिन्दू है, न कोई मुसलमान है।" सब मनुष्यों का एक ही सतगुरु ईश्वर है और सब उसके शिष्य हैं। इस सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए मरदाना नामक एक मुसलमान अनुयायी के साथ उन्होंने लम्बी यात्राएँ कीं। उन्होंने हरद्वार, काशी, पुरी इत्यादि सभी बड़े नगरों एवं तीर्थों में भ्रमण किया और बारह वर्ष बाद घर लौटे। इसके बाद वह दक्षिण की ओर भी गये। कहा जाता है कि वह मक्का तथा अन्य मुसलमानी देशों में भी गये थे और वहाँ ईश्वर की सर्वव्यापकता का उपदेश दिया था।

उन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनों को अपनी शिक्षाओं का अनुगामी बनाया और एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर में बराबर दृढ़तापूर्वक अपना विश्वास व्यक्त किया। मृत्यु के बाद हिन्दुओं ने उन्हें जलाने और मुसलमानों ने गाड़ने के लिए आपस में झगड़ा किया; किन्तु कफन हटाने के बाद लोगों ने देखा कि शरीर ग़ायब है, केवल कुछ फूल पड़े हुए हैं। उन्होंने सब दोषों के लिए क्षमा कर देने और कृपा रखने की भिक्षा माँगी। उनका कहना था कि वह सतगुरु, अज्ञेय और असीम ईश्वर ही सब कुछ करता है। "मैं पापी हूँ; तुम पाप-मोचन और क्षमा-दाता हो।"

कहा जाता है कि उन्होंने एक मरे हुए हाथी को जिला दिया था और एक कोढ़ी को कोढ़ से मुक्त करके अपना अनुयायी बना लिया था।

उनके अनुयायी उन्हें दैवी गुरु मानकर उनकी भक्ति करते हैं। कहा जाता है कि मोग़ल वंश के संस्थापक बाबर ने जब उनसे कुछ अनुग्रह या सहायता माँगने को कहा, तो उन्होंने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया—"मीर बाबर सुन! जो फ़कीर बादशाहों से कुछ मँगाता है, वह मूर्ख है; क्योंकि ईश्वर ही एक मात्र दाता है।"

उनकी शिक्षाएँ—उनके एक भजन का भावार्थ नीचे लिखा जाता है। इसमें उनकी शिक्षाओं का सार आ गया है—

'सब धर्मों' के सन्तों को त्याग दो।

अपना अभिमान छोड़ो।

याद रखो, धर्म का तत्व नम्रता और सहानुभूति है, सुन्दर कपड़े नहीं,

योगियों के वस्त्र और भस्म नहीं,

शंख फूँकना नहीं,

सिर मुँड़ाना नहीं,

लम्बी प्रार्थनाएँ करना नहीं,

भजन और तपस्या नहीं,

साधु की कठोर विधियाँ नहीं,

वरन् भलाई और शुद्धता का जीवन ही है।"

वह बार बार प्रार्थना कर गये हैं—"मैं उस नित्य ईश्वर के लिए एक बलिदान हो जाऊँ।"

उन्होंने कहा है—"हम सब के भाई होने का दावा करते हैं।" फिर कहते हैं—"ईश्वर के पवित्र मन्दिर में जन्म और जाति नहीं पूछी जाती। जाति का अभिमान मत करो। सम्पूर्ण सृष्टि एक ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है।"

'आदि ग्रंथ' सिक्खों का पवित्र धर्म ग्रंथ है। इसमें २६४८० पद्य हैं, जो १६०४ ई० में पञ्चम गुरु अर्जुनदेव द्वारा संगृहीत हुए थे। इस ग्रंथ में भारत के विभिन्न भागों में उत्पन्न हुए सन्तों की बानियों और भजनों का संग्रह किया गया है। कट्टर सिक्ख इसकी बातों को परम प्रामाणिक और इसे प्रमाण ग्रन्थ मानते हैं।

ईश्वर के सम्बन्ध में नानक की धारणा है—"केवल एक ईश्वर है और वह जगत का सच्चा सृष्टा, भय-द्वेष रहित, अमर, अजन्मा, स्वयं-सिद्ध, महान् और दयालु है। वह सत् ईश्वर आरंभ में था, आज है, और भविष्य में रहेगा।"

फिर कहते हैं—"ईश्वर एक ही है। भाइयो, दूसरा और कोई नहीं है। वह सम्राट् है, सब सम्राटों का सम्राट् है।"

"वह अनेक रूपों में अपने को विकीर्ण करता है, अतएव उसे अनेक नामों से पुकारा जा सकता (या जाता) है।"

"सब नामों में प्रधान 'सत्नाम' है। यह नाम सब देवों का देव है।"

उनका तत्वज्ञान—नानक ने संसार को अस्थिर और परिवर्तनशील बताया है। ईश्वर ज्ञान में ही मुक्ति सन्निहित है। "ईश्वर की कृपा से मनुष्य को ज्ञान होता है।" इसके लिए पूर्ण आत्मार्पण का भाव होना चाहिए। सत्नाम के जप के रूप में ईश्वर की उपासना की जानी चाहिए। बलिदान और मूर्ति-पूजा की आवश्यकता नहीं। हाँ मार्ग-प्रदर्शन के लिए गुरु की आवश्यकता अवश्य है। "सत्गुरु बिना, तुम्हें ठीक रास्ता नहीं मिल सकता।"

खालसा पन्थ—सिक्खों का नया संघटन 'खालसा-सङ्गत' (शुद्ध समूह) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उत्तराधिकारी गुरुओं द्वारा इस संघटन का विकास हुआ और दसवें गुरु ने इसे बहुत दृढ़ किया।

इस पन्थ में दस गुरु हुए—नानक, अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुन, हरगोविन्द, हरराय, हरकिसन, तेग़बहादुर और गोविन्दसिंह। प्रत्येक ने अपने सिद्धान्तों को स्थिर रख कर किसी न किसी प्रकार इस संघटन को सुदृढ़ किया। इन गुरुओं को और विशेषतः गुरु अर्जुनदेव को मुग़ल बादशाहों के हाथों बड़े कष्ट सहने पड़े और अपने पिछले दिनों में उन्हें अपने पन्थ की रक्षा के लिए कठिन संघर्ष और युद्ध करना पड़ा। इससे सिक्खों की प्रकृति और संघटन ने सैनिक रूप धारण कर लिया। अपनी शहादत, बलिदान, त्याग और बहादुरी के द्वारा उन्होंने अपने धर्म का ख़ूब प्रसार किया। गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में वे 'सिंह' या शेर बन गये।

सिक्खों में दो सम्प्रदाय हैं। एक नानक पन्थ, जिसके अनुयायी नानक की शांतिमय शिक्षाओं का अनुसरण करते हैं; और दूसरा खालसा पन्थ, जिसके अनुयायी दशम गुरु गोविन्दसिंह के सिद्धान्त मानते हैं। सिक्ख कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं; किन्तु जाति, मूर्ति-पूजा, कर्म-काण्ड, अनेकेश्वर वाद और तपस्या (शरीर को नाना प्रकार का कष्ट देना) नहीं मानते।

भारत में यह एक शक्तिशाली मत है। इसके अनुयायियों की संख्या ३२ लाख के लगभग है, जो प्रायः पञ्जाब में रहते हैं। इनका सब से बड़ा उपासना स्थल अमृतसर का सोने का मन्दिर "दरबार साहब" है। औरङ्गज़ेब के अत्याचारों का सामना करने के लिए गुरु गोविन्दसिंह (१६२८-१७०८) के अधीन राजनीतिक या सैनिक रूप धारण कर लिया। सिक्खों में पञ्च ककार अर्थात् केश (बाल न कटाने), कच्छ (घुटने तक काछा या आधा पाजामा पहनने), कर (लोहे की चूड़ियाँ पहनने), कसदा (कृपाण धारण करने) एवं कंघा (सदैव सर में रखने) की प्रतिज्ञा की।

११-लिंगायत

लिंगायत—लिंगायत सम्प्रदायवाले अपने को वीर शैव कहते हैं। कर्नाटक में गुरु बासव ने इस सम्प्रदाय को अधिक सुदृढ़ और लोकप्रिय बनाया। ये कलचुरि वंश के सम्राट् बिज्जल के प्रधान मन्त्री थे। इनका समय ईसवी बारहवीं शताब्दी है। इस मत के अनुयायी इसे बहुत प्राचीन बताते हैं और बासव को केवल उसका एक सुधारक मानते हैं। ये गले में शिव लिङ्ग पहनते और उसी की पूजा करते हैं। ये ब्राह्मणों की प्रधानता स्वीकृत नहीं करते और शिव को सर्वोच्च देवता या ईश्वर मानते हैं। इनके पुरोहित या पुजारी जङ्गम कहलाते हैं।

धर्म-साधन के तीन प्रकार—मनुष्यों ने तीन प्रकार से धर्मों पर दृष्टि डाली है। पहला यह कि सब धर्म सच्चे हैं। दूसरा यह कि प्रत्येक धर्म आंशिक रूप में सच्चा है। इस विचार के लोग धर्म के किसी विशेष अंग पर ही अधिक ज़ोर देते हैं। तीसरा यह कि केवल हमारा धर्म सच्चा है। यहाँ हमें इन तीनों विचारों की आलोचना करने की आवश्यकता नहीं। हमारा मत यह है कि अपने उच्च रूपों में सभी धर्मों में परस्पर समानताएँ पाई जाती हैं; क्योंकि प्रायः प्रत्येक धर्म कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुआ है; और पुराने धर्म के सामाजिक, नैतिक, एवं आचारिक अंगों में आये हुए दोषों और दुराचारों का सुधार करने के उद्देश्य से चलाया गया है। हमारे विचार से उन धर्मों का

विश्व-विकास के इतिहास में विशेष स्थान है जो सहनशीलता की शिक्षा देते हैं। लोगों को वर्तमान संसार में धर्मों और सम्प्रदायों को पारस्परिक कलह और विरोध छोड़ कर उनके ऊपर उठाना चाहिए और सच्चे नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन-यापन पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाना चाहिए। विज्ञान, इतिहास, आचार शास्त्र, दर्शन और साहित्य सम्बन्धी एक सुन्दर शिक्षा-विधि ही इन उद्देश्यों की सिद्धि में सहायक हो सकती है, इसी से मनुष्य-जाति को सच्चा लाभ पहुँचेगा।

१२–राधास्वामी मत

यह सम्प्रदाय आगरे के शिवदयाल सिंह (१८१८-७८) नामक एक खत्री ने चलाया था। ऐसा जान पड़ता है कि कबीर की शिक्षाओं का इस सम्प्रदाय पर खूब प्रभाव पड़ा है। यह सम्प्रदाय ईश्वर, आत्मा और प्रकृति के अस्तित्व की भिन्नता में विश्वास रखता है। इस सम्प्रदाय में मन्दिरों और पुजारियों या पुरोहितों का कोई स्थान नहीं है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने आध्यात्मिक नेता या आचार्य के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते हैं।

१३–सतनामी

१७५० ई० में अवध के जगजीवन दास नामक एक राजपूत ने यह संप्रदाय चलाया था। इसके अनुयायी प्रायः अछूत और जाति-बहिष्कृत लोग होते हैं। चमार घासीदास ने सन् १८२०-३० ई० के बीच इसका अपनी जाति में खूब प्रचार किया। इसके सिद्धान्त निम्नलिखित हैं--

(१) कतिपय शाक-वनस्पतियों और मादक द्रव्यों का त्याग।
(२) मूर्ति-पूजा का नाश करना।
(३) खेत जोतने के लिए गौओं का उपयोग न करना।
(४) दोपहर के बाद बैलों से काम न लेना।

यह एक सरल, शुद्ध और विकासक धर्म है जिसका छत्तीसगढ़ के गोंड़ों में सरलतापूर्वक प्रसार न हो सका।

१४–आधुनिक धार्मिक-आन्दोलन

ब्रह्म समाज या अखिलवादी

राजा राममोहन राय—पश्चिम और विशेषतः ईसाई धर्म, पाश्चात्य विज्ञान एवं दर्शन से सम्बन्ध स्थापित होने के बाद भारत के धार्मिक विचारों ने पुनः विश्व के महान् धर्मों का समन्वय-बुद्धि से अध्ययन आरम्भ किया। इस आन्दोलन के प्रधान नेता बङ्गाली ब्राह्मण राजा राममोहन राय (१७७४-१८३२) थे। उन्होंने अरबी, फारसी, संस्कृत और अंग्रेजी के अध्ययन के बाद बौद्ध, यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम आदि धर्मों को तथा स्वयं अपने हिन्दू धर्म को समझाने का यत्न किया। उन्होंने बँगला, हिन्दी और अंग्रेजी में उपनिषद् और वेदान्त सूत्र छपवाये। उनका यह महान् उद्देश्य था कि लोगों ने पुनः प्राचीन हिन्दू धर्म की शुद्धता का प्रचार हो। इसका एक उपाय शिक्षा का प्रसार भी था। वह कट्टरपन के विरोधी थे। १८१९ ई० में उन्होंने एक हिन्दू कालेज की स्थापना की। उन्होंने समाज-सुधार का बहुत काम किया और सती प्रथा बन्द होने के आन्दोलन में सम्मिलित हुए। १८२८ ई० में ब्रह्म-सभा की स्थापना हुई और १८३० में प्रथम ब्रह्ममन्दिर बना जिसमें सब जातियों और श्रेणियों के लोग जा सकते थे। ईश्वर के सम्बन्ध में राजा राममोहन राय की धारणा थी कि—"वह नित्य, अज्ञेय और अपरिवर्तनशील आत्मा है, जो जगत का स्रष्टा और पालक है।" इस धारणा तथा सम्पूर्ण ब्रह्म समाज पर औपनिषदिक विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। इस धर्म में मूर्ति-पूजा और बलिदान की निन्दा की गई है। इसके अनुयायियों ने कभी दूसरे धर्मों पर दोषारोपण या उनकी निन्दा करने की प्रवृत्ति को आश्रय नहीं दिया और शिक्षा को ही सब धर्मों की एकता और सद्गुणों के प्रसार का साधन माना है। पौरोहित्य को स्वीकृत न करके केवल ब्रह्म से सीधा सम्बन्ध स्थापित करने पर ज़ोर दिया गया। १८३२ ई० में ब्रिस्टल (इँग्लैण्ड) में राजा राममोहन राय की मृत्यु हुई।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर—१८४२ ई० में देवेन्द्रनाथ ठाकुर ब्रह्म समाज में प्रविष्ट हुए। उनके सहयोग से इस धर्म को बड़ी स्फूर्ति मिली। वे इसे विशुद्ध हिन्दू धर्म के पथ पर चलाते रहे।

केशवचन्द्र सेन—१८५७ ई० में केशवचन्द्र सेन ने भी इसे स्वीकृत किया। वह बड़े प्रभावशाली उपदेशक एवं वक्ता थे। उनपर ईसाई धर्म ने बहुत प्रभाव डाला था; अतएव १८६५ ई० में इस समाज में दो दल हो गये। १८६६ ई० में उन्होंने एक नया समाज स्थापित किया। पहलेवाले समाज का नाम 'आदि ब्रह्म समाज' पड़ा और महर्षि देवेन्द्रनाथ उसे चलाते रहे। इसमें और हिन्दू धर्म और विशेषतः औपनिषदिक धर्म में अधिक समानता पाई जाती है। १८६४ ई० में केशवचन्द्र सेन ने बंबई और मद्रास की यात्रा की। इसके फल स्वरूप डा० आत्माराम पाण्डुरंग, महादेव गोविन्द रानडे, के० टी० तैलंग तथा और लोगों ने मिलकर १८६७ ई० में बम्बई 'प्रार्थना-समाज' स्थापित किया। इसमें बहुत थोड़े लोग आये थे और आजकल भी बहुत थोड़े आदमी इसमें सम्मिलित होते हैं। १८६४ ई० में मद्रास में 'वेद समाज' की स्थापना हुई। १८८१ ई० में फिर इन लोगों में मतभेद हो गया और केशवचन्द्र सेन के 'नवविधान' नामक उपासना-विधि का जन्म हुआ। यह अधिक समन्वयात्मक धर्म था जिसमें हिन्दुओं के धर्म-ग्रंथों के अतिरिक्त ईसाई, बौद्ध, एवं इसलाम धर्मों के पवित्र ग्रंथों का भी आधार ग्रहण किया था। १८७५ ई० के लगभग केशवचन्द्र पर स्वामी रामकृष्ण परमहंस का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा और उन्हें यह ज्ञान हुआ कि "सब धर्म सच्चे हैं।"

'साधारण ब्रह्म-समाज' इन लोगों का तीसरा विभाग है। यह सामाजिक दृष्टि से सर्वाधिक प्रगतिशील है, जाति-पाँति नहीं मानता तथा सर्व जातीय विवाह-विधि का समर्थन करता है। इस आन्दोलन ने शिक्षा-प्रसार और समाज-सुधार में बड़ा काम किया है। यदि धार्मिक दृष्टि से देखा जाय तो ब्रह्म समाज ने मूर्ति-पूजा, अनेकेश्वर वाद, सती-प्रथा, बहुविवाह, जाति-पाँति की कठोरता तथा वैधव्य का विरोध किया।

ब्राह्मो लोगों की संख्या लगभग ६००० है।

आर्य समाज

स्वामी दयानन्द—आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४—८३) थे। वह काठियावाड़ के निवासी थे। शिवरात्रि-व्रत के समय

१४ वर्ष की अवस्था में उनके मन में मूर्ति-पूजा विषयक एक शंका उत्पन्न हुई। १८४५ ई० में जब उनके घरवालों ने उन पर शादी करने के लिए ज़ोर डाला, तब वह घर छोड़कर बाहर चले गये और १८४८ ई० में संन्यासी हो गये। उनका वेदों का अध्ययन जारी रहा। उस समय वह सम्पूर्ण भारत में घूमे और स्थान स्थान पर पंडितों से शास्त्रार्थ करते रहे। १८७५ ई० में बम्बई में और १८७७ ई० में लाहौर में आर्य समाज की स्थापना हुई। १८८३ ई० में स्वामी जी की मृत्यु हो गई। उनकी शिक्षाएँ उनके ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' में मिलती हैं। ऐसा कहा जाता है कि उनके गुरु, मथुरा के स्वामी विरजानन्द सरस्वती ने उन्हें आशीर्वाद देकर आज्ञा की थी—"पुत्र! जाओ और संसार की सेवा करो। वैदिक ज्ञान का शीघ्रता से लोप हो रहा है। जाओ, उसका उद्धार करो।"

दयानन्द ने उपर्युक्त आज्ञा का पूर्णतः पालन किया। उन्होंने केवल वेद को प्रामाणिक धर्म ग्रन्थ माना और सब के लिए वेदाध्ययन का द्वार खोल दिया। उन्होंने वेद को सारे राष्ट्र की वस्तु बना दिया; और सम्पूर्ण देश, तथा विदेशियों से भी, सत् एवं नित्य ज्ञान के स्रोत वेद को ग्रहण करने का अनुरोध किया। आर्य समाज विशुद्ध एकेश्वर वाद को मानता है और मूर्ति-पूजा का खण्डन करता है।

इसके दस सिद्धान्त—कुछ ही दिनों में स्वामी दयानन्द के अनुयायियों और सम्मानकर्ताओं का लाहौर एक बड़ा केन्द्र बन गया। यहीं उन्होंने अपने निम्नलिखित दस सिद्धान्त बनाये—

(१) ईश्वर सम्पूर्ण सत् ज्ञान तथा उससे जानेवाली वस्तुओं का मुख्य कारण है।

(२) ईश्वर सर्वसत्य, सर्वज्ञानमय, आनन्दमय, अखिल, सर्वशक्तिमान्, न्यायी, दयालु, अकारण, असीम, अपरिवर्तनीय, अनादि, अतुल, सब का स्वामी और सहायक, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, अक्षय, अमर, भय रहित, नित्य, पवित्र तथा जगत् का कारण है। केवल उसी की उपासना उचित है।

(३) वेद सच्चे ज्ञान के ग्रन्थ हैं; अतएव प्रत्येक आर्य का प्रधान कर्तव्य है कि उनका अध्ययन करे, दूसरों के मुख से श्रवण करे, दूसरों को पढ़ावे तथा उनके सम्बन्ध में उपदेश करे।

(४) प्रत्येक आर्य को जो बात असत्य मालूम होते ही, उसे छोड़कर सत्य को ग्रहण करना चाहिए।

(५) सत्यासत्य का विवेक करके ही सब काम करना चाहिए।

(६) मनुष्य-जाति की शारीरिक, आध्यात्मिक और सामाजिक उन्नति द्वारा संसार की भलाई करना ही समाज का मुख्य उद्देश्य है।

(७) सबके साथ प्रेम, न्याय और मर्यादानुसार सम्मान का व्यवहार करना चाहिए।

(८) अज्ञान को दूर कर ज्ञान को अपने अन्दर भरना चाहिए।

(९) किसी आदमी को केवल अपनी भलाई पर ही सन्तोष न कर लेना चाहिए; प्रत्येक को अपनी उन्नति दूसरों की उन्नति के अन्तर्गत ही समझनी चाहिए।

(१०) उन विषयों में, जिनसे समाज का सामान्य हित हो, सब प्रकार का मतभेद भूल जाना चाहिए। हाँ, जो बातें पूर्णतः व्यक्तिगत हों, उनमें आदमी अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार काम कर सकता है।

१८९२ ई० में समाज में परस्पर विरोध और झगड़ा खड़ा हो गया। एक दल ने कहा कि केवल इन दस सिद्धान्तों का ही पालन किया जाय; दूसरे दल का कहना था कि स्वामी दयानन्द की अन्य सम्मतियाँ भी समाज के लिए अनिवार्य रूप से मान्य हैं। यह दूसरा दल शाकभोजी था और मांस भक्षण का विरोधी था।

हिन्दू समाज पर इसका प्रभाव—आर्य समाज ने उत्तर भारत में बड़ी उन्नति की है। यह दूसरों को अपने में मिलानेवाला धर्म है और सबको आर्य बनाना चाहता है। जिन हिन्दुओं ने इससे सहयोग किया, कट्टरपन कम करके उनके विचारों को इसने बहुत उदार बनाया है। यह ज़ोरों से अपना शैक्षणिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रचार-कार्य चला रहा है। इसके द्वारा बहुत बड़ी संख्या में स्कूल और कालेज चल रहे हैं, जहाँ लड़के लड़कियाँ, छूत-अछूत सभी शिक्षा पाते हैं। वंशानुगत जाति-पाँति में आर्य समाज का विश्वास नहीं, पर गुणकर्मानुसार वर्णाश्रम को वह मानता है। एक पत्नी-विवाह, विवाह की अवस्था

में वृद्धि तथा विधवा-विवाह इत्यादि कितने ही सामाजिक सुधारों का श्रेय आर्य समाज को है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार इसका ध्येय है। यह मानता है कि भारतवर्ष भारतीयों के लिए है और उस पर किसी विदेशी जाति का अधिकार न होना चाहिए।

यह अपनी मातृभूमि में गौरव का अनुभव करता और इस प्रकार की प्रवृत्ति को बढ़ाता है। यह एक बड़ी राष्ट्र-विधायक शक्ति है और मुसलमानों तथा ईसाइयों द्वारा हिंदुओं को अपने धर्म में मिलाने की प्रवृत्ति का विरोधी है। इसने युगों की संचित बुराई और अकर्मण्यता दूर करने का प्रयत्न किया है। हिंदू संघटन तथा दूसरों को धर्म-परिवर्तन द्वारा अपने में मिला लेने की प्रवृत्ति को इससे बड़ी सहायता मिली है। मरते हुए हिंदू धर्म को इसने पुनर्जीवित किया है। इन बातों से हिंदुओं में विदेशी धार्मिक प्रचार के विरुद्ध इसने एक बलवती शक्ति उत्पन्न कर दी है तथा अनेक प्रतिद्वन्द्वियों को लज्जित किया है। इस प्रकार धर्म-परिवर्तन के कारण भविष्य में हिन्दुओं की संख्या में जो कमी होनेवाली थी, उसे इसने रोक दिया है।

रामकृष्ण मिशन

स्वामी रामकृष्ण—यदि धार्मिक दृष्टि से देखा जाय तो बंगाल के स्वामी रामकृष्ण परमहंस (१८३३—१८८६) साधारण विकास क्रम की अपेक्षा शीघ्र ऊँचे उठ गये थे। उनका मन इस संसार की ओर नहीं था; उनमें ईश्वर-दर्शन की प्रवृत्ति वर्त्तमान थी। यद्यपि वे विवाहित थे, किन्तु संसार के बन्धन उनके लिए बहुत कमज़ोर सिद्ध हुए, उनकी वृत्तियाँ आध्यात्मिक मार्ग की ओर अग्रसर हुईं और उन्होंने बहुत शीघ्र संन्यास ग्रहण कर लिया। उन्होंने सब धर्मों में एकता एवं अभिन्नता की खोज की और विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों के अनुकूल जीवन बिताने का प्रयत्न भी किया। छोटे मोटे काम अपने हाथ से करने में वह कभी न हिचके—अछूतों के घर में झाड़ू देने तक का काम उन्होंने किया। अन्त में उन्हें ईश्वर-दर्शन हुआ और उन्होंने आध्यात्मिक सत्य का अनुभव किया। उनके जगत्-विख्यात शिष्य स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—"सब धर्मों के मूल में छिपी हुई एकता को स्पष्ट

करके उसकी घोषणा करना ही मेरे गुरुदेव का जीवनोद्देश्य था। उन्होंने किसी धर्म का खण्डन नहीं किया; सबको अक्षुब्ध ही रहने दिया; क्योंकि उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि सब धर्म एक ही सनातन धर्म के अंश और अंग हैं।"

स्वामी विवेकानन्द (१८६२—१९०२) तथा अन्य कितने ही बड़े बड़े व्यक्तियों ने उनकी शिक्षाएँ ग्रहण कीं। केशवचन्द्र सेन उनके दर्शनार्थ गये थे। १८८६ ई० में उनकी मृत्यु हुई। उनके शिष्यों ने समुद्र पार अमेरिका तक में उनकी शिक्षाओं का प्रचार किया।

स्वामी विवेकानन्द—स्वामी विवेकानन्द एवं उनके साथियों ने रामकृष्ण की शिक्षाओं के प्रचार तथा दीन-दुखियों की रक्षा एवं रोगियों की चिकित्सा आदि के लिए एक बड़ी संस्था खोली। अमेरिका में समस्त विश्व के महान् धर्मों की जो बड़ी सभा (Parliament of Religions) हुई थी, उसमें विवेकानन्द ने भारत के प्रतिनिधि की हैसियत से हिन्दू धर्म पर बड़ा सुन्दर व्याख्यान दिया था। अमेरिका में उन्होंने कितने ही वेदान्त समाज खोले, जो अभी तक काम कर रहे हैं। उनकी शिक्षाओं ने एक बड़ी सुन्दर एवं पवित्र आत्मा को आकृष्ट किया। इनका नाम कुमारी मार्गरेट नोबुल था; पर इन्होंने अपना नाम बदल कर 'सिस्टर (बहन) निवेदिता' रख लिया और जन्म भर भारत की सेवा करती रहीं।

विवेकानन्द की शिक्षाओं ने राष्ट्रीयता और हिन्दू सभ्यता की शक्ति बढ़ाई। १९०२ में उनका देहावसान हुआ। उनका जीवन ज्ञान और सेवा का एक महान् उदाहरण था। उन्होंने रोगियों की सेवा शुश्रूषा की, पीड़ितों की सेवा की और दलित एवं दुःखित जनों को ऊपर उठाया।

थियासोफ़ी का आन्दोलन

थियासोफिकल सोसायटी किसी साम्प्रदायिक आन्दोलन के लिए नहीं वरन् सार्वराष्ट्रीय भ्रातृ-भाव के प्रचार के लिए है। १८७५ ई० में मैडम एच० पी० ब्लैवेट्स्की और कर्नल एच० एस० अल्काट द्वारा न्यूयार्क (अमेरिका) में इसकी स्थापना हुई। इसका मुख्य उद्देश्य यह दिखलाना है कि संसार और मानव जाति का विकास 'विकास की दैवी क्रिया-विधि' पर निर्भर है तथा सब धर्म इस

क्रिया-विधि की ही उपज हैं, अतएव उनमें परस्पर विरोध का भाव नहीं हो सकता।

इस तथ्य पर भी जोर दिया गया कि—"किसी देश का उद्धार उसी देश के स्वविकसित नेताओं द्वारा ही हो सकता है और होना चाहिए, बाहरी सहायता से नहीं।"

इन शिक्षाओं ने विभिन्न धर्मों के प्रति आदर और सम्मान के भाव उत्पन्न किये तथा लोगों में सहानुभूतिपूर्वक धर्मों के अध्ययन की प्रवृत्ति जाग्रत की। फल-स्वरूप इसके अनुयायियों में धार्मिक दृष्टि और राष्ट्रीय भावना को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ।

थियासोफिकल सोसायटी ने स्वप्रकाशित पुस्तकों और व्याख्यानों में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि धर्म और विज्ञान परस्पर विरोधी नहीं हैं। इससे अन्वेषणशील वृत्तियों का संदेह मिट गया। सभी जातियों एवं धर्मों के आदमी इसमें सम्मिलित हुए। उन्हें अपना धर्म छोड़ना नहीं पड़ा, बल्कि उलटे अपने तथा अन्य धर्मों के सर्वोच्च अंगों के समझने का अवसर मिला। इससे एक धर्मावलम्बी के मन में दूसरे धर्म के प्रति जो घृणा थी, वह धीरे धीरे दूर हो गई।

सोसायटी ने १८८२ ई० में अडयार (मद्रास) को मुख्य केन्द्र बनाया। इसने सीलोन, मद्रास, बनारस तथा अन्य अन्य स्थानों में अनेक स्कूल और कालेज खोले। इन संस्थाओं द्वारा शिक्षा प्रचार का बहुत कुछ कार्य हुआ है। सोसायटी ने एक बड़ी क्रान्ति यह की कि अपनी शिक्षा-संस्थाओं में, जहाँ स्वार्थत्यागी आदमी और विशुद्ध चरित के अध्यापक काम करते थे, धर्म के अध्ययन का प्रबन्ध किया।

जब से श्रीमती एनी बेसेण्ट ने सोसायटी का नेतृत्व ग्रहण किया, तब से इसके कार्यों में बड़ी उन्नति हुई है। उन्होंने अपना अधिकांश समय हिन्दू धर्म के अध्ययन एवं उसकी रक्षा में व्यतीत किया है। सोसायटी ने देश के राजनीतिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी आन्दोलनों में बहुत काम किया है तथा देश की जाग्रति या संघटन का एक कारण हुई है। यह भ्रातृभाव का ऐसा आन्दोलन है जिसमें जाति (Race), सम्प्रदाय, जाति-पाँति, रंग और स्त्री पुरुष का कोई भेद भाव नहीं; सब लोग इसमें शरीक हो सकते हैं।

हिन्दू धर्म के विकास में इन श्रेणियों तथा तज्जन्य सम्प्रदायों के होते हुए भी कहा जा सकता है कि यह संकीर्णता से आबद्ध नहीं है। उसमें सहानुभूति, सहनशीलता तथा सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा वर्तमान है; और इसका कारण यह है कि उसमें सब से ग्रहण करने का भाव है। इस प्रकार का कोई कट्टरपन इसमें नहीं है कि अमुक देवता की ही उपासना की जाय। प्रायः सभी देवताओं की पूजा होती है। तीर्थों में हिन्दू प्रायः सभी स्थानीय देवों की पूजा करते और प्रचलित उत्सवों में सम्मिलित होते हैं।

फ़िरके और उनके धर्म—भारत में अब भी अनेक फ़िरके हैं। ये जिन धर्मों में विश्वास रखते हैं, वे अनार्य हैं और बहुत आरंभिक काल के विचार रखते हैं। ये लोग विभिन्न वस्तुओं में निवास करनेवाले अथवा हैज़े, चेचक एवं पशु रोगों के अध्यक्ष भूत-प्रेतों को सन्तुष्ट रखने की चेष्टा करते हैं और अनगढ़ पत्थर, पेड़ों के थाले तथा सर्प इत्यादि को उनका प्रतिनिधि मानकर पूजते हैं। सन्थाल, गोंड़ और भील ऐसे ही फिरक़ों में हैं। जाति की पंचायतें अपने समाज के आचारों का पालन कराती हैं।

सम्प्रदायों में परस्पर मौलिक विरोध नहीं—विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों के पारस्परिक भेद इतने गहरे नहीं हैं कि उन्हें परस्पर विरोधी दलों में रखा जाय। उन सब का एक सामान्य इतिहास और सभ्यता है तथा वे सब मिलाकर दुनिया के एक विशिष्ट सांस्कृतिक व्यक्तित्व या एकत्व के रूप में प्रकट होते हैं। प्रायः प्रत्येक धार्मिक परम्परा या प्रयोग ने मानवात्मा को ईश्वर तक पहुँचाने की चेष्टा की है और वह सत्य स्थिति के गम्भीर ज्ञान पर आश्रित रहा है। प्रत्येक धर्मग्रन्थ उन महात्माओं की कृति के रूप में स्वीकृत किया गया है जो त्रिकालज्ञ और त्रिलोक-दर्शी थे, इसी लिए उन्हें सदैव स्थित-प्रज्ञ या पूर्ण ज्ञानी कहा गया है। उनके आत्म ज्ञान की अभिव्यक्तियों में भेद एवं भिन्नता हो सकती है, किन्तु वे परस्पर विरोधी नहीं हैं। सब एक सर्वोच्च वैश्विक शक्ति में विश्वास रखते हैं। महिम्न स्तोत्र (६) में यह बात इस प्रकार कही गई है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

रुचीनां वैचित्र्यादृजु कुटिल नाना पथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसार्णव इव ।

अर्थात् वेद-त्रय, सांख्य एवं योगशास्त्र में कहे हुए मतों में भेद है ; और यद्यपि पाशुपत मत एवं वैष्णव सिद्धान्तों में अन्तर है, कोई एक मार्ग को ठीक समझता है, कोई दूसरे को, और रुचि भेद के कारण लोग सीधे टेढ़े नाना पंथों पर चलते हैं, किन्तु इन बातों के होते हुए भी तुम उसी प्रकार सब के लक्ष्य हो, जैसे नदियाँ समुद्र में ही जाकर मिलती हैं ।

सत्य की अनेक-रूपता और सहनशीलता की आवश्यकता—

उपासना के प्रत्येक प्रकार अथवा लक्ष्य तक पहुँचने के प्रत्येक मार्ग में कुछ न कुछ सत्य है । ईश्वर अपने आपको नाना रूपों में व्यक्त करता है और सत्य या तथ्य के अनेक रूप हैं । यह बात अच्छी तरह समझ लेने के कारण लोगों में एक दूसरे के प्रति कुछ सहनशीलता का भाव उत्पन्न हुआ है । प्रत्येक समूह या सम्प्रदाय अपने ढंग से उन्नति करता और मन के संयम और सदाचार सम्बन्धी स्वनिश्चित मार्ग और नियमों पर चलकर सत्य तक पहुँचता है । इस प्रकार वह अपने जीवन और परम्परा का अपने ढंग पर निर्माण करता है । इतना होते हुए भी प्रत्येक सम्प्रदाय मानता है कि सब के ऊपर एक ऐसा सत्य है, जिसके पास तक पहुँचना ही सब सम्प्रदायों और मार्गों का उद्देश्य है । जब सभी एक ही जगह जाते हैं और उद्देश्य में भिन्नता नहीं है, तब मार्गों के सम्बन्ध में झगड़ने की आवश्यकता नहीं है । हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदाय सत्य के सर्वाधिकारी होने का दावा नहीं करते । सब प्रकार के हिन्दू धार्मिक विचारों में अध्यात्म ज्ञान को प्रधान स्थान दिया गया है । कोई आदमी अपने व्यक्तिगत संयम, संघर्ष और ज्ञान से परम पद या पूर्णावस्था प्राप्त कर सकता है । ईश्वर को अपने भीतर बाहर सर्वत्र माना गया है । आत्मा या ईश्वर की साधना का एक ही मार्ग नहीं हो सकता । प्रत्येक प्रकार के मनुष्य को, ऐसे गुरु के पथ-प्रदर्शन में जो स्वयं आदर्श तक पहुँच चुका है, अपने मार्ग और अपने उपायों का अवलम्बन करना चाहिए ।

१५—ज़रदुश्त का पारसी धर्म

जन्मदाता ज़रदुश्त—यह धर्म ज़रदुश्त ने चलाया था। प्रोफेसर जैक्सन के अनुसार ज़रदुश्त का समय ईसा पूर्व ६६० से लेकर ईसा पूर्व ५८३ तक है। कुछ लोग उन्हें इससे भी पहले का—ईसा के १००० वर्ष पूर्व का—मानते हैं। वह एक कुमारी लड़की से पैदा हुए थे। बचपन में ही बात चीत में उनमें प्रतिभा के चिह्न दिखाई पड़ने लगे थे। वे छोटी अवस्था में ही गरीबों और जानवरों के प्रति बड़ी ममता दिखाते और दुःख में उनकी सहायता करते थे। धार्मिक जीवन के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए १५ वर्ष की अवस्था में ही वह पवित्र कमरबन्द बाँधने लगे थे। २० वर्ष की अवस्था में माता-पिता की आज्ञा के बिना ही उन्होंने घर छोड़ दिया और धर्म-प्रचार के लिए भ्रमण करने लगे। जब वह ३० वर्ष के थे, तब उनको 'अहुरमज्द' ने प्रेरणा की कि तुम पवित्र बनकर पैगम्बर (देव-दूत) का काम करो। कुछ दिनों बाद उन्होंने एक विश्व-व्यापी धर्म की शिक्षा देने का विचार किया, जिसमें दुष्ट आदमी भी हृदय शुद्ध करके लिये जा सकें। उन्होंने अपने को—अपने जीवन, विचार, कार्य और वाणी को—पूर्णतः ईश्वर के अर्पण कर दिया। उनका धर्म सर्वद्रष्टा ईश्वर का धर्म था। किन्तु उपदेश के कुछ प्रारम्भिक वर्षों में उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई, अथवा हुई भी तो नगण्य सी थी; केवल एक आदमी ने उनका धर्म स्वीकृत किया। किन्तु इस विफलता से ईश्वर में उनका विश्वास कम नहीं हुआ। उन्होंने प्रार्थना स्वरूप कहा—"मुझे विश्वास है कि स्वयं तू इसे मेरे लिए पूर्ण करेगा।" ४२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने फारस के सम्राट् विस्तास्प, उसके भाई, पुत्र, एक सलाहकार, प्रधान मंत्री तथा अन्य अफ़सरों, कुल ८९ आदमियों को अपने धर्म में दीक्षित किया।

गृह-त्याग

फ़ारस के सम्राट् का धर्म-परिवर्तन—सम्राट् ने अपने राज्य में इस धर्म का ख़ूब प्रचार किया। ज़ोर शोर से प्रचार-कार्य आरम्भ हुआ। ७७ वर्ष की अवस्था में ज़रदुश्त की मृत्यु हो गई। पीछे उनके अनुयायियों ने उन्हें एक सर्वोच्च नैतिक दैवी महापुरुष माना और अहुर-मज़्द के साथ उनकी पूजा आरम्भ कर

दी। ज़रदुश्त ने मनुष्यों का ध्यान एक अच्छे और कल्याणकर देवता की ओर आकृष्ट किया। उनके अनुयायी उनकी पवित्रता की पूर्णता के कारण उन्हें मनुष्य मात्र में सर्वोच्च और सब से ज्ञानी समझते हैं। इन लोगों का यह भी विश्वास है कि केवल वही एक ऐसे महापुरुष हुए हैं जो बुराइयों को दूर कर सकते हैं।

उनकी मृत्यु

इस धर्म का पवित्र ग्रंथ 'अवेस्ता' या ज्ञान है। इसके एक अंश को गाथा कहते हैं जो ज़रदुश्त से सम्बन्ध रखता है।

६३७ ई० में अरबी मुसलमानों ने फ़ारस पर आक्रमण किया और इस देश के प्रायः सभी निवासियों को मुसलमान बना लिया। ज़रदुश्त के धर्म के कुछ थोड़े से अनुयायी बचकर आश्रय के लिए भारत चले आये; सन् ७१७ में भारत के पश्चिमीतट पर संजन नामक स्थान पर पहुँचे और आस पास बस गये। ये लोग अब पारसी कहलाते हैं।

शिक्षाएँ—इस धर्म के प्रधान देवता या उपास्य 'अहुरमज़्द' हैं जो प्रकाश, जीवन, सत्य और भलाई की शक्ति हैं।

"अहुरमज़्द स्रष्टा, प्रकाशमय, सम्माननीय, सब से महान्, सर्वोच्च, सर्व-सुन्दर, अति सुदृढ़, सर्वाधिक ज्ञानी, सब से अधिक पूर्ण तथा सर्वाधिक उदार शक्ति है।" (S. B. E. ३१;१९५-९६)

गाथा के अनुसार वह सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, मित्र, अच्छे विचारों, न्याय तथा विवेक का स्रष्टा, कल्याणकर और उदार है।

पाप-पुरुष का संघर्ष—ज़रदुश्त ने संसार की अपवित्रता और बुराई की निन्दा की। भलाई की विरोधी शक्तियों में अंगरा मैन्यू या अहरिमन सब से प्रधान है। संसार में परस्पर दो विरोधी शक्तियाँ हैं—एक बुरी, दूसरी भली। इन दोनों में सदैव संघर्ष होता रहता है। इन दोनों शक्तियों को सहायता करनेवाली बुरी भली अन्य छोटी शक्तियाँ भी होती हैं।

इस धर्म के अनुयायी सूर्य, चन्द्र, तारा-मण्डल, अग्नि, वायु, जल और

पर्वतों की पूजा करते हैं। सूर्य या अग्नि को 'अहुरमज़्द' का चिह्न ही समझते हैं।

इनके यहाँ पार्विक पवित्रता की एक नियमावली है, जिससे लोगों के स्वास्थ्य की रक्षा होती है। इनकी पूजा में नित्य प्रार्थना तो होती ही है, मौसिमी प्रार्थना भी होती है।

'अहुना-वैरो' = स्वामी (ईश्वर) की इच्छा ही का पुण्य का क़ानून है।

'अशेम-वोहू' = पवित्रता सब गुणों से महान् है।

"मैं अपने को यज्द का पूजक, ज़रदुश्त का अनुयायी, देवों (बुराई की शक्तियाँ) से घृणा करनेवाला तथा अहुर के नियमों को माननेवाला स्वीकार करता हूँ।" (S. B. E. ३१)

आदर्श ज़रदुश्तवादी वह है जो—"ऐ मज़्द, तुझसा ही ज्ञानी और निष्ठ और उदार हो।"

भिक्षा देना और दान करना बहुत बड़ा गुण समझा जाता है।

"जो दीनों को चिन्ता-मुक्त करता है, उससे 'अहुरमज़्द' प्रसन्न होता है।" (S. B. E. ४; २१०.)

अच्छे के साथ अच्छा और दुष्टों के साथ दुष्ट व्यवहार करने पर ज़ोर दिया गया है।

"चाहे कोई थोड़े का स्वामी हो या अधिक का, उसका कर्त्तव्य है कि सच्चे आदमियों से प्रेम का व्यवहार करे और झूठे के साथ उसी के अनुसार।"

"शत्रुओं के साथ न्याय का और मित्रों के साथ मित्र का सा व्यवहार करो।" तपस्या के लिए इस धर्म में कोई स्थान नहीं है।

"जो जितना ही अधिक अन्न, घास और फल उत्पन्न करता है, वह उतना ही सच्चा और पुण्यवान् है। वह मज़्द का धर्म प्रचलित रखता है। जो आदमी भोजन नहीं करता, उसमें पवित्रता का गुरु-गम्भीर कार्य करने की शक्ति भी नहीं आ सकती।" (S. B. E. ४; २९-३१)

पवित्रता को बहुत मूल्यवान् बताया गया है और उसकी रक्षा पर बहुत ज़ोर दिया गया है।

"हे सच्चे आदमी ! अपने को शुद्ध और पवित्र बना। इस संसार में कोई अपने को सुविचार, सुवाणी और सुकार्य (हु-यता, हु-कथा, हु-वर्षता) द्वारा स्वच्छ कर पवित्र बना सकता है।"

स्वर्ग-नरक—स्वर्ग सुविचारों का पुरस्कार, सुविचारों की वंशानुगत सम्पत्ति है। नरक दुष्टों का दंड है। इस प्रकार भलाई, पुण्य या नैतिकता का सुफल दिखाया गया है।

इस प्रकार की कल्पना भी मिलती है कि महशर या ईश्वरीय विचार के अन्तिम दिन सब मृतक जी उठते हैं और तब अन्तिम न्याय एवं निर्णय होता है।

वर्तमान समय में यह धर्म-परिवर्तन द्वारा दूसरों को अपने में मिलाने की नीति का समर्थक नहीं है। इसने जाति का रूप धारण कर लिया है, जिसमें जन्म पाने से ही आदमी उस धर्म का अनुयायी हो सकता है। भारत में पारसी अपने पड़ोसियों के साथ बड़ी शान्ति के साथ रहे हैं और रहते हैं। यह जाति बड़ी उद्योगी, प्रगतिशील तथा दानी है। पारसियों की संख्या कुल एक लाख है। सच पूछिए तो पहले ज़माने में ये लोग आर्यों की एक शाखा थे और ईरानी कहलाते थे। इनके देवता, पूजा-विधि तथा अन्य बातों में भारतीय आर्यों से बड़ा साम्य है। ईसा के पूर्व छठी शताब्दी और ईसवी तीसरी शताब्दी में फारसवालों ने भारत के कुछ हिस्सों पर शासन किया था ; इससे भारत और फारस में विचार और कला सम्बन्धी विनिमय हुआ होगा। भारत में ज़रदुश्तावलम्बियों के आने और बसने का उल्लेख भारतीय इतिहास के प्रारंभिक काल में भी मिलता है।

१६—ईसाई धर्म

महात्मा ईसा प्रवर्त्तक—ईसाई धर्म का जन्म तो एशिया में हुआ था, किन्तु अधिकतर इसका विकास युरोपियनों के उद्योग से युरोप में ही हुआ था। महात्मा ईसा मसीह इस धर्म के जन्मदाता थे और उनका काल चार वर्ष ईसा पूर्व सन् से ईसवी सन् २९ तक माना जाता है। उनके जीवन के विषय में बहुत ही थोड़े विश्वसनीय प्रमाण प्राप्त हैं। कहा जाता है कि किसी दैवी कारणवश

उनका जन्म एक कुमारी कन्या 'मेरी' से हुआ था, किन्तु फिर भी वे यूसुफ़ तथा मेरी की सन्तान माने जाते थे। उनका जन्म स्थान जूडिया प्रान्त के अन्तर्गत बैतुलहम् बतलाया जाता है और उनका बाल्यकाल गैलिली के नाजेरथ नामक स्थान में व्यतीत हुआ था। उनका कुल बहुत ही निर्धन था।

सुधार आन्दोलन में योग—तीस वर्ष की अवस्था में नैतिक तथा धार्मिक विकासों के लिए उन्होंने अपने चचेरे भ्राता जान बेप्टिस्ट के सुधार आन्दोलन में योग दिया। जिस समय उनको उस धर्म में दीक्षित किया जा रहा था, उनको दैवी प्रेरणा हुई; और उस आन्दोलन के त्यागने तथा कुछ समय तक तपस्या करने के उपरान्त उनको विश्वास हो गया कि वे दैव-प्रेरित कार्य करने में समर्थ हैं तथा ईश्वर के पुत्र हैं। जिस समय दण्ड स्वरूप जान बैप्टिस्ट को कारागार वास मिला तो वे नेता बन गये। सर्व साधारण ने उनके उपदेशों को ग्रहण किया; किन्तु यहूदी धर्म-गुरुओं ने उनको एक क्रान्तिकारी तथा उनकी शिक्षा को यहूदी कानून के विरुद्ध तथा भयंकर समझा और उन्होंने उनको दबाने का विचार कर लिया।

ईसा ने अपने बारह अनुयायी एकत्र कर लिये और उनको अपने उपदेशों का प्रचार करने के लिए भेज दिया। उनके उपदेशों को लोगों ने बहुत धीरे धीरे माना।

धर्म्म-गुरु उसकी चाल को सहन न कर सके। उन्होंने उनको गिरफ़्तार कर लिया और सर्वोच्च यहूदी न्यायालय ने उनको क्रास (सूली) पर फाँसी देने की आज्ञा दे दी। उन पर अपने आपको 'मसीह' (ईश्वर का पुत्र) घोषित करने का अपराध लगाया गया था। रोमन शासक पाइलेट ने उनके अपराध का विचार किया था और निर्णय सुनाते समय उसने कहा था कि नैतिक रूप से उनका कोई अपराध न था; किन्तु कानून की दृष्टि में वह अपराधी हैं और उनको फाँसी दी जानी चाहिए।

उनके उपदेश उच्च कोटि की नैतिकता से पूर्ण थे। पर्वत पर के उपदेश (Sermon at the Mount) इस बात के पूर्ण द्योतक हैं। कहा जाता है कि वे अपने सिद्धान्तों को छोटी छोटी शिक्षापूर्ण कहानियों तथा दृष्टान्तों द्वारा

व्यक्त करते थे। प्रकृति तथा ईश्वरीय महिमा पर उनका बहुत अधिक विश्वास था। वे कहते थे कि प्रकृति अत्यन्त सत्यशील है।

ऐसा उल्लेख है कि उन्होंने बहुत से रोगियों तथा दुष्ट आत्माओं और भूत प्रेत इत्यादि से पीड़ित मनुष्यों का उद्धार किया था।

उन्होंने ईश्वर तथा मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम तथा सेवा के धर्म्म की शिक्षा दी थी और वे धार्मिक संसार के एक महान् व्यक्ति हो गये हैं। उनके अनुयायी उनको ईश्वर तथा प्राणिमात्र का सच्चा और पक्का प्रतिनिधि मानते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि महात्मा ईसा ईश्वर की ओर से मनुष्य मात्र की रक्षा करने के लिए भेजे गये थे। वे ईश्वर के पुत्र और दैवी पुरुष के नाम से स्मरण किये जाते हैं। कहा जाता है कि फाँसी लगने के बाद वे फिर जीवित हो उठे थे, जो उनके पुनरुज्जीवन (Resurrection) के नाम से प्रसिद्ध है। वे हर समय ग़रीबों तथा पापियों की ही चिन्ता तथा सेवा करते थे। उनकी दस आज्ञाएँ (Ten Commandments) प्राचीन यहूदी पद्धतियों के अनुसार थीं जो महात्मा मूसा को सिनाई पर्वत पर ईश्वर द्वारा मिली थीं।

प्राचीन दस आज्ञाएँ

(१) मेरे अतिरिक्त किसी और को ईश्वर न मानो।
(२) किसी प्रकार की मूर्त्ति बना कर मत रखो।
(३) किसी का दासत्व स्वीकार न करो, न उसका अभिवादन करो।
(४) व्यर्थ अपने स्वामी ईश्वर का नाम मत लो।
(५) अपने माता पिता का सत्कार करो।
(६) हिंसा मत करो।
(७) व्यभिचार मत करो।
(८) चोरी मत करो।
(९) अपने पड़ोसी के प्रति असत्य-प्रमाण मत दो।
(१०) अपने पड़ोसी के गृह पर अधिकार करने की इच्छा मत करो।
(एक्सोडस, अध्याय २०)

सन्त पाल तथा यूरोप का धर्मपरिवर्तन—यद्यपि ईसा के अनुयायियों

को बहुत दुःख दिये जाते थे, तब भी उनका मत धीरे धीरे फैलता गया—टारसस के सन्त पाल (५०-६५ ईसवी) ने ईसा के सिद्धान्तों तथा उपदेशों का प्रचार किया। ईसाई मत को धर्म पुस्तक का नाम न्यू टेस्टामेन्ट (New Testament) है, जिसमें ईसा के जीवन, सिद्धान्तों तथा उपदेशों का उल्लेख है। शनैः शनैः समस्त योरोप ईसाई धर्म में दीक्षित हो गया और अब वह उसका सबसे पुष्ट गढ़ है। दीक्षित मनुष्यों के उत्साह ने इस धर्म का दूर दूर प्रचार किया और अब तो संख्या, प्रामुख्य तथा प्रभाव में यह सब धर्मों में अग्रगण्य है।

ईसाई धर्म्म में ही भिन्न भिन्न वर्ग और युद्ध—अब इस धर्म के कई सम्प्रदाय हो गये हैं और प्रत्येक सम्प्रदाय के अपने आत्मिक विश्वास, विचार-स्वातंत्र्य तथा धर्ममंदिर आदि हैं। पाश्चात्य प्रदेशों में प्रोटेस्टेण्ट (Protestants) तथा रोमन कैथोलिक (Roman Catholics) नामक दो सब से बड़े सम्प्रदाय हैं। कुछ यूनानी ईसाई भी हैं तथा भिन्न भिन्न प्रचारकों तथा धर्म-गुरुओं के और अनुयायी भी हैं। इन भिन्न भिन्न सम्प्रदायों ने अपने अपने विचारों के प्रचार के लिए बड़े भयंकर रूप से आपस में युद्ध तथा अत्याचार किये। बहुत से मनुष्यों को तो वैसे ही मार डाला गया अथवा आग में जीवित जला दिया गया, किन्तु आजकल राजनीतिक शान्ति विद्यमान रखने के लिए यह सब बातें बन्द हैं और वे लोग सहिष्णुता से काम लेते हैं।

ईसाई धर्मानुसार ईश्वर का स्वरूप—ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर एक है और प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि उससे भर सक प्रेम करे। वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सत्य, पवित्र, दयालु, न्यायप्रिय तथा प्रेम-पूर्ण है। ऐसा विश्वास है कि भविष्यत् में किसी समय ईश्वर का साम्राज्य पूर्णतया स्थापित हो जायगा। ईश्वर दुष्टों तथा पापियों को भी क्षमा कर सकता है। मनुष्य से भी आशा की जाती है कि वह क्षमाशील हो और 'शठं शाठ्यं समाचरेत' के अनुसार आचरण न करके बुराई के स्थान में भलाई करे। फाँसी लगते समय ईसा ने कहा था—"पिता, क्षमा कर! ये लोग नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं।" यह वाक्य आज तक ईसाइयों द्वारा पवित्र तथा मान्य माना जाता

है। ईश्वर प्राणी मात्र का पिता है। प्रायश्चित्त करनेवाले प्राणियों के प्रति वह उदार, प्रेमपूर्ण तथा क्षमाशील है तथा उनकी रक्षा करता है।

दूसरों को अपने में मिलानेवाला धर्म—ईसा तथा ईसाई लोगों ने बहुत सी बातें जूडा धर्म्म से ग्रहण की हैं, यथाः—न्याय का अन्तिम दिन (Last Judgement) स्वर्ग तथा नरक (Paradise and Hell).

आज दिन ईसाइयों की संख्या ५५ करोड़ है जो सारे संसार में फैले हुए हैं। इस धर्म्म की सब से बड़ी विशेषता यह है कि यह अन्य धर्म्मों को अपने में मिला लेता है। इसके प्रचारकों ने संसार में नये विचार, नई शिक्षा तथा रहन सहन के नये ढंग फैला दिये हैं। बहुधा इसके प्रचार के लिए ही भिन्न भिन्न राष्ट्रों में युद्ध हुए हैं; और युरोप में तो यह राजनीति का एक अंग ही बन गया था। केवल भारत में ही इस समय इस धर्म के अनुयायी लगभग एक करोड़ हैं। इस धर्म्म की बढ़ती देख कर अछूत तथा नीच जातियों के प्रति हिन्दुओं की जो उदासीनता थी, उसमें किंचित् परिवर्तन हुआ है। इसके प्रचार को देख कर ही हिन्दू सुधारकों ने इस बात का प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया है कि नीच से नीच जाति के मनुष्य को भी शिक्षा तथा उच्चादर्श और रहन सहन के ढङ्ग सिखलाकर समाज में समान स्थान दिया जाय। इस प्रकार ईसाई धर्म्म ने भारतवर्ष में समानता तथा भ्रातृ भाव का समावेश कर दिया है।

सन् १६२१ ई० में भारतवर्ष में केवल ५१ लाख ईसाई थे। बहुत पहिले से ही भारत में ईसाइयों का नेस्टोरियन (Nestorian) सम्प्रदाय वर्त्तमान था; किन्तु पुर्त्तगालियों के आने से उनकी संख्या में यथेष्ट वृद्धि हुई, क्योंकि वे कभी कभी धर्म-परिवर्त्तन के लिए बल-प्रयोग भी करते थे। आज दिन भी भारत में सैकड़ों विदेशी ईसाई प्रचारक दीक्षा, शिक्षा, चिकित्सा तथा समाज सम्बन्धी कार्य्य कर रहे हैं। मुख्यतः असभ्य तथा नीच जाति के लोगों में ही उन लोगों ने अपनी प्रधानता स्थापित कर रखी है। उन्होंने भारत में सैकड़ों पाठशालाएँ भी खोली हैं जिनका सब खर्च अधिकतर युरोपियन राष्ट्र ही देते हैं।

ईसा के पर्वत पर दिये हुए उपदेश (Sermon of the Mount) उनकी नई शिक्षा तथा सिद्धान्त हैं, जिनमें से मुख्य मुख्य नीचे दिये जाते हैं :—

(१) निर्धन आत्माएँ परम सुखी हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।

(२) आनन्दित वही हैं जो दुःख करते हैं, क्योंकि उन्हें सुख मिलेगा।

(३) विनयी धन्य हैं, क्योंकि वे पृथ्वी के अधिकारी होंगे।

(४) पुनीत वही हैं जो न्याय के लिए भूखे और प्यासे रहते हैं, क्योंकि वे परिपूर्ण होंगे।

(५) परम सुखी दयावान ही हैं, क्योंकि उन्हें दया प्राप्त होगी।

(६) पुनीत वही हैं जिनका हृदय पवित्र है, क्योंकि वे परमात्मा के दर्शन करेंगे।

(७) आनन्दित शांतिस्थापक ही हैं, क्योंकि वे परमात्मा के पुत्र कहे जायँगे।

(८) पुनीत वही हैं जो सत्य के लिए पीड़ित किये गये हों, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।

(९) परम सुखी तुम्हीं हो जब कि मनुष्य तुम्हें घृणा की दृष्टि से देखेंगे, तुम्हें दंड देंगे और मेरे लिए तुम्हारे विरुद्ध नाना प्रकार की असत्य बुरी बातें कहेंगे।

(१०) पर मैं तुम से कहता हूँ कि अरिष्ट में बाधा न पहुँचाओ, बल्कि जो कोई तुम्हारे दाहिने कपोल पर चपत मारे, दूसरा कपोल उसकी ओर फेर दो।

(११) मैं तुम से कहता हूँ कि अपने शत्रु से प्रेम करो ; जो तुम्हें शाप देते या बुरे शब्द कहते हैं, उन्हें आशीर्वाद दो; जो तुम से घृणा करते हैं, तुम उनकी भलाई करो ; जो तुम्हें दण्ड देते हैं और तुमसे शत्रुता का भाव रखते हैं, तुम उनके लिए परमात्मा से प्रार्थना करो।

१७—इस्लाम

संस्थापक मुहम्मद—'इस्लाम' शब्द ईश्वर की 'बन्दगी' का द्योतक है और मुसलमान वह है 'जो बन्दगी करे'। मुहम्मद (५७०-६२२ ई०) ने यह धर्म चलाया था। उन्हें इस्लाम का पैग़म्बर कहते हैं। उन्होंने इस धर्म की शिक्षाओं को, दैवी-प्रेरणावश, मुसलमानों के पवित्र धर्म-ग्रंथ 'अल्-कुरान' में संग्रथित किया। मुहम्मद का जन्म मक्के में हुआ, जहाँ धर्म का पुराना जङ्गली और मूर्तिपूजक रूप प्रचलित था। मुहम्मद कुरैश वंश के थे, जो काबा (इस मन्दिर में ३६० मूर्तियाँ थीं) का खान्दानी रक्षक और अधिकारी था। लड़कपन में मुहम्मद भेड़ें चराने का काम तथा व्यापारादि करते थे। उन्हें व्यापार के लिए सीरिया और पैलेस्टाइन भी जाना पड़ता था। अपने प्रारंभिक जीवन में भी वह बड़े नम्र, पवित्र एवं सुव्यवहार-शील थे। २५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने खदीजा नामक चालीस वर्ष की एक प्रौढ़ा स्त्री से विवाह किया, फिर भी उसके साथ वे सुखी हुए। जनता के तात्कालिक सामाजिक और नैतिक जीवन से वह बहुत असन्तुष्ट थे। अरब झगड़ालू फिरकों का देश था। ये मक्के की तीर्थ यात्रा के लिए साल में दो एक महीने युद्ध बन्द करते थे। यह वह जमाना था, जब अरब में मूर्ति-पूजा तथा कितनी ही जङ्गली सामाजिक प्रथाएँ प्रचलित थीं। लड़कियों को पैदा होते ही लोग मार डालते थे और युवती स्त्रियों को जीते जी गाड़ देते थे।

प्रारम्भिक जीवन

उनकी धार्मिक प्रवृत्तियाँ—४० वर्ष की अवस्था तक मुहम्मद का जीवन साधारण और घटना-रहित दिखाई पड़ता है। हाँ, अपने देश-वासियों के लड़ाई झगड़े और ईर्ष्या-द्वेष से वह खिन्न थे। ऐसा जान पड़ता है कि अपनी प्रारंभिक यात्राओं में वह यहूदियों, ईसाइयों तथा पारसियों के संसर्ग में आये थे और उनसे ईश्वर तथा समाज-सम्बन्धी कितनी ही बातें तथा विचार ग्रहण किये थे। अपने विवाह के बाद वर्षों तक उनका नियम था कि 'हीरा' पर्वत पर एक गुफ़ा में जाकर प्रार्थना करते और तन्मय होकर सृष्टि, जीवन, मृत्यु, पाप एवं

पुण्य के रहस्य समझने तथा विशृङ्खलता में क्रम एवं शृङ्खला ढूँढने का प्रयत्न करते थे।

चालीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने लोगों को अपना सन्देश देना आरंभ किया। मूर्ति-पूजा और बाल-हत्या के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया और ईश्वर की एकता प्रतिपादित करते हुए घोषणा की—"प्रत्येक मनुष्य के लिए जीवन का सच्चा आधार यह ज्ञान है कि ईश्वर की इच्छा सब मनुष्यों के कार्यों में कार्यशील है।"

हिजरत—'इस्लाम' धर्म का नाम है, जिसका उपदेश मुहम्मद ने किया। कुरान में उनकी शिक्षाएँ और सिद्धान्त मिलते हैं। आरम्भ में लोगों ने उनकी बातों की उपेक्षा की और उन्हें पागल ठहराया। इतना ही नहीं, उनके साथ बहुत कठोर व्यवहार किया गया और उन्हें प्राण-हरण तक की धमकी दी गई, जिसके कारण ६२२ ई० में ५२ वर्ष की अवस्था में उन्हें अपनी प्राण-रक्षा के लिए मक्के से मदीने भागना पड़ा। इस पलायन को मुसलमान लोग 'हिजरत' कहते हैं। इस हिजरत में केवल अबूबकर ने उनका साथ दिया। मक्कावालों ने उनका पीछा भी किया, पर मुहम्मद बाल-बाल बच गये। इतनी कठिनाइयाँ होते हुए भी दैवी सहायता में उनका विश्वास ज्यों का त्यों बना रहा और वह कहते रहे—"घबराओ नहीं, ईश्वर हमारे साथ है।"

प्रतिज्ञा—उनको अनेक बार मक्कावासियों से ही लड़ना पड़ा, पर अंत में वह विजयी हुए। मदीना नगर में उन्होंने अपने धर्म का उपदेश करना आरंभ किया। धीरे धीरे उनके बहुत से अनुयायी हो गये। इस धर्म में प्रवेश करनेवालों को निम्नलिखित छः प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती थीं—

(१) हम एक ईश्वर को छोड़कर और किसी की पूजा न करेंगे। (२) हम चोरी न करेंगे। (३) व्यभिचार नहीं करेंगे। (४) अपने बच्चों की हत्या न करेंगे। (५) किसी महापुरुष (ज्ञानी) का अपमान न करेंगे। (६) किसी सच्ची बात में पैगम्बर की आज्ञा का उल्लङ्घन न करेंगे। मुहम्मद ने मस्जिदें बनवाईं जिनमें दैनिक प्रार्थनाएँ की जाती थीं थता प्रति शुक्रवार को सामूहिक प्रार्थना होती थी।

सफलता—धीरे धीरे पहले के शत्रुओं के विरुद्ध मुहम्मद की सफलता और शक्ति बढ़ती गई और अंत में मक्के को भी उनके आगे झुकना पड़ा। इसके बाद तो उनका धर्म और राजनीतिक शक्ति बड़ी तेज़ी से सम्पूर्ण अरब में फैल गई। उन्होंने मूर्ति-पूजा की प्रथा का अंत कर दिया और यूनान, फ़ारस, मिस्र तथा एबीसीनिया के बादशाहों के पास संदेश भेजा कि हमारा धर्म स्वीकृत करो। ६३२ई० में ६२ वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हो गई। उनकी अन्तिम प्रार्थना यह थी—"हे ईश्वर! मुझे क्षमा कर। मुझे ऊँचे (स्वर्ग) लोक में अच्छे साथी दे। स्वर्ग-निवास की अनन्तता दे। मेरे अपराध क्षमा कर।"

अन्य पैग़म्बरों या महात्माओं से मुहम्मद में यह एक बड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है कि उन्होंने अपने धर्म के लिए युद्ध किया और एक ऐसी राजनीतिक शक्ति उत्पन्न की, जिसने उनके धर्म को दृढ़ और बहुदेश-व्यापी बना दिया। उनका जीवन सांसारिक था, तपस्या का नहीं। किंतु वह ईश्वर के एक बड़े भक्त एवं उपासक थे; और अपने मन में जो कुछ सत्य समझते थे, उसके लिए सब प्रकार के कष्ट झेलने को तैयार रहते थे। साथ ही वह सेनानायक, शासक और नियम-प्रणेता भी थे। पिछले काल में उनका प्रभाव इतना बढ़ गया था कि उनके मुँह से निकला हुआ शब्द ही क़ानून के समान माना जाता था। उनके अनुयायी उनके प्रति सदैव निष्ठ रहे और उनके लिए जान तक दे देते थे। साधारणतः उनका जीवन सादा था। अपना सब काम वह स्वयं करते थे; घर के कामों में पत्नियों की सहायता करते और अपने फटे हुए कपड़े स्वयं सीते थे। उनके पास सब की पहुँच थी।

"मेरी सारी सहायता ईश्वर में केन्द्रित है। मैं उसी में विश्वास करता हूँ और अपने को उसी की ओर प्रेरित करता हूँ।"

"अल्लाह में विश्वास रखो। एक मात्र अल्लाह रक्षा के लिए पर्याप्त है।"

मुहम्मद ने निम्नलिखित बातों की शिक्षा दी थी—

संदेश और शिक्षाएँ—(१) एक ईश्वर—अल्लाह में विश्वास।

(२) कुरान में विश्वास।

(३) महशर के दिन होनेवाले महान्याय तथा स्वर्ग और नरक में विश्वास।

यह माना जाता है कि महशर के दिन भेरी बजेगी। उस समय सब लोग अपनी कबरों से अल्लाह की ओर देखते हुए निकलेंगे। उस समय कर्मों के अनुसार लोगों को पुरस्कार और दण्ड मिलेगा और पुण्यात्माओं और पवित्र व्यक्तियों को निश्चय ही स्वर्ग-वाटिका में स्थान मिलेगा। वे उन सब वस्तुओं का उपयोग कर सकेंगे जो स्वामी उन्हें देंगे। अल्लाह नरक की यातनाओं से उन्हें बचावेगा।" फिर उनके लिए कहा गया है—"तुमने जो पुण्य-कर्म किये हैं, उनके फल स्वरूप क़तार में लगे कोचों पर आराम से लेटे हुए अच्छे हाज़मे से खूब खाओ पिओ। हम तुम्हें बड़ी आँखोंवाली कुमारियाँ और इच्छानुसार फल एवं मांस प्रदान करेंगे।" (S. B. E. ६ ; २४६-२६३)।

दुष्ट काफ़िरों के लिए कहा गया है कि "वे नरक में जलेंगे। वह एक बुरा आवास होगा।"

(४) प्रत्येक बात ईश्वर द्वारा पहले से ही निश्चित हो चुकी है।

"जो कुछ हमारे लिये लिख दिया गया है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।" (S. B. E. ६ ; १८०)

"उनकी हत्या तू ने नहीं की, वरन् ईश्वर ने ही उनकी हत्या की। तूने उन्हें गोली नहीं मारी, ईश्वर ने गोली मारी।" (S. B. E. ६-१६५)

(५) अपने पैग़म्बरों और देव-दूतों में विश्वास एवं श्रद्धा—

मुहम्मद अंतिम और सब से बड़ा पैग़म्बर है।

देत-दूत ईश्वर से मनुष्यों की रक्षा करने की प्रार्थना करते और ईश्वर के सिंहासन को घेरे रहते हैं।

निम्नलिखित प्रकार के आदमियों से ईश्वर प्रेम करता है—

जो भलाई करते हैं।

जो मुहम्मद के अनुयायी हैं और अभिमानी या डींग मारनेवाले नहीं हैं।

जो विश्वास रखते और तदनुकूल कार्य करते हैं।

जो अपने आदर्श के लिए युद्ध करते हैं।

उसकी गति समझ में नहीं आती। वह जिससे चाहता है, प्रसन्न रहता है और जिसे चाहता है, दण्ड देता है। उस (ईश्वर) के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण का भाव होना चाहिए।

ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और दयालु इत्यादि बताया गया है।

प्रत्येक मुसलमान के निम्नलिखित कर्त्तव्य हैं—

मुसलमानों के कर्तव्य—(१) हर रोज़ यह कलमा (वाक्य) पढ़ कर धर्म में अपना विश्वास प्रकट करे—"ला इलाह इल्लिल्लाह। मुहम्मद उर्रसूलिल्लाह।" अर्थात् अल्लाह को छोड़ कर और कोई ईश्वर नहीं; और मुहम्मद उस अल्लाह का पैग़म्बर है।

(२) मक्के की ओर मुँह करके दिन में तीन या पाँच बार प्रार्थना करना।

(३) दान करना। "जब युद्ध में तुम्हें लूट का माल मिले, तब याद रखो कि उसका पाँचवाँ हिस्सा अल्लाह, मुहम्मद, कुटुम्ब के समीपी सम्बन्धियों, अनाथों, गरीबों और मुसाफिरों का है।"

(४) रमज़ान के दिन में व्रत या उपवास।

(५) मक्के जाकर हज करना। वहाँ जाकर पवित्र मस्जिद की प्रदक्षिणा करना और काबे के सङ्ग असवद (काला पत्थर) को सात बार चूमना।

दो सम्प्रदाय—सुन्नी और शीया—६८० ई० में कर्बला की लड़ाई में हज़रत अली तथा उनके हसन और हुसैन नामक पुत्रों के मारे जाने के बाद मुसलमानों में सदा के लिए सुन्नी और शीया दो दल हो गये। शीया लोगों की फारस में बहुत अधिकता है। ये लोग सुन्नियों की अपेक्षा अधिक उदार होते हैं; इसलिए इनकी गति रहस्यवाद और तसव्वुफ़ की ओर रही है। ये लोग भारत में भी पाये जाते हैं।

उपर्युक्त दो सम्प्रदायों के अतिरिक्त मुसलमानों में और भी कई सम्प्रदाय हैं; जैसे—अहमदिया, वहाबी (बड़ा कट्टर और शुद्ध रूप में इस्लाम को मानता

है) तथा सूफ़ी (आत्म-समर्पणमय भक्ति के अनुयायी) इत्यादि। इतिहास में सर्वत्र इस्लाम धर्म ने सैनिक रूप में लोगों को अपने धर्म में मिलाया है। कुरान की सहायता और आधार लेकर ज़बरदस्ती भी धर्म-परिवर्तन कराया गया है।

"काफिरों और पाखण्डियों से निरन्तर युद्ध करो और उनके साथ कड़ाई का व्यवहार करो।" (S. B. E. ६;२६२)

"ईश्वर में विश्वास न रखनेवालों (काफिरों) से तब तक लड़ते रहो, जब तक कि वे दीनता स्वीकृत करके हाथों से ईश्वर को प्रणाम न करें।" (S. B. E. ६, १७६-१७७)

मूर्ति-पूजा और पौरोहित्य का विरोध—मुहम्मद ने मूर्तियों और पुजारियों द्वारा ईश्वर की पूजा पर ज़ोर न देकर सीधे ईश्वर की पूजा पर ज़ोर दिया। उन्होंने मूर्ति-पूजा के विरुद्ध लोगों में घृणा उत्पन्न की। कोई मुसलमान चाहे कहीं हो, उसे वहीं निश्चित समय पर प्रार्थना करनी चाहिए। वह कर्म में ही प्रत्येक पुरुष का जीवनादर्श देखते थे। संसार छोड़कर जङ्गलों में रहने और निराशा तथा आलस्य के जीवन की जगह जीवन की व्यावहारिक कठिनाइयों से युद्ध करने को वह महत्व देते थे।

मुहम्मद ने बिना जाति और रंग के भेद-भाव के सब के लिए अपने धर्म का द्वार खोल दिया। उनका कहना था कि यह धर्म स्वीकृत कर लेने के बाद ईश्वर की दृष्टि में सब बराबर हैं; इसी लिए अपने सामाजिक संघटन में उन्होंने सब को समान स्थान दिया और एक ही नियम सब पर समान भाव से प्रयुक्त किया। इस सुभीते से पिछड़े हुए लोगों को आगे बढ़ने का मौक़ा मिला। उन्होंने इसे सहज ही स्वेच्छापूर्वक स्वीकृत कर लिया; क्योंकि ऐसा करने से सामाजिक, नैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में उनकी मर्यादा पहले की अपेक्षा बढ़ गई। यह एक सरल धर्म था; इसने उपर्युक्त जातियों की आशा एवं पुरस्कार और दण्ड की प्रवृत्तियों को बहुत उत्तेजन दिया।

मुहम्मद ने उस आदमी को, जो काम करता है, बहुत अच्छा बताया है। "जो सचाई के साथ मेहनत करके अपनी जीविका उपार्जित करता है, वह ईश्वर का प्यारा होता है।" फिर कहा गया है—"ईश्वर उस पर कृपा रखता है, जो भिक्षा द्वारा नहीं वरन् अपने परिश्रम द्वारा अपनी जीविका उपार्जित करता है।"

दान की महिमा का भी उल्लेख मिलता है—"ख़ैरात या दान करना प्रत्येक मुसलमान का धर्म है। जिसके पास सीधे ख़ैरात करने का साधन या शक्ति न हो, उसे दूसरों की कोई भलाई करना या बुराइयों से बचना चाहिए। उसके लिए यही ख़ैरात है।"

"भूखे को खिलाओ और बीमार की देख भाल करो। दुखिया की, दलित की, फिर चाहे वह मुसलमान हो या ग़ैर मुसलिम, मदद करो।"

सहनशीलता के भाव निम्नलिखित वाक्यों में मिलते हैं—

"पूर्ण मुसलमान वही है, जिसके मुँह और हाथों से दुनिया रक्षित रहे।" फिर कहा गया है—"जो व्यभिचार या चोरी करता या शराब पीता है और जो ग़बन करता है, सावधान! सावधान! वह मुसलमान नहीं है।"

"जो एक ईश्वर और परलोक में विश्वास रखता है, उसे अपने पड़ोसी को हानि न पहुँचानी चाहिए।"

"तुम अपने स्रष्टा से प्रेम करते हो? हाँ, तो पहले अपने सहजीवी मनुष्यों से प्रेम करो।"

"जो मानव जाति से प्रेम नहीं रखता, उस पर ईश्वर दयालु नहीं होते।"

भारत में इस्लाम—भारत के पश्चिमी एवं पूर्वी समुद्र तटों पर तो बहुत पहले अरबों की व्यापारिक बस्ती बस गई थी, पर ७१२ ई० में जब उन्होंने सिन्ध विजय किया, तब से नियमित सम्बन्ध स्थापित हुआ। सुलतान महमूद के आक्रमणों और लूट-पाट के जमाने (१०००—१०२७ ई०) में जब उसने मूर्तियों और मन्दिरों को तोड़ना, धन की लूट और इस देश के निर्दोष आदमियों की हत्या आरम्भ कर रखी थी, भारत मुसलमान देशों तथा वहाँ के निवासियों और सभ्यताओं के प्रत्यक्ष संसर्ग में आया। मुहम्मद ग़ोरी की विजय (११९३ ई०) के बाद स्थायी रूप से भारत में मुसलमानी शासन की स्थापना हुई और तभी से यहाँ के निवासियों को सामूहिक रूप में मुसलमान बनाने की संभावना भी बहुत बढ़ गई। राजकीय शक्ति ने लोगों के मुसलमान बनाने के धार्मिक जोश को बड़ी सहायता एवं उत्तेजना दी।

अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति विरोधी भाव—इस्लाम ने अपनी शिक्षाओं द्वारा मुसलमानों और ग़ैर मुसलमानों के बीच विरोध का भाव उत्पन्न कर दिया। क़ुरान की सहनशीलतामय शिक्षाओं के होते हुए भी इस्लाम के अनुयायियों ने ग़ैर-मुसलमानों के विरुद्ध निरन्तर युद्ध (दारुल-हरब) का सिद्धान्त बना लिया। मुसलमान राज्यों की शक्ति केवल इसी सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने में लगने लगी। महत्वाकांक्षी शासकों ने अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं, लूट-पाट एवं सत्तानाश करने की वासनाओं के लिए इस सिद्धान्त का उपयोग किया। सुलतान मुहम्मद, अमीर तैमूर, औरंगज़ेब तथा अन्य कई शासकों ने अपने अपने समय में इस सिद्धान्त का सहारा लिया। इसका फल यह हुआ कि देश में शांति, सद्भाव एवं सहनशीलता उत्पन्न होने की जगह मुसलमानों की मूर्ति-भंजकता एवं बलपूर्वक लोगों को अपने धर्म में लाने की नीति से बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्मों को बड़ी हानि पहुँची। परिणाम स्वरूप आज भी भूत काल की ऐतिहासिक घटनाएँ और मानसिक विरोध के भाव मुसलमानों एवं अन्य धर्मावलम्बियों के बीच शांति-स्थापना के मार्ग में बाधक हो रहे हैं।

संख्या—मोटे तौर पर भारत में सात करोड़ मुसलमान हैं। इनमें एक तिहाई से अधिक तो बंगाल में हैं, और पंचमांश से कुछ कम पंजाब में हैं। इन दोनों प्रान्तों में इनकी संख्या प्रान्त की आबादी के आधे भाग से अधिक है। पश्चिमोत्तर-सीमाप्रान्त, सिन्ध और बलोचिस्तान में इनकी संख्या आबादी के ८० प्रति शत के लगभग है। काश्मीर में सारी जन संख्या का तीन चौथाई अंश मुसलमानों का है। अन्य प्रान्तों में इनकी संख्या हिन्दुओं से कम है। भारतीय मुसलमानों में से अधिकांश हिन्दुओं से धर्म-परिवर्तन द्वारा बनाये हुए मुसलमान हैं। मुसलमानी शासन और भूमि के मुसलमान मालिकों ने धर्म-परिवर्तन द्वारा मुसलमान बनाने की प्रवृत्ति को ख़ूब उत्तेजना दी।

इतने पर भी अभी तक इस प्रकार मुसलमान बनाये हुए लोगों में अनेक पुरानी रीतियाँ और पूर्वजों की परम्परा के प्रति अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ अवशिष्ट हैं। उदाहरणार्थ मृत आत्माओं का सम्मान और पूजा, हिन्दू ज्योतिषियों का साहाय्य-ग्रहण तथा अन्य बातें उपस्थित की जा सकती हैं।

सुन्नी—सुन्नी, जो परम्परावादी हैं, अधिक संख्या में हैं। ये क़ुरान के साथ सुन्नत (या रीति-रवाजों एवं परम्पराओं के संग्रह) को भी मानते हैं। शीया इस विचार के विरोधी हैं।

शीया—शीया लोग प्रथम तीन इमामों—अबू-बकर, उमर और उस्मान—को नहीं मानते। उनका कहना है कि दीन की आध्यात्मिक और सांसारिक शक्ति अली, हसन और हुसेन के द्वारा उनके वंशजों में निहित है। शीया उनकी शहादत की याद में मुहर्रम मनाते और ताजिये (जो इन शहीदों की क़ब्रों का प्रतिनिधि रूप होते हैं) निकालते हैं।

सूफ़ी—सूफ़ियों का विश्वास है कि मानवात्मा ईश्वर का एक विमुक्त अंग है और वह सदैव अपने उद्गम स्थल की खोज में, उससे मिलने के लिए बेचैन रहती है। उस ईश्वरीय उद्गम में मिल जाना ही उनका अन्तिम लक्ष्य होता है।

मोपला, बोरा और खोजा—भारत में दस लाख मोपले भी हैं। ये मालाबार में रहते हैं। दसवीं शताब्दी में जो अरब यहाँ आकर बस गये थे, ये उन्हीं के वंशज हैं। बोरा हिन्दुओं से मुसलमान बनाये हुए लोगों में से हैं। ये इस्माइली सम्प्रदाय के शीया हैं। खोजा या ख़्वाजा (सम्माननीय धर्म-परिवर्तनकारी) भी इस्माइली सम्प्रदाय के शीया हैं। इनके प्रधान गुरु बम्बई के आग़ा खाँ हैं।

१९—राष्ट्रीय जीवन में धर्म का स्थान

धर्म की उपयोगिता—अपने परम विकसित रूप में धर्म ऐसी आदर्श मान्यता पर ज़ोर देता है जो मानव जीवन की सर्वोच्च एवं परम मूल्यवान् पूर्णता के रूप में स्वीकृत की गई है। इसका निर्देश केवल भौतिक या आर्थिक भावमय या बुद्धिमय क्षेत्रों तक परिमित नहीं है। यह उनके सांसारिक, संकुचित तथा स्वार्थमय दृष्टिकोण को संस्कृत करती और सत्य आदर्शवाद, मानवतावाद एवं आध्यात्मिकता के उच्चतर क्षेत्रों से इनका निरीक्षण करती है। धार्मिक संस्थाएँ या

सम्प्रदाय व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के नियमों और बन्धनों तथा सिद्धान्तों और विधि-विधानों के रूप में ऐसे ऊँचे आदर्शों को कार्यान्वित करते हैं। ये नियम और विधान व्यक्तियों तथा कुटुम्बों पर इस प्रकार प्रयुक्त किये गये हैं कि उनके जीवन की धारा सरलतापूर्वक उन्हें मानव जीवन के उच्च सत्यों तक पहुँचा सके।

राष्ट्र और धर्म—राष्ट्र एक परिमित धारणा है। कुटुम्ब, जाति या फिरके की अपेक्षा यह निश्चय ही एक महत्तर एकत्व है; किन्तु जब हम जगत् या मनुष्य जाति को देखते हैं तो कहना पड़ता है कि यह एक छोटा और संकुचित समूह है। हम जानते हैं कि राष्ट्र की सीमा और उद्देश्यों तक ही जीवन का अन्त नहीं है। वह राष्ट्र की राजनीतिक, आर्थिक, बौद्धिक एवं नैतिक सीमाओं को पार कर जाता है। उसका विस्तार मानवता तक है और वह जगत् एवं उसके सर्वोच्च सत्य तक पहुँचना चाहता है। राष्ट्र तक ही जीवन की समाप्ति नहीं हो जाती, इसलिए तथा उपर्युक्त कारणों से राष्ट्रीय जीवन में धर्म का भी एक स्थान है। धर्म जगत् के सिद्धान्तों या विश्वव्यापी आदर्शों को निश्चित रूप देता है। राष्ट्र और राष्ट्रीय जीवन से उच्चतर वस्तुएँ भी हैं। मनुष्य एवं मानव जीवन के अनेक रूप एवं आकांक्षाएँ, सामान्य बन्धन और झुकाव ऐसे हैं जो विश्वव्यापी हैं और अन्तिम सत्यों की ओर अग्रसर करते हैं। अतएव अच्छे और आदर्श जीवन की एक आवश्यकता यह जानना भी है कि सर्वोच्च जीवन क्या है और इस ज्ञान की सहायता से अपने दैनिक जीवन को किस प्रकार कार्यान्वित या संस्कृत किया जा सकता है। जीवन की एकता, शांति, सहनशीलता और सेवा मानव जीवन की दैनिक आवश्यकताएँ हैं। इस धारणा की अनुभूति में धर्म ने मनुष्य की बड़ी भारी सहायता की है। धर्म ने लोगों को केवल व्यक्तिगत साधुता की ओर ही अग्रसर नहीं किया है, वरन् समाज को सुन्दर और अच्छा बनाने का श्रेय भी प्राप्त किया है। इसने मनुष्य को जगत् में अपना ठीक स्थान और संघटन के आदर्श की दृष्टि से अपने समूह, जाति या राष्ट्र का मूल निर्धारित करने को बाध्य किया है। इस प्रकार धर्म पूर्ण सत्य की भावना उत्पन्न करता तथा उसको दर्शन कराता है; और इस सत्य को आचार के ऐसे नियमों में संग्रथित करता है जो हमारे दैनिक जीवन को नियमित, संस्कृत

और संजीवित करते हैं। यह अन्तःकरण की गहराई से आनेवाले जीवन के तात्विक मूल्यों में विश्वास उत्पन्न करता, उस विश्वास को सुरक्षित रखता और उसके लिए नैतिक उत्तेजना उत्पन्न करता है। धर्म का यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण हमारे जीवन की एक आवश्यकता है। यह समाज को केवल अपनी ओर और अपने शुद्ध स्वार्थों तक परिमित न रहने का आदेश करता है और इहलौकिक तथा आध्यात्मिक जीवन के अन्योन्याश्रय या परस्परावलम्बी रूप का अनुभव कराने में सहायक होता है। इसके उच्चतम दृष्टिकोण के प्रभाव से संसार में दिखाई पड़नेवाली नाना प्रकार की विभिन्नताएँ मिलकर एक सामञ्जस्य-मय पूर्ण रूप में मिल जाती हैं और सहनशीलता, शन्ति, धैर्य, संतोष एवं आत्म-संयम इत्यादि गुण शक्ति-संचय द्वारा कार्यशील होते हैं। जैसे जगत् को अविभक्त और पूर्ण रूप में देखा जाता है, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य का मूल्य एवं मर्यादा अलग अलग आँकने का भी सुभीता हो जाता है। इस प्रकार धर्म द्वारा मनुष्य को दैवी रूप में और एक सच्चे नागरिक को ऐसे दैवी सेवक के रूप में देखा जाता है जिसका कर्तव्य अपनी शक्तियों के उपयोग द्वारा सब में सामंजस्य उत्पन्न करना और सब का विकास करना है। नागरिक की वह राष्ट्रीय धारणा, जो उसे केवल कर-दाता या मत-दाता (वोटर) के रूप में ग्रहण करती है, धर्म के प्रभाव में छोड़ देनी पड़ती है। धर्म का यह प्रभाव नागरिक को ऐसे दैवी प्रतिनिधि के रूप में ग्रहण करता है, जिसके जीवन को संस्कृत करने के कार्य में समाज एवं मानवता के प्रति कुछ ख़ास कर्तव्य हैं। बहुत निम्न श्रेणी के लोगों में तथा अस्पतालों, जेलों, गंदी कोठरियों एवं गलियों और युद्ध-क्षेत्रों में काम करना धार्मिक एवं नैतिक मनोभाव से उत्पन्न सेवा के उत्कर्ष का साधन है। और फिर प्रायः सभी कार्यों के सुन्दर भाव इसी के फल हैं। धर्म मनुष्य को उस सुन्दर अथवा पूर्ण जीवन की ओर ले जाता है जिसे प्राप्त करना या जिसकी ओर अग्रसर होना एक सच्चे नागरिक का कर्त्तव्य है।

धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धान्त

धर्म की एक नहीं अनेक धारणाएँ हैं। इसके सिद्धान्त एवं रीतियाँ विभिन्न देशों में विभिन्न व्यक्तियों एवं उनके अनुयायियों द्वारा भिन्न भिन्न रूपों में मानी

जाती रही हैं और आज भी मानी जाती हैं। विभिन्न धर्मों ने केवल अपने अपने रूपों और अभिव्यक्तियों को ठीक एवं दैवी या ईश्वर-प्रेरित बता कर परस्पर लड़ाई और एक दूसरे की निन्दा की है। इस प्रवृत्ति से विश्व में सामञ्जस्य और शांति स्थापित होने की जगह ख़ून-ख़राबी करके और जबरदस्ती धर्म-परिवर्तन ही ज्यादा हुआ है। धर्म की समस्या ऊर्ध्वकारी एवं अलौकिक वस्तुओं से सम्बन्ध रखती है; इसलिए धर्म-संस्थापक महात्माओं ने दैवी प्रेरणावश अनेक प्रकार से इसकी मीमांसा की है। इन महात्माओं के अनुयायी धर्म की आन्तरिक भावना की खोज का रास्ता छोड़ कर, उसके बाह्य रूपों से प्रलुब्ध होकर, अन्य धर्मों के बाह्य रूपों के विरुद्ध उठ खड़े हुए और अपने धर्म के सिवा अन्य सब धर्मों के प्रति असहिष्णुता की प्रवृत्ति ग्रहण करते गये। यही हाल आज तक है। किन्तु धर्म यदि तत्वतः कोई चीज़ है तो उसमें सब के प्रति सहिष्णुता, प्रेम और सेवा के भाव अवश्य होने चाहिएँ; बाहरी रूपों और विधियों के पालन मात्र में कोई धर्म नहीं हो सकता। दूसरों के धार्मिक विचारों के प्रति सहिष्णुता केवल पड़ोसी के सुभीतों एवं उपयोगितावादी सिद्धान्तों की दृष्टि से ही आवश्यक नहीं है, वरन् एक सच्ची धार्मिक प्रवृत्ति या सिद्धान्त है। स्वतंत्रता अथवा धार्मिक विश्वासों में सहिष्णुता के इस सिद्धान्त की आवश्यकता भारत ने बहुत प्राचीन एवं प्रारंभिक काल में ही अनुभव की थी। जाति के धार्मिक जीवन और अनुभवों की वृद्धि के साथ साथ उसका यह अनुभव भी दृढ़तर होता गया। महान् सम्राट् अशोक ने अपनी एक घोषणा में यह भाव व्यक्त किया है। भारत में यह धार्मिक सहिष्णुता धीरे धीरे जाति के जीवन का एक जीवित सिद्धान्त बन गई और इस प्रकार इसने धार्मिक संघर्षों और युद्धों का निराकरण किया तथा लोगों को अपनी इच्छा एवं विश्वास के अनुसार धर्म-ग्रहण की स्वाधीनता प्रदान की। यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों ने यह सिद्धान्त नहीं माना। जब तक इस देश में एक धर्म रहा और उस धर्म में सम्प्रदाय भेद नहीं हुए, तब तक यहाँ शांति रही। किन्तु देश में नये मतों के उत्पन्न होने तथा आक्रमण, संघर्ष एवं विदेशी शासन में दूसरे धर्मों के संसर्ग में आने के बाद विरोध तथा लड़ाई झगड़े शुरू हो गये; क्योंकि पहले की धार्मिक एकता नष्ट हो गई थी।

वर्तमान समय में कोई देश ऐसा नहीं है जिसमें एक ही धर्म और एक ही

मत रखनेवाले लोग बसते हों। अतएव अपने राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कल्याण के लिए लोगों को धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धान्त ग्रहण करना आवश्यक एवं अनिवार्य है; फिर चाहे उनके पुराने विचार और प्रवृत्तियाँ कैसी ही रही हों। सच्चा धर्म-भाव और राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकताएँ हमें धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धान्त स्वीकृत करने एवं उसका पालन करने को बाध्य करती हैं। जो नागरिक इस सिद्धान्त का विरोध करते हैं, वे न धार्म्मिक हैं, न राष्ट्रीय और न मानवी। भारत एक ऐसा देश है जिसमें सब धर्मों के अनुयायी बसते हैं। अतएव जो देश-वासी यह सिद्धान्त नहीं मानते अथवा इसका पालन नहीं करते, वे धर्म, नैतिकता और मानवता के शत्रु हैं। वे देश के विकास में बाधा डालते और उसके जीवन की हत्या करते हैं। कोई राज्य धार्मिक असहिष्णुता सहन नहीं कर सकता। धार्मिक उपासना की स्वतंत्रता वर्तमान जीवन की एक बहुत ही जरूरी शर्त (*Sine qua non*) है। इस ज़माने में असहिष्णुता की आध्यात्मिक धारणा को निर्मूल करना पड़ेगा। सभी प्रकार के उच्च विचार और उच्च-जीवन इसका समर्थन करते हैं।

पाँचवाँ परिच्छेद

सामाजिक जीवन

किसी जाति का सामाजिक जीवन उसकी संस्थाओं, रीति-रवाजों और विश्वासों द्वारा अभिव्यक्त और संघटित होता है। भारतीय जीवन में इन रीति-रवाजों की खासी भिन्नता है। लोगों के दिमाग़ में ये बहुत गहराई तक बद्ध-मूल हो गये हैं। उनका उद्भव और विकास भूत काल में हुआ था और आज भी वे भारत के सामाजिक जीवन की विशेषताओं का निदर्शन करते हैं। भाँति भाँति के प्रभावों से इनमें परिवर्त्तन होते रहते हैं, हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे। लोकनीति के अध्ययन के सिलसिले में इनमें से कुछ मुख्य संस्थाओं, रीति-रवाजों और विश्वासों से परिचित होना ज़रूरी है।

भारत की समाज-संस्थाएँ—भारत के सामाजिक जीवन पर प्रधानतः बहुत प्राचीन वर्ण, जाति और अविभक्त कुटुम्ब की प्रथाओं का प्रभाव पड़ा है। ये संस्थाएँ हैं और वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर इनका निर्माण हुआ है।

१—वर्ण

वर्ण सम्बन्धी धारणा—वर्ण का वास्तविक अर्थ रंग है; परन्तु सामाजिक व्यवहार में यह एक जाति, समूह या फिरके के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेदों में इसके मूल का पता लग सकता है। पुरुष-सूक्त (ऋ० १०) में सृष्टि का जो रूपक है, उसमें ब्रह्म के उन अंगों का वर्णन मिलता है जिनसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का प्रादुर्भाव हुआ। सृष्टि का यह सिद्धान्त अत्यधिक रूपकमय, काल्पनिक और आलंकारिक है। इसके अनुसार ब्राह्मण और अग्नि दोनों 'पुरुष के मुख से प्रादुर्भूत होते हैं, शूद्र और पृथिवी का जन्म उसके चरणों से होता है, राजन्य या क्षत्रिय उसकी बाहु से उत्पन्न होते और वैश्य उसकी जङ्घा से जन्म ग्रहण करते हैं।' मनु

एवं अन्य स्मृतिकारों ने इस वैदिक सिद्धान्त के बल पर समाज के चातुर्वर्ण्यात्मक स्थायी विभाजन-क्रम को स्वीकार कर लिया। समाज ने बड़े कट्टरपन के साथ इस क्रम का अनुगमन किया। वेदों में लोगों के यजनशील और अयजनशील अर्थात् आर्य और अनार्य दो भाग मिलते हैं। जिन्होंने वैदिक धर्म को स्वीकार नहीं किया, वे अव्रत, अन्यव्रत, अकर्मण या अब्राह्मण नाम से निर्दिष्ट किये गये। कुछ ऐसे लोग भी थे जो अनस् (नासिका रहित), कृष्णत्वच (काले चमड़ेवाले) और दस्यु अथवा शूद्र नाम से पुकारे जाने लगे। आर्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्णों में विभक्त अवश्य थे, पर इस क्रम का दृढ़ता के साथ पालन नहीं होता था। वर्ण वस्तुतः सांसारिक जीवन के लिए किये जानेवाले कामों और पेशों पर निर्भर थे और यह क्रम समाज-हित के लिए आवश्यक भी था। उपाध्याय और पुरोहित ब्राह्मण कहलाते थे। शासक और राज-कार्य चलानेवाले क्षत्रिय होते थे। कृषक, व्यापारी और महाजन (Bankers) वैश्य में गिने जाते थे और कारीगर तथा मज़दूर या श्रमजीवी वर्ग शूद्र कहलाता था। लोग अपनी योग्यता और पद के अनुसार वे धन्धे किया करते थे। किन्तु वर्ण विभाग के अनुसार वे मनुष्यों के किसी एक वर्ग में परिमित नहीं रहते थे। गुण या रुचि के अनुसार ही मनुष्य के विशेष धन्धे का निर्णय होता था। वर्ण सिद्धान्त की इसी विवेचना का श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादन किया गया है। धीरे धीरे प्रत्येक वर्ण या ख़ास ख़ास धन्धे के मनुष्य या मनुष्य-समूह एक दूसरे में मिल गये और उनकी जातियाँ बन गईं। अब उनके लिए किसी दूसरे धन्धे में पड़ना निषिद्ध और पतन का कारण माना जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि कालान्तर में वर्ण शब्द का व्यवहार जाति विशेष के लिए होने लगा। पर मूलतः बात कुछ और ही थी। जब वर्ण (रंग) या कार्य्य के प्रकार से उत्पन्न वर्ण-सिद्धान्त लुप्त हो गया या जब वह जन्म और बहिष्कार से उत्पन्न जाति-सिद्धान्त में लीन हो गया, तब एक नये हिन्दू धर्म की नींव पड़ी जो अपने रीति-रवाजों और सामाजिक बन्धनों में कठोर है।

२—जाति

जाति मनुष्यों के उस समूह को कहते हैं जो मूल में समान होता है और आपस में विवाह तथा खान-पान के बन्धनों से सम्बद्ध रहता है। भारत में प्राचीन

काल से ऐसी जातियाँ बहुत संख्या में बसी हुई हैं। ख़ास ख़ास जातियाँ वर्ण क्रमानुसार ख़ास ख़ास उद्योग धन्धे करती थीं; कोई दूसरा धन्धा नहीं करती थीं। धीरे धीरे लोगों में यह भावना और विश्वास फैलने लगा कि अपना धंधा छोड़कर दूसरे का अथवा कोई नया धंधा करना शास्त्र की दृष्टि से निषिद्ध और पतित होना है। इस प्रकार प्रारम्भिक काल में नये धंधे करने की जो स्वतंत्रता थी, वह नई रीतियों और नूतन शास्त्रीय व्यवस्थाओं के कारण शीघ्र ही लुप्त हो गई। इस प्रकार वर्ण-सिद्धान्त में निर्वाचन की जो स्वतंत्रता थी, उसका स्थान मर्यादा अथवा जाति के बन्धनों ने ले लिया। मर्यादा और धंधे का परिवर्तन निषिद्ध कर दिया गया; मनुष्य की उन्नति का क्षेत्र समाप्त हो गया। वैदिक काल में वर्ण से वंशानुगत या पारम्परिक जाति का अभिप्राय नहीं लिया जाता था। यद्यपि उन दिनों भी कार्यों की विविधता और उनके भेद माने जाते थे, पर उनके लिए कुछ ख़ास जातियाँ या पारम्परिक वर्ग निश्चित नहीं हुए थे। ब्राह्मण से परम्परागत पुरोहित का अर्थ नहीं लिया जाता था। यजन, अध्यापन और प्रतिग्रह (दान लेना) का काम अब्राह्मण भी करते थे। वर्ण का परिवर्तन सम्भव था। एक ही मनुष्य विभिन्न धंधे कर सकता था।

जाति की धारणा का उत्थान—परन्तु धीरे धीरे जाति के सिद्धान्त का उत्थान हुआ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम की विशेष जातियाँ विशेष वर्णानुगामी धंधे ही कर सकती थीं। इस क्रम के अनुसार इस जन्म में धंधों का परिवर्त्तन अथवा एक विशेष धंधे में उच्च मर्यादा की प्राप्ति असम्भव मानी जाती थी। इस प्रकार प्रत्येक वर्ण या कर्म या धंधा उच्च या नीच पद या मर्यादा का निदर्शक बन गया। ब्राह्मणों का धंधा पद और महत्व में सर्व-श्रेष्ठ माना जाने लगा। उनके बाद क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का महत्व माना गया। जिन्होंने ब्राह्मणों का धंधा अपनाया, वे सब से अधिक आदर के पात्र हुए। अन्य तीनों वर्णों के पेशों को अपनानेवाले उपर्युक्त क्रम के अनुसार मर्यादा में क्रमशः उनसे घट कर माने गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल के बाद प्रारंभिक समय में ही न केवल चार वर्ण थे, बल्कि अनेक जातियाँ भी बन गई थीं, जो चारों वर्णों में से किसी न किसी के अन्तर्गत थीं। और जब एक जाति के लिए धंधे का परिवर्तन करना निषिद्ध कर दिया गया,

तब उसका वह कर्म या धंधा भी उसी तक सीमाबद्ध हो गया ; अर्थात् वह उसी एक जाति का एकाधिकृत धंधा बन गया, दूसरी जातियों से उसका कोई सम्बन्ध न रहा। इस तरह वर्ण और जाति शब्द समानार्थवाची हो गये। ब्राह्मण, जो मूलतः एक विशेष धंधा करनेवालों का वर्ग था, जाति के रूप में बदल गया। यह परिवर्त्तन वैदिक काल के बादवाले समय में दिखाई पड़ता है। मूलतः जाति किसी धंधे पर आश्रित न थी। उसका आधार वह सत्य या काल्पनिक सम्बन्ध था जिसके अनुसार सगोत्र और बहिर्गोत्र में विवाह प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा का आधार गोत्र और प्रवर की प्रणाली थी। गोत्रों से तात्पर्य वंश के सर्वप्रथम पूर्वजों से है और प्रवरों से उनकी प्रमुख सन्तानों का बोध होता है। इन्हीं के आधार पर, कालान्तर में, विवाह और खान पान सम्बंधी नियम बनाये गये। प्राचीन काल में विभिन्न जातियों में सार्वजातीय विवाह और सार्वजातीय सहभोज की प्रथाएँ प्रचलित थीं। इसमें प्रतिबन्ध इतना ही था कि उच्च जाति के पुरुष नीची जाति की कन्या ग्रहण कर सकते थे ; और इस प्रणाली का नाम अनुलोम विवाह था। इसके विपरीत नीची जाति के पुरुषों का उच्च जाति की कन्याओं से कोई विधि-विहित सम्बन्ध न हो सकता था। दूसरे शब्दों में प्रतिलोम प्रणाली न्याय-विधान के प्रतिकूल थी। यदि इस प्रकार का कोई सम्बन्ध हो जाता, तो समाज उन स्त्री-पुरुषों को दण्ड देता और उन्हें बहिष्कृत या जाति-च्युत कर देता था। इस प्रकार प्रतिलोम विवाह करनेवालों को भी अछूत जातियों में सम्मिलित होना पड़ता था।

जाति का मूल—जाति की धारणा का आधार जन्म है। रक्त और वर्ण (रंग) की शुद्धता तथा सामाजिक और धार्मिक रीति रवाजों एवं विचारों की एकता स्थिर रखने लिए ही इस धारणा का जन्म हुआ होगा। जाति को हम वृद्धिशील कुटुम्ब का विकसित वर्ग नहीं मान सकते, क्योंकि प्रत्येक जाति में परस्पर भिन्न, परन्तु सम्बद्ध कुटुम्ब होते हैं। जाति का आधार कोई खास आर्थिक पेशा भी नहीं हो सकता ; क्योंकि एक ही जाति के सदस्य एक ही समय में परस्पर भिन्न पेशे करते थे और आज भी स्वेच्छानुसार विभिन्न उद्योग धंधों में लगे रहते हैं। समान धार्मिक और सामाजिक आचार-विचारों ने ही समान कुटुम्बों को जाति

से सम्बद्ध कर दिया था। धीरे धीरे इन जातियों ने अपनी जीविका के क्षेत्र विशेष विशेष सीमाओं में बद्ध कर लिये; और जब जीविका के लिए धंधों में भी ऊँच नीच का भेद भाव होने लगा, तब पहले की एक एक जाति में भी अनेक दल बन गये। इस प्रकार उपजातियों की उत्पत्ति हुई और लोगों की सामान्य धारणाओं तथा रीति-रवाजों में थोड़ा बहुत परिवर्त्तन हुआ। आचार-विचार और उत्सव-त्योहारों की विभिन्नता ही उपजातियों को एक दूसरी से अलग रखने का एक प्रधान कारण रही है। रक्त और वर्ण की पवित्रता बनाये रखने की इच्छा भी इसका एक कारण है। इस प्रकार जाति से प्रधानतः, रक्त, खान-पान और आचार-विचार की पवित्रता की एक निश्चित कल्पना का बोध होता है। वर्ण (रंग) को क्षीण होने और आचार के आदर्शों या रीति-रवाजों को संघर्ष से बचाने के लिए जाति एक प्रकार की ढाल थी। सम्भवतः ब्राह्मणत्व ग्रहण करनेवाली जातियों ने ही जातिगत विभिन्नता, विच्छिन्नता तथा धंधों की कठोरता निश्चित करने में अग्रणी का काम किया होगा। ये जातियाँ (ब्राह्मण) ही आर्य संस्कृति की उपदेष्टा और संरक्षक थीं। दूसरों ने इस विषय में इन्हीं का अनुकरण किया होगा और प्रत्येक जाति एवं वृत्ति के लोग कुछ अन्य जातियों से अपने को श्रेष्ठ समझने लगे होंगे। यह तो स्पष्ट ही है कि विदेशी जातियों के संसर्ग और संमिश्रण के कारण लोगों की बोल चाल, आचार-विचार, वर्ण और आदर्श का बहुत कुछ ह्रास हो चला था; इसी लिए लोगों के मन में सार्वजातीय विवाहों के प्रति रोष और दुर्भावना उत्पन्न हुई। उच्चतम आर्य संस्कृति की पवित्रता की रक्षा के लिए लोगों ने सार्वजातीय विवाहों का विरोध किया। वेदाध्ययन के लिए जिन जिन प्रतिबन्धों का उल्लेख है, उनसे इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

सहभोज—प्राचीन काल में सार्वजातीय सहभोज की प्रथा प्रचलित थी। महाभारत से पता चलता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य एक दूसरे के हाथ का बनाया हुआ भोजन कर सकते थे। मनु (४—२२३) कहते हैं कि द्विजाति को शूद्र के हाथ का बनाया हुआ अन्न ग्रहण न करना चाहिए; किन्तु अध्याय ४ के २५३ वें श्लोक में वही मनु यह भी कहते हैं कि द्विज उस शूद्र के हाथ का पकाया हुआ अन्न ग्रहण कर सकता है जो उस पर आश्रित हो, या उसके यहाँ नाई, ग्वाले.

दास आदि का काम करता हो कुटुम्ब का हित-चिन्तक या मित्र हो अथवा कृषि सम्बन्धी आय में उसका हिस्सेदार हो। द्विजाति में तो परस्पर सहभोज की प्रथा प्रचलित थी ही। बाद में शाकाहार और भोजन की स्वच्छता के विचारों में सार्वजातीय सहभोज की प्रथा पर अंकुश रखना आरम्भ कर दिया गया।

भारतीय सामाजिक इतिहास के काल विभाग—इस प्रकार हम भारतीय सामाजिक इतिहास को चार कालों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) वैदिक वर्ण-काल—ईसा के ८०० वर्ष पूर्व तक का समय जब कि धंधों का निर्णय जन्म के अनुसार नहीं होता था।

(२) मनु-कालिक वर्ण-जाति-काल—ईसा के ८०० वर्ष पूर्व से लेकर २०० वर्ष पूर्व तक का काल। इस काल में धंधे धीरे धीरे खास खास जातियों के हाथ में जा रहे थे, किन्तु इतने पर भी किसी धंधे पर किसी खास जाति का अधिकार नहीं था। चाण्डालों और अस्पृश्यों के पृथक् होने का भी यही समय था।

(३) मनु के बाद का जाति-काल—ईसा के २०० वर्ष पूर्व से सन् ६०० ई० तक। इस काल में जाति किसी खास धंधे तथा ऊँच नीच पद या मर्यादा की द्योतक बन चुकी थी।

(४) जातियों एवं उपजातियों की वृद्धि का काल।

इस प्रकार चार जातियों का आधार कोई वैदिक सिद्धान्त नहीं था। उस समय तो धंधों और पेशों को उनके महत्वानुसार चार आदर्श भागों में विभक्त कर दिया गया था। अगर चार वर्णों से सम्बन्ध रखनेवाला कोई सिद्धान्त था भी तो वह केवल आदर्श रूप में था और अभी तक उसी काल्पनिक रूप में विद्यमान है। उसका यह आदर्श रूप भारतीय इतिहास के किसी काल में अनुभूत नहीं हो सका।

कौटिल्य के अर्थ शास्त्र के अनुसार सदैव के लिए चारों वर्णों के निम्नलिखित कार्य ठहराये गये हैं—

(१) ब्राह्मण वर्ण के कर्म—यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह।

(२) क्षत्रिय वर्ण के कर्म—यजन, अध्ययन, दान, शस्त्राजीव और भूत-रक्षण (जीवों की रक्षा)।

(३) वैश्य वर्ण के कर्म—यजन, अध्ययन, दान, कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य और कुसीद या लेन-देन अथवा बैंकिङ्ग।

(४) शूद्र वर्ण के कर्म—द्विजाति की सेवा, वार्ता (कृषि में मज़दूरी) और कारु कुशीलव कर्म (शिल्प या कारीगरी)।

समाज का काम ठीक तरह से चलाने के लिए इन कर्त्तव्य कर्मों का योग्यता-पूर्वक करते रहना अत्यन्त आवश्यक था। और इसी लिए एक समान प्रकार के कर्त्तव्यों को, जिनके सम्पादन में विशेष योग्यता एवं कौशल की आवश्यकता पड़ती थी, एक श्रेणी में विभक्त किया जाता था तथा दूसरे प्रकार के कर्त्तव्यों को दूसरी श्रेणी में। कुछ ऐसे नीच धंधे भी थे जो अछूत समझे जानेवाले चाण्डाल लोग किया करते थे। ऐसा जान पड़ता है कि प्रारंभ में ये धंधे किसी एक जाति तक परिमित नहीं थे; किन्तु कालान्तर में कुछ विशेष जातियों ने उच्च उद्योग धंधों पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया और हलके एवं नीच काम अपने से छोटी जातियों पर डाल दिये।

जातियों की वृद्धि—जातियों के एक दूसरी से अलग रखने में रक्त और वर्ण की शुद्धता और आचार-विचारों एवं रीति-रवाजों की समानता के सिद्धान्त ही मुख्य थे। किन्तु जब जन-संख्या की वृद्धि के कारण लोग उन प्रदेशों में जाकर बसने लगे जिन्हें अपवित्र और निवास के अयोग्य समझा जाता था, तब उस प्रदेश के रीति-रवाजों के संसर्ग और संमिश्रण से नई जातियाँ बनती गईं। एक ही जाति के लोग पुराने प्रदेशों में ही रहे, वे नये प्रदेशों में जाकर बस जानेवाले अपनी जाति के ही दूसरे आदमियों को उनकी विदेशी चाल ढाल, वाणी, उद्योग धन्धे और रवाज के कारण उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे। विभिन्न प्रान्तों में बाहर से नई नई जातियों के आ बसने से भी जातियों की संख्या में अभिवृद्धि हुई। यद्यपि नई आनेवाली जातियाँ धीरे धीरे स्थानीय रीति-रस्मों को अपना लेती थीं, पर फिर भी विदेशजन्मा होने के कारण उस प्रान्त की कट्टर जातियों में उनका समावेश होना कठिन होता था। फिर

जो लोग सनातन प्रथाओं को तोड़ते और उनका निरादर करते थे, वे भी समाज-बहिष्कृत या जातिच्युत होकर अपना एक नया दल बना लेते थे। बाद में आर्थिक कारणों से व्यापारियों, वैश्यों और कारीगरों की विशेष श्रेणियों या संघों का निर्माण होने लगा। परिणाम स्वरूप धन्धेजातियों के समानार्थवाची बन गये और इस तरह ऐसे छोटे छोटे वर्गों या जाति-उपजातियों का निर्माण हुआ, जो किसी खास तरह का व्यापार अथवा उद्योग करती थीं। नये नये धर्मों और सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव ने भी पुरानी जातियों को विछिन्न करके उनके अलग अलग जाति-समूह बनाये और जातियों की संख्या में अभिवृद्धि की।

विच्छृङ्खलता के कारण—गत दो सहस्र या उससे भी अधिक वर्षों से ये शक्तियाँ हिन्दू समाज के ढाँचे का निर्माण करती और उसे सुधारती या सँवारती रही हैं। देश में कोई ऐसा शक्तिमान् धार्मिक या सामाजिक सङ्गठन नहीं था, जिसके प्रभाव से ये विभिन्न जातिसमूह एक में मिल जाते। धार्मिक तत्ववाद केवल शाश्वत महत्व के प्रश्नों पर विचार और उनका प्रसार करता रहा; सामाजिक या सांसारिक जीवन से उसका कोई सम्बन्ध न था। सुदृढ़ केन्द्रीय शासन के अभाव, एकीकरण अथवा केन्द्रीकरण की पद्धति और विचारों की कमी एवं समाज-संस्कारक तथा व्यवस्थापक की हैसियत में सम्राट् की दुर्बलता के कारण प्रजा किसी राजनीतिक शक्ति के सहारे सुन्दर, व्यवस्थित एवं पूर्ण रूप से सङ्घटित होने से वंचित रही।

सुधारकों और सम्राटों के कार्य—हिन्दू धर्म-सुधारकों और सम्राटों ने कभी हिन्दुओं के सामाजिक सङ्गठन में सुधार करने की ओर ध्यान नहीं दिया। किसी ने समाज को चार वर्णों में विभक्त करनेवाले प्राचीन आदर्श को कार्यान्वित करने का प्रयत्न नहीं किया। उप-जातियों को किसी जाति में मिलाकर एक कर देने की ओर न तो किसी ने ध्यान दिया और न उसके लिए कोई प्रयत्न ही किया। जिन तत्वों के सहारे मनुष्य किसी एक केन्द्रीय सङ्गठन की छाया में खड़े किये जा सकते हैं, उनका समाज में सर्वथा अभाव था। धर्म और धार्मिक प्रथाएँ जातियों को एकत्र करने के बदले, उनकी

विभिन्नता को ही सुदृढ़ रखने में सहायक होती रहीं। राष्ट्रीय आदर्श का तो पता ही न था और न राष्ट्रीय भावनाएँ उत्पन्न तथा पुष्ट करने का ही प्रयत्न किया जाता था। देश की विशालता और दूषित सार्वजातीय व्यवहार के कारण भिन्न भिन्न जातियों के विभिन्न गुण-दोष, उनके विविध आचार-विचार, बोल चाल और हेल मेल के तरीके जैसे के तैसे बने रहे। लोगों को एक कर देने की प्रेरणा करनेवाली किसी व्यापक आशङ्का के प्रादुर्भाव के पूर्व ही जातियों की जड़ अच्छी तरह जम चुकी थी। इससे समानता की भावना के उदय और प्रसार में बाधा पड़ी। धर्म-सुधारकों ने अपनी शक्तियाँ दूसरे सांसारिक कार्य्यों में लगाईं; और यद्यपि उन्होंने धार्मिक दृष्टि से जाति-प्रथा की निन्दा की, किन्तु सामाजिक रूप से उसके उन्मूलन का प्रयत्न नहीं किया। देश के मूल अधिवासियों एवं हीन संस्कृति के अनुयायियों के साथ रहने से उच्च कहलानेवाली जातियों में जातिगत स्वाभिमान की वृद्धि हुई। शास्त्र-विधि की पवित्रता के आदेशों ने असभ्य और पराजित जातियों को हलके और मजदूरीवाले धन्धों एवं सेवा के कार्यों में नियुक्त करने की भावना को दृढ़ किया। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों ने समाज में ऊँच नीच पदों की भावना को उत्पन्न और बद्धमूल किया। ब्राह्मण काल की भावना ने इन प्रवृत्तियों को और भी सुदृढ़ बनाया। सार्वजातीय विवाह और सहभोज को लोग वर्णसंकरता के कारण तथा नरक-प्राप्ति के साधन मानने लगे। इस तरह जातीय जीवन के चारों ओर धार्मिक भय का वातावरण खड़ा किया गया और पंडितों तथा साधारण जनता ने उनसे अपना सम्बन्ध बनाए रखने में कट्टरपन से काम लिया। राजनीतिक अधिकारी या राजा, जो एकता को प्रोत्साहित करने में सहायक हो सकता था, विभिन्न जातियों और समूहों को बनाये रखने और उन्हें अपनी मर्यादा का उल्लंघन न करने देने का प्रधान साधन मात्र रह गया। राजा के निजी अधिकार परिमित थे। नई नई धाराओं के निर्माण का उसे अधिकार न था। इसी कारण समस्त सामाजिक संघटन एक तरह से अपने रूप में जड़ था और उसके निर्माण में किसी दैवी शक्ति के होने की धारणा लोगों में दृढ़-मूल हो चुकी थी।

वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर मनु कहते हैं—"संसार के अभ्युदय के लिए ब्रह्मा ने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को क्रमशः अपने मुख, बाहु, जंघा

और पैरों से उत्पन्न किया और इनमें से हर एक का अलग अलग कर्त्तव्य नियत कर दिया।" इस मुख्य सिद्धान्त का वर्णन करने के बाद मनु ने उन मिश्र जातियों और वर्णों का उल्लेख किया है जो चारों वर्णों के पारस्परिक विवाह के कारण अनुलोम और प्रतिलोम कहलाते हैं। उन्होंने व्रात्य वर्गों का भी उल्लेख किया है। यह वे वर्ग हैं जो अपने धार्मिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा करने के कारण पतित माने जाते हैं। चाण्डालों और अंत्यजों का इसी सिलसिले में उल्लेख किया गया है। मनु ने इन विभिन्न वर्गों के ख़ास ख़ास विहित धन्धों का भी जिक्र किया है। इन सब बातों से हमें मनु-कालिक समाज की विशद् और सूक्ष्म विभाजन-व्यवस्था का पता चलता है। डा० रिचर्ड फिक ने बौद्धकालीन ब्राह्मण जातियों के धन्धे का जैसा उल्लेख किया है, विविध धन्धों का वैसा ही उल्लेख हमें मनुस्मृति (अ० ३ ; १४६-१६७) में मिलता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जातियों के पारस्परिक विभेद की कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं थी। उस समय का समाज कई विभिन्न वर्गों का एक समूह था। प्रत्येक वर्ग अपने को चारो वर्णों में से किसी एक का मानता और अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व या एकत्व की किसी तरह रक्षा करता था।

चारो वर्णों की तुलनात्मक मर्यादा—साधारणतः ब्राह्मणों और क्षत्रियों का पद वैश्यों और शूद्रों से ऊँचा था। इन लोगों के उत्पादक क्रम पर ऊपर की प्रथमोक्त दो ऊँची जातियों का सांस्कृतिक और राजनीतिक कार्य निर्भर करता था। मनु और महाभारत के अनुसार प्रजा ब्राह्मणों और सम्राटों के हाथों में सुरक्षित थी। वैश्य और शूद्र इन्हें काम के बदले तथा जीविकार्थ कर और उपहार दिया करते थे।

ब्राह्मण—विद्वान और सदाचारी ब्राह्मण अपने निश्चित कर्तव्य करते हुए जनता द्वारा सम्मानित होते थे। वे न तो द्रव्योपार्जन करते थे और न सम्पत्ति ही रखते थे। वे अपने आध्यात्मिक कामों में लगे रह कर भिक्षा तथा भेंट पर अपना जीवन निर्वाह करते थे; इसलिए वे राज्य को कर देने के बन्धन से मुक्त थे। जो ब्राह्मण व्यापार या अन्य धन्धे करते थे, उनसे कर लिया जाता था। अर्थात् ब्राह्मण वर्ण तो कर भार से मुक्त रहता था, लेकिन ब्राह्मण जाति

के जो वर्ग ब्रह्म कर्म से विमुख रहते थे, वे कर-भार से मुक्त न थे। अपनी उच्च आध्यात्मिक स्थिति के कारण वे किसी राजा के अधीन होकर नहीं रह सकते थे। धर्म कर्म करते हुए निःस्वार्थ और निर्लोभ होना आवश्यक था। छोटे मोटे अपराधों की सज़ा के अवसर पर उनकी उच्च आध्यात्मिक स्थिति पर विशेष विचार किया जाता था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों को और भी छोटी मोटी सुविधाएँ दी गईं थीं; लेकिन इन सुविधाओं के फल स्वरूप वह अत्याचारी ब्राह्मण जाति उत्पन्न न हो सकी थी जो अपने ऐहिक लाभ, पद और महत्व के लिए दूसरे वर्णों पर अत्याचार करती थी। ब्राह्मण को ऐहिक की अपेक्षा पारलौकिक जीवन के लिए अधिक प्रयत्नशील रहना आवश्यक था। विद्वान् सलाहकार होते हुए भी ब्राह्मणों ने देश की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति पर जबरदस्ती अपना प्रभुत्व जमाने की चेष्टा नहीं की; अन्यथा वे अपने ब्राह्मणत्व और सच्ची आध्यात्मिकता से हाथ धो बैठते। 'उत्तर भारत का सामाजिक संघटन' नामक अपनी पुस्तक में श्री फिक कहते हैं—"पाली धर्मग्रंथों में क़ानून की दृष्टि से ब्राह्मणों के विशेष अधिकार-प्राप्त पद का कहीं उल्लेख नहीं है।"

कई लोक-समूह, जो अपने को ब्राह्मण कहते थे, उस समय अनेक धन्धे करते थे। धार्मिक, राजनीतिक या आर्थिक कोई क्षेत्र उनसे नहीं बचा था। लेकिन सच्चे ब्राह्मण वर्ण को केवल आपत्ति काल में क्षत्रियों अथवा वैश्यों के कुछ धन्धे करने की आज्ञा थी। शूद्रों के धन्धे तब भी निषिद्ध ही माने जाते थे। इन धन्धों को स्थायी रूप से स्वीकार करना मना था। धर्म, क़ानून और अर्थ के सम्बन्ध में

क्षत्रिय और वैश्य

क्षत्रियों और वैश्यों में कोई अयोग्यता न थी। इसमें सन्देह नहीं कि उनके भी कुछ निश्चित कर्तव्य कर्म थे। फिर भी वे वेदों तथा अन्य विद्याओं का अध्ययन कर सकते थे, अग्निहोत्र के अधिकारी थे, देवताओं को बलि चढ़ाते और मन्दिरों में जाकर स्वतंत्रतापूर्वक उनकी पूजा कर सकते थे। उत्पादक वर्ण होने के कारण वैश्यों को कर देने पड़ते, दान पुण्य करना पड़ता और दूसरे वर्णों की जीविका चलानी पड़ती थी। लोगों की भौतिक सुरक्षा वैश्य वर्ण पर निर्भर करती, राजनीतिक स्वातंत्र्य क्षत्रियों पर और आध्यात्मिक पुण्य या गौरव ब्राह्मण वर्ण पर निर्भर करता था।

अनेक जातियाँ वा वर्ग वैश्यों का काम करते थे। कभी कोई ऐसा समय

नहीं था जब कि एक अकेली क्षत्रिय या वैश्य जाति ही रही हो। बाद में कुछ ऐसे वर्ण भी उत्पन्न हुए जो अपना सच्चा कर्त्तव्य कर्म छोड़ चुकने पर भी क्षत्रिय या वैश्य ही कहलाते रहे। यद्यपि भारत में नये नये विदेशी धर्मों और राज्यों के उदय होने के कारण लोगों की धार्मिक और राजनीतिक शक्ति का ह्रास हुआ तथा लोगों के मूल पारम्परिक कामों में बाधा पहुँची और लोगों को विवश होकर वैश्यों और शूद्रों के धन्धे करने पड़े, तथापि वैश्यों और शूद्रों ने अपने पुराने धंधों को छोड़ा नहीं, यद्यपि विदेशों से आकर नये नये लोगों ने उनसे स्पर्धा शुरू कर दी और नूतन अर्थ-कलह के कारण पुराने ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्गों को उनके कई धन्धे अपनाने पड़े। पुराने उच्च धंधों पर अब विदेशियों का अधिकार हो गया है। परिणाम स्वरूप ये धन्धे देश के मूल निवासियों के हाथ से निकल गये और साथ ही स्पर्धात्मक विदेशी व्यापार की युद्ध-नीति के कारण देश के व्यापार और उद्योग धन्धों का भी ह्रास हो गया जिसके फल स्वरूप एक ऐसी वर्ण-पद्धति का जन्म हुआ है जिसने अभूतपूर्व किन्तु सम्पूर्ण वर्ण-संकरता को जन्म दिया और एक ऐसे नये हीण चरित की सृष्टि की जिसका लोगों द्वारा स्वीकृत उद्योग धन्धों से पूर्ण सामंजस्य है।

शूद्र—शूद्र जाति धर्म की दृष्टि से अयोग्य थी। यद्यपि जाति रूप में ऋग्वेद में उसका उल्लेख किया गया है, तथापि वैदिक आचारों, वेदाध्ययन, यज्ञ-यागादि का उसे अधिकार न था। वेदों का सुनना तक शूद्रों के लिए मना था। अगर वे कहीं वेद पाठ सुन लेते थे तो कड़ी सज़ा पाते थे। सामाजिक श्रेणी में उनका स्थान सब से नीचे था। उनके धन्धे स्वभावतः गुलामों और आश्रितों के धन्धे थे और इसी कारण अपने जीवन में वे जहाँ तहाँ मारे मारे फिरते थे। निःसंदेह उनमें कुछ लोग ऐसे भी हुए जो राजा बन गये थे और कुछ व्यापारी भी थे। इन लोगों ने व्यक्तिगत रूप से अपने अपने कुटुम्बों को शक्तिशाली और सम्पत्तिशाली बना लिया था, अपना पद बढ़ा लिया था और स्वयं ऊँचे वर्णों में मिल गये थे। शूद्रों के धन्धे, ख़ास कर कला, कारीगरी और मज़दूरी के धन्धे थे। क़ानून की दृष्टि से भी उनका पद नीचा था, क्योंकि ऊँचे वर्णों का अपराध करने पर उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता था। चोरी, व्यभिचार, हत्या या मार पीट करने के अपराधों में भी वे कड़ी सज़ा पाते थे।

शूद्र जाति साधारणतः मूल अनार्यों की जाति थी, जो संख्या में बहुत थी और प्रायः गाँवों में रह कर कई स्थानीय आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करती थी। इन लोगों की अनेक जातियों के समान कई उपजातियाँ होती थीं। ये लोग न तो गुलाम थे और न आर्यों द्वारा प्रताड़ित ही थे। आर्य लोग इन्हें नौकर रखते और अनेक धन्धे तथा छोटे मोटे काम इनसे कराते थे। इनकी भाषा, वेशभूषा, देवता, खान पान और अन्य रीति रवाज विभिन्न होते थे और इसी कारण आर्य जाति के समान इन्हें धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक मामलों में पूरे सुभीते नहीं प्राप्त थे। इनके साथ असद् व्यवहार नहीं किया जाता था, उलटे आर्थिक लाभ तथा व्यक्तिगत एवं साम्पत्तिक अधिकारों की दृष्टि से इनकी सुरक्षा का प्रबन्ध रहता था। ऊँचे वर्णों के साथ इनकी समानता का परिणाम आर्य भाषा, रीति, संस्कृति और धर्म का ह्रास होता। इसी कारण समाज ने इन्हें अलग, अधिकार-हीन और अधीन रक्खा। इन्हें ऊपर उठाने के लिए कोई निश्चित प्रयत्न नहीं किया गया और न इनकी भाषा, रीति-रवाज और खान पान में ही सुधार किया गया। परिणाम स्वरूप समाज के भिन्न भिन्न वर्ग जहाँ थे, वहीं बने रहे। सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था या संघटन का स्थिर आदर्श स्वीकृत किया गया था और उसी का पालन किया जाता था। सामाजिक प्रकारों के मूल रूप की कोई परीक्षा नहीं की गई जिससे यह पता चलता कि वे वैदिक या मनु के आदर्शों और आज्ञाओं के अनुकूल हैं या नहीं। अनजान में जो परिवर्तन और कमी बेशी होती रही, वही उपयुक्त और स्वीकार्य मानी गई। इस मूल व्यवस्था पर विवेक, उपयोगिता अथवा शास्त्र की सृष्टि से विचार नहीं किया जाता था। उस समय की प्रचलित व्यवस्था का यही नियम था; अब चाहे वह ठीक हो या ग़लत। एक समय था जब ऊँची जातियाँ शूद्र स्त्रियों से विवाह करती थीं। ये विवाह निषिद्ध नहीं थे और अनुलोम विवाह कहे जाते थे। शूद्र पुरुषों का ऊँची जाति की स्त्रियों से विवाह करना प्रतिलोम होने के कारण बिलकुल निषिद्ध था। पाँचवीं या छठी पीढ़ी के बाद अनुलोम विवाह की सन्तान मूल पिता की जाति के समान हो जाती थी। लेकिन कालान्तर में अनुलोम विवाह भी अनुपयोगी होने के कारण लोगों ने उसकी नैतिकता अमान्य कर दी। ऐसे विवाह की सन्तान अपनी माँ

सामाजिक सुधार का अभाव

की जाति की समझी जाती थी या किसी नई अथवा मिश्रित जाति की, जिसे केवल विशेष विशेष धन्धे करने का अधिकार होता था।

जातियों का युरोपीय विभाजन—जातियों के ऐतिहासिक और सामाजिक मूल और वृद्धि को जानने और उसका अध्ययन करने के लिए जिन युरोपीय लेखकों ने बहुत कठिन परिश्रम किया है, वे साधारणतः जातियों को नीचे के वर्गों में बाँटते हैं—(१) वर्ग या वर्णात्मक जातियाँ, (२) औद्योगिक जातियाँ, (३) स्थानीय या इधर उधर घूमनेवाली जातियाँ, (४) धार्म्मिक अथवा साम्प्रदायिक जातियाँ, (५) मिश्रित जातियाँ, (६) पतित या अस्पृश्य जातियाँ और (७) जातिहीन वर्ग।

विभाजन के साधन—इस विभाजन में उन कई अंशों या साधनों का भी वर्णन है जो मनुष्यों को एक दूसरे से मिलाते हैं।

(१) वर्ग या वर्णात्मक समुदाय—ये विभाग सब प्राचीन समाजों में सामान्य हैं। लोगों को एकत्र और एक दूसरे से मिला हुआ रखने का मूल आपस की नातेदारी और समान पूर्वजों की कल्पना ही है। वे समान रीति-रवाजों और विश्वासों से भी बँधे रहते हैं। उनके सामाजिक सम्बन्धों पर परस्पर सार्वजातीय और बाह्य जातीय विवाह के विचारों का प्रतिबन्ध रहता है। रक्त की विशुद्धता और रीति-रवाज का साम्य मुख्य प्रतिबन्धक अंग हैं।

भारत में आर्य जाति के ख़ून को यथा संभव विशुद्ध बनाये रखने का प्रयत्न उस समय के बाद जल्दी ही शुरू कर दिया गया, जब यह प्रतीति हुई कि मूल जातियों के साथ निर्बाध एवं अविवेकपूर्ण संसर्ग के कारण परिणामतः भाषा और बोली, सन्तान के वर्ण (रंग) और नये रीति-रवाजों और विचारों में बहुत ह्रास हुआ है। मार्गदर्शक और धर्म-शास्त्रों (क़ानून) के निर्माता की हैसियत से ब्राह्मणों ने उच्चतम आर्य्य समुदाय विशुद्ध रखने के लिए निषेधात्मक नियम रच डाले। दूसरी मिश्रित जातियों ने भी अपने यत्किंचित् आर्य रक्त की सुरक्षा के लिए ऐसे ही नियम बनाये। इस तरह सार्वजातीय विवाह और बाद में सहभोज की प्रथा बन्द हो गई।

(२) औद्योगिक समुदाय—पुराने जमाने में जब कि हर तरह की शिक्षा

पाठशालाओं में नहीं दी जाती थी, जिन धन्धों के लिए दक्षता और फलतः विशेष शिक्षा की आवश्यकता होती, वे धन्धे लड़का अपने पिता से और शिष्य या उम्मीदवार अपने गुरु से सीख सकता था। इसी कारण उन उन विशिष्ट कुटुम्बों के धन्धे बन गये। वे अपना धन्धा अपने लड़कों और रिश्तेदारों को सिखलाते थे, दूसरे को नहीं। केवल वही सफलतापूर्वक वे धन्धे कर सकते थे। अपने बाल्य-काल की शिक्षा और उम्मीदवारी के कारण प्राप्त दक्षता और स्वभाव से वे उन धंधों के योग्य हो जाते थे। उन कुटुम्बों की पूर्वज-गाथा और उनके रीति-रवाज समान होते थे; अतः स्वभावतः वे समान हित और सामाजिक बंधनों से बँध जाते थे। अपनी आर्थिक सुरक्षा और उन्नति के लिए उन्होंने अपना संघटन बढ़ा लिया। इस तरह वे निकटतम जातीय बन्धनों में स्थिर रूप से बद्ध हो गये। देश के क़ानून ने भी उनकी यह स्वनिर्मित परिस्थिति मान्य की। परिणाम स्वरूप एक कठोर मर्यादा निश्चित हो गई, क्योंकि उनकी सुविधाओं और उनके अधिकारों पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता था। समाज को उनके योग्यतापूर्वक किये हुए काम की बड़ी आवश्यकता रहती थी और उसे पूरा करने का यही एक मात्र मार्ग था।

(३) स्थानीय या प्रवासी समुदाय—एक देश के मूल निवासी सदा से नवागत लोगों के साथ घृणा करते आये हैं, उन्हें सन्देह और विभिन्नता की दृष्टि से देखते आये हैं। विदेशों में जन्म लेने, विदेशी रीति-रवाज और व्यवहार रखने और कभी कभी आर्थिक दबाव या स्पर्धा होने के कारण वे सदा स्थानीय ग्राम-सीमा से बाहर रक्खे जाते थे। अतः विजय द्वारा या नई कलाओं और धन्धों के ज्ञान द्वारा नये देश में बसने में सफल-मनोरथ होते हुए भी नवागतों को अलग रह कर ही अपना सामाजिक संघटन करना पड़ता था। इस बीच में जिस देश से लोग बाहर चले जाते थे, उस देश में रहनेवाले उन चले जानेवाले लोगों से यह समझ कर घृणा करने लगते थे कि वे अपने प्राचीन रीति-रवाज और रक्त की विशुद्धता नये अपवित्र देशों में जाकर खो चुके हैं। इस तरह वे समुदाय जो पहले एक थे, नई जगहों में जाने और बसने के कारण अलग अलग हो गये। उदाहरणार्थ ब्राह्मणों को ही लीजिए। ये मूलतः एक ही समुदाय या वर्ग के थे; लेकिन धीरे धीरे सारे भारत में फैल जाने के कारण इनमें नये रीति-रवाज,

विश्वास, खान-पान और भाषा का प्रचार हुआ और फलतः ये कई उपवर्गों में बँट गये हैं। इनके रक्त में भी परिवर्तन हो चुका था; क्योंकि विभिन्न वर्गों ने एक ही साथ अनुलोम विवाह प्रथा नहीं छोड़ी थी और वे देश के विभिन्न भागों में भिन्न भिन्न प्रकार के लोगों से हिल मिल गये थे। उनकी विशुद्धता, संसर्ग और बाद की वृद्धि-मात्रा में अन्तर रहा। इस तरह विदेशियों के सम्मिलन और एक स्थान से दूसरे स्थान में जानेवालों में जुदा जुदा भेद पड़ गये। परिणाम स्वरूप स्थानीय जातियों या वर्गों की उत्पत्ति हुई जिनके जीवन के कुछ अंग मूल पितृ वर्ग या निकट के दूसरे वर्गों से विभिन्न बन गये थे।

(४) धार्मिक या साम्प्रदायिक समुदाय—प्राचीन काल में धर्म का प्रभाव बहुत अधिक था। जीवन के प्रत्येक अंग के निर्माण में धार्मिक मूल आधार का स्थान रहता था। लोगों की विभिन्नता का आधार उनके धार्मिक विश्वासों और आचारों का भेद था। वैदिक काल में आर्य लोग यज्ञशील माने जाते थे। दूसरे शब्दों में वे याज्ञिक पद्धति में विश्वास रखते थे, और इसी कारण दस्युओं से जुदा समझे जाते थे। दस्यु अयजनशील कहलाते थे; क्योंकि वे आर्यों की यज्ञ-पद्धति में न तो विश्वास रखते थे और न तदनुकूल आचरण ही करते थे। एक निवासस्थान, समान व्यवसाय और नातेदारी होते हुए भी जब धर्म ही जातीयता का एक मात्र बन्धन माना जाने लगा, तब धार्मिक समुदायों की उत्पत्ति हुई। अपने अनुयायियों के धन्धों और उनकी जातीयता का कोई विचार न रखते हुए ईसाई और मुस्लिम जनता एक धार्मिक वर्ग या संप्रदाय की है। भारत में वैष्णव, शैव, बौद्ध, जैन और अन्य संबद्ध वर्ग मूलतः धार्मिक हैं और बाद में वे सामाजिक या केवल अपने वर्ग में विवाह करनेवाले बन गये हैं।

सामाजिक जीवन पर धार्मिक भावना के उत्कर्ष और प्रभुत्व के कारण आचार्यों या उपाध्यायों की प्रभुता बढ़ गई; और उनके अनुयायियों में भिन्न जातीयता या साम्प्रदायिकता का एक भाव जाग्रत हुआ जिसके फल स्वरूप समाज की दृष्टि से भी अलग अलग विभिन्न जातीय वर्गों का उद्भव हुआ। सार्वजातीय विवाह, सहभोज और धन्धों का या तो निषेध किया गया या उनके नियम बना दिये गये और दूसरों के सामाजिक सम्पर्क में आने के लिए कुछ बन्धन और मर्यादा निश्चित कर दी गई।

पवित्रता और संकरता की धारणाएँ—पवित्रता और अपवित्रता के विचारों का जातियों या वर्गों के निर्माण में बहुत कुछ हाथ रहा है। एक समुदाय या वर्ग के दूसरे में मिलने या उससे बिछुड़ने में भी रक्त, धर्म, भाषा और रीति रवाजों की एकता या शुद्धता ने बहुत कुछ काम किया है। एक वर्ग दूसरे वर्ग से इसलिए घृणा करने लगा कि वह उसकी दृष्टि में दूषित और हिलने मिलने के अयोग्य था। मनुष्य जाति की एकता के इन बन्धनों का महत्व कम किया जा सकता है; लेकिन उन्हें तब तक समूल नष्ट नहीं किया जा सकता, जब तक विभिन्न जातियों के जीवन प्रवाह में पवित्रता या अपवित्रता की मात्राएँ निश्चित रूप से दिखाई पड़ती हों। भारत के सामाजिक जीवन में यह जातीय भावना बद्धमूल सी हो गई है। विभिन्न प्रभावों के कारण वह कठोर भी हो चुकी है। इसका समूल उन्मूलन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसकी जड़ धर्म, सामाजिक रीति-रवाज, आर्थिक उद्योग धन्धों, बौद्धिक कार्य-क्षेत्रों और जातीय जीवन के दूसरे अंगों में ख़ूब गहराई तक पहुँच चुकी है। यह तभी हो सकता है जब वे अपना धर्म छोड़ दें। लेकिन ऐसा परिवर्तन न तो इष्ट ही है और न साध्य ही। लेकिन धर्म या समाज की और आर्थिक एवं राजनीतिक सुरक्षा की दृष्टि से लोगों को पहुँचनेवाली क्षति के कारण इसकी कठोरता और अचलता कम की जा सकती है। उपयोगिता के सिवा और किसी हेतु से इसका अन्यथा होना कठिन है।

समाज की जातीय भावना और संघटन के कुछ लाभ भी बतलाये जाते हैं। एक समाज संस्था के गुणों और दोषों का अनुमान करने की दृष्टि से उनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है।

इसके लाभ—कहा जाता है कि इसके कारण समाज में अलग अलग ऐसे सुदृढ़ और सुस्थिर वर्ग उत्पन्न हुए जिनकी दूसरों की अपेक्षा आपस की समानता बहुत अधिक थी। इस तरह उन्होंने समाज के कार्यों के योग्यतापूर्ण निर्वाह-कार्य को अधिक शक्तिशाली बनाया और कलह तथा घृणा की भावना को दबा कर स्पर्धा तथा ह्रास या क्षय को घटाया। यह भी कहा जाता है कि जातियों ने अपने रक्त को पवित्र और सुरक्षित रक्खा जिसके कारण उच्च जातियाँ अपने सदाचार सम्बन्धी उच्च विचारों और मानसिक तथा शारीरिक उच्च गुणों की रक्षा कर

सकीं। प्राचीन परम्परा और रीति-रवाज, प्राचीन कला, दक्षता और कारीगरी पारम्परिक हस्तान्तर और जातीय व्यवहार के कारण सुरक्षित रह सकीं। जातियाँ अपने दरिद्रों का अधिक ध्यान रखती थीं और जातीय हित के सामने अपने हितों को गौरव रख कर स्वार्थत्याग करती थीं। यह समाज के कार्यशील संघटन के लिए उचित भी था; क्योंकि आर्थिक दृष्टि से समाज के काम करनेवालों (श्रमियों) और उत्पादकों की, एवं कला और कारीगरी में बढ़ी हुई विशेषता क हित-चिन्तना इसी तरह हो सकती थी; तथा जातीय स्वार्थों और धन्धों के बीच का मतभेद और कलह या संघर्ष सहज में टाला जा सकता था।

धार्मिक संघटन की दृष्टि से यह बहुत बलशाली सिद्ध हुआ है। झुंड के झुंड हिन्दुओं को दूसरे धर्मों में ले जाना संभव नहीं था। यद्यपि कुछ थोड़े से लोग ऐसे भी थे जो विरोध नहीं करते थे, तथापि हर एक कुटुम्ब और हर एक जाति इस तरह के परिवर्तनों का विरोध करती और उन्हें रोकती थी। जब कि देश की राजनीतिक सत्ता विदेशी थी और राजा लोग हिन्दू धर्म को नष्ट करना चाहते थे, तब अपने स्थिति-स्थापक स्वभाव, सदस्यों पर के सुदृढ़ प्रभुत्व, दण्ड और जाति-बहिष्कार की पद्धति के कारण हिन्दू समाज अपना शासन आप करता था। राजा से सामाजिक व्यवस्था और शान्ति की आशा की जाती थी, लेकिन धर्मतः और स्वार्थतः विदेशी होने के कारण उससे यह आशा नहीं रही। अतः जब हिन्दू राजा और हिन्दू आचार्य शक्तिहीन हो चुके थे, तब हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म में जो त्रुटि उत्पन्न हो गई थी, उसकी पूर्त्ति जातीय संघटन द्वारा होने लगी। जातीय संघटन और विभाजन हिन्दुओं के तात्विक कर्म बन्धन सम्बन्धी विचारों के अनुकूल था। पुनर्जन्म और सत्व, रज एवं तमादि त्रिगुण के सिद्धान्त भी उससे ठीक तरह से मेल खा जाते थे। अच्छे कर्मों के कारण ऊँची जाति में या उत्कृष्ट प्राणी का जन्म मिलता था और बुरे कर्मों के फल स्वरूप नीची जाति या क्षुद्र प्राणियों में जन्म होता था। मनुष्य जाति की समानता के विचारों के कारण उद्भूत असंतोष का इन सिद्धान्तों के कारण परिहार हो जाता था। इस पुनर्जन्म तथा कर्म-सिद्धान्त के कारण स्त्री-पुरुष, अमीर-ग़रीब, ऊँच-नीच जिस परिस्थिति में जन्म लेते, उसी में संतुष्ट रहते थे। अपनी वर्तमान स्थिति से मुक्त होने के लिए उनके पास एक ही उपाय था; और वह था इस जन्म में अच्छे काम करना और आने-

वाले जन्म में उनके परिणाम-स्वरूप ऊँची स्थिति में जन्म पाना। इसी कारण जिस स्थिति में वे जन्म लेते थे, उससे ऊपर उठने के लिए न तो कोई प्रयत्न ही किया गया और न कोई बात ही सोची गई। समाज की यह अधिकारपूर्ण भावना लोगों के हृदय में बद्धमूल हो चुकी थी; अतः दलित या नीच जातियों के सामूहिक उद्धार एवं धर्म-परिवर्तन का मार्ग बन्द था। जातीय प्रथा से विभिन्न जातियों को एक दूसरी में मिलाने में और विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं को सहयोगपूर्वक काम करने में सहायता मिली। इसमें शक नहीं कि इस व्यवस्था में थोड़ी असमानता और एकान्तिकता थी, पर फिर भी जीवन की इस योजना में विभिन्न वर्गों में पारस्परिक सामंजस्य भी था। किसी वर्ग को अधिकार न था कि वह किसी उन्नत वर्ग की प्रगति में बाधा डाले। रक्त, रीति रवाज और भाषा की दृष्टि से अविवेकपूर्ण जातीय मिलन निषिद्ध था। एक ही जाति या प्रकार के लोगों में सवर्ण विवाह का यह मतलब था कि रंग, संस्कृति और सामाजिक उन्नति की दृष्टि से उनका पद समान था।

जाति की प्रथा या वर्ण-विभाग का एक उपयोग यह भी था कि वह विभिन्न उद्योग धन्धों में पड़े हुए विभिन्न जाति-समूहों की कार्य-पटुता का संश्लेषण कर देता था। ये उद्योग धन्धे अपनी ज़रूरतों को आप पूरा करनेवाले एक संघटित समाज के पारस्परिक सहायक थे जो दूसरे की व्यक्तिगत विशेषता, नियम और परम्परा में बिलकुल बाधक नहीं होते थे। सामाजिक उन्नति के लिए ब्राह्मण की आध्यात्मिक दृष्टि, क्षत्रिय का संरक्षक पराक्रम, वैश्य का उत्पादन चातुर्य और शूद्र का सेवा कार्य सभी आवश्यक थे। ब्राह्मण सम्पूर्णतः राज्य पर निर्भर नहीं थे, क्योंकि राजनीतिक या आर्थिक जीवन की अपेक्षा उनके आध्यात्मिक जीवन का महत्व अधिक था। उच्च जीवन की सब शर्तों की सुरक्षा के लिए राज्य या सरकार को वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा और सुरक्षा कायम रखनी पड़ती थी। सामाजिक जीवन में सामंजस्य और सहयोग स्पर्धा के आदर्श पर निर्भर नहीं करते थे, बल्कि उनका आधार मनुष्य या वर्ग विशेष की रुचि के अनुसार उसे दिया हुआ कोई विशेष काम या धन्धा था। उससे यह आशा की जाती थी कि वह अपने उपयुक्त धन्धे में लगा रहे। हर एक मनुष्य में दूसरों की अपेक्षा अपनी एक खास विशेषता रहती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसमें दूसरे गुण होते ही नहीं; होते

तो हैं, लेकिन दूसरों से कम परिमाण में। सब आदमी सब तरह से समान नहीं होते। हर एक आदमी या वर्ग का यह कर्तव्य होता था कि वह अपनी सेवा द्वारा समाज को कोई अच्छी से अच्छी चीज़ दे। जो लोग या वर्ग संस्कृति की दृष्टि से ऊँचे थे, वे समाज में भी उच्चतम माने जाते थे। आर्थिक वर्गों का पद छोटा होता था; आध्यात्मिक जीवन का पद सब से बड़ा था। उसके बाद राजनीतिक और तत्पश्चात् आर्थिक जीवन की बारी आती थी। आध्यात्मिक व्यक्ति को भौतिक सुखोपभोग के बहुत थोड़े अधिकार होते थे। भौतिक सम्पत्ति और राजकीय सत्ता से वह विलग रहता था; इन्हें उसके हाथों में केन्द्रित होने से बचाया जाता था। उसके धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी कर्त्तव्य अनेक थे। ऊँची जातियाँ द्विज या अधिक संस्कृत समझी जाती थीं। वे अधिक विचारशील और अपने आप को तथा दूसरों को मार्ग प्रदर्शन करनेवाली मानी जाती थीं। कम संस्कृत और पिछड़ी हुई जातियाँ बहिष्कृत या नष्ट नहीं की जाती थीं, बल्कि समाज में उनका ख़ास स्थान रहता था और जीविका-निर्वाह एवं नियम पालन के लिए उन्हें एक न एक काम धन्धा सौंपा जाता था जिससे उन्हें वंचित रखने की चेष्टा कभी नहीं की जाती थी। जो लोग वर्ण विभाग का समर्थन करते और ठीक अर्थों में कठोरतापूर्वक उसका पालन करते थे, वर्ण विभाग के सम्बन्ध में उनके इस तरह के उत्तम विचार थे।

इसकी बुराइयाँ—जाति प्रथा के इस प्रश्न का एक दूसरा अंग भी है। जिस कठोर रूप में वह आज प्रचलित है, वह भारतवर्ष की राजकीय एवं धार्मिक एकता एवं शक्ति की दृष्टि से बहुत घातक सिद्ध हुई है। ऐक्य या राष्ट्रीयता की कोई भावना उसमें संभव नहीं। समाज इस समय हज़ारों विभिन्न वर्गों में बँट गया है, जिनमें से हर एक अपने संकुचित स्वार्थों और परम्परा के पीछे पड़ा है और जातीय हित तथा आवश्यकता के आगे राष्ट्र की ज़रूरतों को कम महत्व दे रहा है। सामाजिक विषयों में इस प्रथा के कारण विदेशियों से हेल मेल होने में बाधा पड़ी है और उन्हें अपने समाज या धर्म में मिलाने के सब मार्ग अच्छी तरह बन्द हो गये हैं। अपनी असंख्य और अपरिवर्तनीय बाधाओं के कारण सामाजिक संघटन की दो बहुमूल्य चीज़ें उससे छिन सी गई हैं। समाज दूसरों को अपने में अभिरुचि रखने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता और न उनका स्वागत

कर सकता है, जिसके कारण उच्च मानव समाज का निर्माण हो सकता था। इसके विपरीत पारस्परिक ईर्ष्या, असन्तोष, जातीय अभिमान और समाज में ऊँच या नीच पद आदि के विचारों ने उन क्षेत्रों में परस्पर हार्दिक एवं सक्रिय सहयोग की भावना को फैलने से रोका जो सब के लिए समान था और जिसका सम्बन्ध राजनीति, अर्थनीति, धर्म और बुद्धि से था। राजकीय विषयों में विदेशियों के आक्रमण का सम्मिलित विरोध कभी नहीं किया गया। परिणाम स्वरूप राजकीय स्वतंत्रता नष्ट हो गई। राष्ट्रीय समस्याओं से उदासीन रहने और जातीय स्वार्थों में फँसे रहने के कारण जातियाँ अपना मूल तत्त्व या मूलादर्श खो बैठी हैं और एक प्राचीन अपरिवर्तनीय जीवन और विचार के साँचे में ढल चुकी हैं।

फिर जातियों की वृद्धि का कोई अन्त भी नहीं है। समाज का चार वर्णों में विभाजन आदर्श मात्र रह गया है। बात तो यह है कि इस समय ४,००० से भी अधिक जातियाँ वर्त्तमान हैं और भूत काल में उनकी वृद्धि की कोई सीमा ही न थी। उपजातियों में बँट जाने का परिणाम बहुत भयंकर होता है। विवाह का क्षेत्र संकुचित करके शारीरिक हानि पहुँचाई जाती है, उत्साहको कुचल कर बुद्धि का ह्रास किया जाता है और पारस्परिक विश्वास एवं सहयोग का अभ्यास नष्ट करके सदाचार को हानि पहुँचाई जाती है। "जातियों और उपजातियों की वृद्धि, जिनमें से हर एक अपने आप में अपरिवर्तनीय और रूढ़ थी, आज कल की भाँति भूत काल में भी राजकीय सत्ता को दुर्बल करनेवाली सिद्ध हुई थी। हर एक जाति और उपजाति अपने विविध और विशिष्ट स्वार्थों का एक नूतन केन्द्र होती थी, जिसकी अपनी अभिरुचि और अनिच्छाएँ होतीं और अपनी कठोर सामाजिक दीवार के कारण जातियों में व्यवहार और तत्व की दृष्टि से उसका मिलना मुश्किल हो जाता और राज्य-शरीर की विशाल आत्मा से उसका साम्य नहीं हो सकता था।" (हिन्दू राज्य-तन्त्र के कुछ अंग या Some Aspects of Hindu Polity में श्री एन० एन० ला)

डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी कहते हैं—"प्राचीन भारत का राज्य और समाज हमारे सामने एक विरल और द्रष्टव्य विशेषता उपस्थित करता है। हर एक एक दूसरे के साथ रह कर भी कुछ अंशों में एक दूसरे से विभिन्न वर्ग की भाँति बिल-

कुल स्वतंत्र और विलग थे और जीवन एवं कर्म के स्वतन्त्र केन्द्र से प्रतीत होते थे।"

जातियों और उपजातियों का संमिश्रण या एकीकरण आवश्यक तो है, लेकिन क्या वह संभव भी है ? प्राचीन स्मृति ग्रंथों में वर्तमान उपजातियों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता ; और न उनसे इस बात की ही पुष्टि होती है कि आज की भाँति जातियाँ इतनी कठोरतापूर्वक एक दूसरी से अलग रहें। "जन्म, अध्ययन और विद्वत्ता ब्राह्मणत्व के द्योतक नहीं हैं, केवल सदाचार ही उसका द्योतक है।" (महाभारत ३.३१३;) "आरंभ में सभी ब्राह्मण थे।" (महाभारत १२; १८८) सहभोज और सार्वजातीय विवाह प्रचलित थे। ऊँचे पद की प्राप्ति के लिए संस्कारों की आवश्यकता थी जो मनुष्य के कार्य और उसके सदाचार पर निर्भर करते थे। लेकिन यह परिस्थिति अधिक काल तक न रह सकी और भारत का पिछला सामाजिक इतिहास जातियों की परिवृद्धि का ही इतिहास रहा है।

वर्तमान सामाजिक संघटन में जाति का स्थान—भारतीय समाज के संघटन में जाति का महत्वपूर्ण स्थान है। वह धार्म्मिक विषयों, कर्त्तव्यों और विधि विधानों की मार्गदर्शिका है। वह आर्थिक दृष्टिकोण और उद्योग धन्धों की निर्माता है। वह सामाजिक व्यवहार, वैवाहिक सम्बन्ध, खान पान, स्वास्थ्य और सफ़ाई की उच्चता की मर्यादा, शिक्षा और रहन सहन तथा घर बार की सीमा निश्चित करती है। आज कल तो यही एक वर्ग है जो कुटुम्बों को एक विशाल सम्पूर्णता से सम्बद्ध करता है। जिन विदेशी जातियों ने हिन्दू देवताओं और हिन्दू रीति रवाजों को अपनाया, उन्हें अपने में मिला लेने में इससे सहायता मिली। अतः यह देखना आवश्यक है कि इस जाति-प्रथा का भविष्य क्या होगा। यह कहना एक तरह से जोखिम का और अविचारपूर्ण काम होगा कि वह नष्ट हो जायगी। लेकिन कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो भारतीय हिन्दू मस्तिष्क से उसका प्रभाव और सामर्थ्य घटा रही हैं। आर्थिक क्षेत्रों के संकुचित होने के कारण उत्पन्न आर्थिक दबाव तथा पश्चिम की व्यापारिक और मुक्त व्यापार नीति के कारण

प्राचीन आर्थिक काम धन्धों का संघटन नष्टप्राय हो गया है ; और जातियों को अपना आर्थिक दृष्टिकोण बदल कर परम्परा-प्राप्त धन्धों के अतिरिक्त अन्य धन्धे भी स्वीकृत करने पड़े हैं। विदेशी स्पर्धा और विधर्मी हिन्दुओं के राजनीतिक प्रभाव के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने उन पुराने धन्धों से हाथ धो बैठे जिन पर किसी समय उनकी जाति का एकाधिकार था। अतः कई काम धन्धों में सत्ता के कारण विधर्मियों का भी साझा और एकाधिकार हो गया। इसी कारण धन्धों से व्यक्त होनेवाली जातीय भावना और उसके नियम शिथिल हो गये हैं। केवल जन्म का सिद्धान्त या भाव शेष है। इस नूतन अर्थ-कलह के कारण जातीय प्रथा के दूसरे मुख्य अंग जाति से विलग हो गये हैं। नई धार्म्मिक क्रान्ति और नया सामाजिक सुधार का आन्दोलन जातीय प्रथा की पूर्व कठोरता को मिटाता जा रहा है। इस समय उपजातियों के सम्मिलन के पक्ष में विचार प्रबल हो रहे हैं और जातियों को निकट सम्बन्ध में लाने की प्रवृत्ति ज़ोरों पर है। प्राचीन शास्त्र ऐसी कठोरता का आदेश नहीं देते। चातुर्वर्ण का सनातन आदर्श हिन्दुओं को फिर से प्रभावान्वित और आकृष्ट कर रहा है और अव्यवस्थित एवं असंघटित समाज को एक नये संश्लिष्ट बन्धन द्वारा संघटित करने जा रहा है। आर्य समाज, ब्रह्म समाज और सुधारकों के धार्म्मिक आन्दोलनों ने यह परिस्थिति प्रस्तुत करने में सहायता पहुँचाई है। समाज-सुधार आन्दोलन जो पुरानी रीतियों के पुनरुद्धार, विदेशी समाज-संघटन प्रथा-जन्य नये बुद्धिवाद और सदाचारिक भावनाओं पर निर्भर करता है, जातीय विचारों का क़िला ढाने में सहायता पहुँचा रहा है।

आर्थिक दबाव

धार्म्मिक सुधार

पाश्चात्य प्रभाव—भारत की प्राचीन व्यवस्था पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव और आक्रमण भी बहुत बड़ा है। पाश्चात्य आदर्शों और सामाजिक संघटन की शक्ति और उन्नति लोगों के हृदय से जातीय प्रथा का आदर शिथिल सा कर रही है। पाश्चात्य शिक्षा और विज्ञान पाठशालाओं, कालेजों और संघों में धीरे धीरे यह काम करते जा रहे हैं। इस समस्या के कारण हिन्दू हिन्दू के विरोधी बन बैठे हैं। इस समय हिन्दू समाज-प्रथा में एक तरह का गृह-कलह मचा हुआ है ; और मुस्लिम तथा ईसाई धर्म में लोगों के चले जाने से हिन्दुओं में अपनी

छिन्न भिन्नता के सम्बन्ध में जाग्रति उत्पन्न कर दी है और वे सामाजिक समता एवं ऐक्य के अभाव को समाज-विक्षोभ का कारण मानने लगे हैं। आज का शुद्धि और संघटन आन्दोलन विदेशी मुस्लिमों और ईसाई मिशनरियों के आक्रमण का प्रत्यक्ष परिणाम है। इससे जातियों के समीप आने और उपजातियो के एक दूसरी में मिल जाने की पूरी सम्भावना है। यह आन्दोलन लोगों के हृदय में जड़ पकड़ता जा रहा है; क्योंकि समाज की पतितावस्था, दुर्बलता और उसके ख़तरे को लोग समझने लगे हैं। सार्वजनिक शिक्षा लोगों के खान-पान, पोशाक, सफ़ाई, सामाजिक उत्सव और समान भाषा सम्बन्धी विभिन्न विचारों को परिष्कृत और उच्च बना रही है। पवित्रता के विचारों और नीच जातियों के व्यवहार में सुधार होते ही घृणा और तिरस्कार के भाव कम होने लगेंगे एवं अस्पृश्यता या छूत-छात नष्ट हो जायगी।

सार्वप्रान्तीय सम्बन्ध—जल्दी जल्दी एक दूसरे से मिलने के साधन, बड़े बड़े नगरों और घनी आबादीवाली बस्तियों की वृद्धि, बराबर एक साथ यात्रा करने और रहने की आवश्यकताएँ सहभोज से उदासीनता का भाव नष्ट कर रही हैं; और यह आशा की जाती है कि थोड़े ही समय में वह भाव लुप्त हो जायगा।

सार्वप्रान्तीय जाति-विवाह और सार्व-उपजातीय-विवाह हो रहे हैं। उन्हें न तो कोई बुरा समझता है, न ग़ैर कानूनी और न कोई उनका बहिष्कार ही करता है। वर्तमान सरकारी कानून अपनी उदार प्रवृत्ति के कारण सार्वजातीय विवाह करनेवालों के लिए सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी क़ानूनी बन्धनों को तोड़ रहे हैं और सन्तति के क़ानून की दृष्टि से मान्य होने के कारण सार्वजातीय विवाह और पुनर्विवाह प्रारम्भ हो गये हैं। नये सामाजिक विचार और सिद्धान्त जाति की सुरक्षा के हिमायतियों को जीवन के अंगों और नई शक्तियों को कुछ अंश में स्वीकृत करने के लिए बाध्य कर रहे हैं।

प्राचीन कट्टरपन में कमी—वर्गीय भावनाएँ, जिनके कारण लोग जातियों में बँटे थे, धन्धे जिनके कारण उनके पद निश्चित हुए थे, क्षेत्रीय निवास जिसने उन्हें सुदृढ़ या अटल बनाया और धर्म जो इन सब बातों का आदेश देता था,

अब अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता। इधर जातियों का मिश्रण हुआ है, धन्धों का परस्पर परिवर्त्तन हुआ है, एक स्थान से दूसरे स्थान में आना जाना सुगम हुआ है और धार्म्मिक विचारों का विनिमय हुआ है और एक पर दूसरे का प्रभाव पड़ा है। संसारव्यापी आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप जो परिवर्त्तन, मिश्रण और सम्मेलन हो रहा है, उसके कारण पुरानी व्यवस्था जर्जर होती जा रही है और बदल रही है। जातीय भावना को आज उन विषम प्रभावों से लड़ना पड़ता है जो नये विचारों और नई सामाजिक आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न हुए हैं।

३—कुटुम्ब या परिवार

मनुष्यों के विशेष लक्षण या गुण उनके व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में प्रकट होते हैं। उनकी आन्तरिक शक्तियों का कार्य उनके नियमों, रवाजों और समाजों आदि में पाया जाता है। उसके प्रयत्नों का परिचय उसके बाह्य या ऊपरी स्वरूपों से होता है। अतः मनुष्य का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त करने और पूर्ण रूप से मनुष्य की भाँति जीवन व्यतीत करने के लिए जितना महत्वपूर्ण साधन मानवी संस्थाओं का अध्ययन है, उतना महत्वपूर्ण साधन और किसी प्रकार का अध्ययन नहीं है। इसलिए जब तक मनुष्य के प्राचीन इतिहास और मानसिक अवस्था से उनका समर्थन और जाँच न हो, तब तक बड़े बड़े सिद्धान्त, सूक्ष्म अनुमान और परोमच्च आदर्श स्वप्न कभी टिक ही नहीं सकते।

रक्त-सम्बन्ध का विचार—मनुष्य के सामाजिक संघटन के विकास में कौन कौन सी अवस्थाएँ या सीढ़ियाँ हैं? उनका चित्र किस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है और किस प्रकार उनका क्रम लगाया जा सकता है? जातियों, वर्गों और राष्ट्रों के सामाजिक रूप और समूह कैसे उत्पन्न हुए और उनके परिणाम स्वरूप किस प्रकार शासन संस्था, जो सामाजिक संघटन का प्रत्यक्ष तथा दृश्य फल है, उत्पन्न हुई? ये सब समाज शास्त्र की समस्याएँ हैं। ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिनका सम्बन्ध वास्तविक घटनाओं और इतिहास से है। इनका निराकरण केवल अनुमानों और कल्पनाओं से नहीं होना चाहिए। इस समय जो प्रमाण मिलते

हैं, वे अनिवार्य रूप से अपर्याप्त हैं और उन प्रमाणों के आधार पर समाज शास्त्र के ज्ञाता लोग भिन्न भिन्न परिणामों पर पहुँच सकते हैं, बल्कि यों कहना चाहिए कि प्रायः पहुँचते ही हैं। परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं है और हमें विवश होकर इस परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि वर्त्तमान सामाजिक समूह मूलतः नातेदारी से उत्पन्न हुए थे। नातेदारी का अर्थ है—रक्त-सम्बन्ध। चाहे यह रक्त-सम्बन्ध वास्तविक हो और चाहे यों ही माना हुआ हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक समूहों की रचना में यही रक्त-सम्बन्ध का विचार मूल्य बन्धन था। इसी रक्त-सम्बन्ध या नातेदारी के बढ़ने से परिवारों की सृष्टि हुई। इसी लिए आजकल के समाजों में परिवार अलग अलग वर्ग या समूह हैं। हाँ परिवार की सृष्टि होने से पहले पुरुष, स्त्री और बाल बच्चे चाहे एक दूसरे से अलग अलग रहते हों और चाहे मिलकर रहते हों।

सामाजिक जीवन में परिवार का स्थान—अब तक जितनी प्रथाओं का पालन और अनुसरण किया गया है, उनमें से परिवार बना कर रहने की प्रथा मनुष्य के चरित्र में एक सब से अधिक महत्व की विशिष्टता या गुण है। यह अभ्यास बहुत प्राचीन है और मनुष्य के इतिहास का स्वरूप प्रस्तुत करने में इस अभ्यास ने बहुत प्रभाव डाला है। विवाह की प्रायः जितनी प्रणालियाँ प्रचलित हैं, उन सब के मूल सिद्धान्त मनुष्य के इसी गुण या विशेषता से उत्पन्न हुए हैं। पैतृक सम्पत्ति, दत्तक विधान और उत्तराधिकार आदि सभी प्रकार के विचार जीवन-निर्वाह की इसी रीति के परिणाम हैं। तात्पर्य यह कि भिन्न भिन्न समाजों में जितने व्यक्तिगत नियम या कानून हैं, वे सब इसी पारिवारिक जीवन के विचार या धारणा पर आश्रित हैं। इसके सिवा हमारे नैतिक आचरण के सम्बन्ध में जितने नियम हैं और जितनी परम प्राचीन रीतियाँ आदि हैं, उन सब का रहस्य इसी पारिवारिक संघटन का ज्ञान प्राप्त करने से जाना जा सकता है; क्योंकि यह उन आरम्भिक समाजों या सम्मिलनों में से एक है जिनमें पुरुष और स्त्री मिलकर रहने लगे थे।

इसकी प्राचीनता—आजकल के सभी प्रकार के समाज-शास्त्रवेत्ताओं का यह एक साधारण विश्वास है कि आर्य जातियों का चाहे कितना ही पुराना

इतिहास क्यों न देखा जाय, उनमें परिवार की संस्था अवश्य देखने में आती है। उनका यह विश्वास चाहे सत्य हो या मिथ्या, परन्तु समाज शास्त्र सम्बन्धी सभी प्राप्य प्रमाणों से यही सूचित होता है कि आर्य जातियों में परिवार की संस्था का अस्तित्व भी उतना ही प्राचीन है, जितना प्राचीन संसार के इतिहास में स्वयं उन आर्य जातियों का आविर्भाव देखने में आता है। यह सम्भव है कि उनके जीवन की पारिवारिक अवस्था के पहले की अवस्थाओं के प्रमाण या तो पूर्ण रूप से नष्ट हो गये हों और या अभी तक लोगों के सामने ही न आये हों। परन्तु समाज शास्त्र के अनुसन्धानों से अब तक हम लोगों को जो कुछ ज्ञान हुआ है, उससे हमें पारिवारिक अवस्था तक का ही पता चलता है; उससे पहले की अवस्था का पता नहीं चलता। हाँ, अनार्य जातियों में जीवन की अ-पारिवारिक और पूर्व-पारिवारिक अवस्थाओं के कुछ प्रमाण अवश्य मिलते हैं। परन्तु आर्यों के प्रारम्भिक समाजों के इतिहास में हमें परिवार की संस्था ही दिखलाई देती है। हमें उन पारिवारिक समाजों का ज्ञान उनके बचे हुए नियमों या कानूनों, रीति-रवाजों और परम्परा से चली आई हुई ऐसी बातों से मिलता है, जो अब तक किसी न किसी रूप में प्रचलित दिखाई देती हैं।

परिवार की संस्था के सभी रूपों का पूरा पूरा महत्व समझने के लिए हमें मनुष्य मात्र का सभी भिन्न भिन्न जातियों के समाजों के आरम्भिक इतिहास का अध्ययन करना पड़ेगा। परन्तु अभी तक इस प्रकार का पूरा इतिहास प्रस्तुत नहीं हुआ है। हाँ कुछ समाज-शास्त्रवेत्ता इस सम्बन्ध में बहुत परिश्रम कर रहे हैं और भिन्न भिन्न जातियों के सम्बन्ध में सब लोग अलग अलग जाँच करके विश्लेषण और मिलान करने के लिए सब तथ्य एकत्र कर रहे हैं। पर हमारे लिए इस बात में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है कि हम लोगों में बहुत प्राचीन काल से पारिवारिक जीवन का बहुत विस्तृत प्रचार था।

हमारे साहित्य में इस प्रकार के असंख्य उल्लेख मिलते हैं जिनसे सूचित होता है कि बहुत अधिक प्राचीन काल से हमारे यहाँ यह पारिवारिक जीवन की प्रथा चली आई है। उन उल्लेखों से यह भी विदित होता है कि इस प्रथा के प्रति हम लोगों में कितनी अधिक श्रद्धा का भाव था। अपने पूर्वजों की पूजा आदि के सम्बन्ध में हम लोगों में जो विचार और धार्मिक कृत्य आदि प्रचलित

हैं, उनसे यह प्रमाणित होता है कि हम लोगों पर इस प्रथा का कितना अधिकार और प्रभाव था। हम लोग जो आजकल एक ही घर में रहकर साथ साथ एक ही चौके में भोजन करते और मिलकर सम्पत्ति का उपभोग करते हैं, उससे सिद्ध होता है कि इस समय भी यह प्रथा किस प्रकार काम कर रही है।

परिवार का अर्थ—एक पुरुष और एक स्त्री मिलकर जो छोटा सा अलग समाज बनाते हैं, उसी को हम परिवार कह सकते हैं। इन दोनों के संसर्ग से जो बच्चे उत्पन्न होते हैं, वे भी इसी परिवार में सम्मिलित हैं। परन्तु परिवार की व्याख्या के लिए एक स्त्री और एक पुरुष का मिलकर साथ रहना बहुत ही आवश्यक है। उन्हीं से गृहस्थी बनती है। ये स्वाभाविक सम्मिलन ही आरम्भिक समाज के मूल अंकुर हैं। यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि परिवार की यह व्याख्या बहुत ही संकुचित है। उदाहरणार्थ, भारत में तथा दूसरी कई जातियों में कई कई स्त्रियों के साथ विवाह करने की प्रथा प्रचलित है। कोई पुरुष या परिवार का प्रधान एक से अधिक स्त्रियाँ रख सकता है। उसके लिए इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं होता कि वह केवल एक ही स्त्री के साथ मिलकर रहे। इसके सिवा कुछ और सम्बन्धी भी, जैसे भाई, बहनें, पिता, माता आदि मिलकर एक संयुक्त परिवार में रहते हैं। यद्यपि ये सभी बातें सम्भव हैं और अनेक जातियों में होती हुई देखी जाती हैं, तथापि इन सब का मूल तत्व, जिससे परिवार की सृष्टि होती है, एक पुरुष का एक स्त्री के साथ मिलकर रहना ही है। उनके बाल बच्चे पीछे से आते हैं और परिवार का आरम्भ केवल दो ही से होता है।

दो मूल विचार—पितृ-शासन-प्रधान परिवार की सृष्टि और वृद्धि के मूल में केवल दो ही विचार प्रधान हैं—एक तो स्त्रियों का सतीत्व या पवित्र आचरण; और दूसरे पुरुषों से उनके वंश में सन्तान की उत्पत्ति। एक से अधिक स्त्रियाँ होने के कारण इन मूल विचारों में कोई बाधा नहीं पड़ती। जब तक स्त्री का सतीत्व या पवित्र आचरण बना रहता है और सन्तान का परिचय उसके पिता के विचार से मान्य होता है, तब तक परिवार का अस्तित्व बना रहता है। और इसी लिए बहुविवाह की प्रथा ने परिवार की संस्था को छिन्न भिन्न नहीं किया है, चाहे अनेक अवस्थाओं में उसके कारण पारिवारिक जीवन

की शान्ति भले ही भंग हो गई हो। मुख्य बात यह है कि पुरुष का अधिकार सब से बढ़कर माना जाय; उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी न हो। अपनी पत्नी या पत्नियों और बाल-बच्चों पर तथा गृहस्थी की समस्त सम्पत्ति पर उसका अधिकार सर्वप्रधान हो। यद्यपि आजकल परिवार की सम्पत्ति में स्त्रियों को भी समान अधिकार देने का विचार बढ़ता जा रहा है, तथापि वह पुरुष के अधिकार की बराबरी तक नहीं पहुँचा है। बहुविवाह की प्रथा रोकी जा रही है और मिटती जा रही है; लेकिन फिर भी स्त्री के जीवन में वह स्वतन्त्रता और अधिकारों का वह भाग प्राप्त नहीं है, जो पुरुष को प्राप्त है। पुरुष अब भी प्रधान है। स्त्री अब भी अधीन ही है। स्त्री के लिए जीवन की आवश्यक वस्तुएँ पुरुष ही कमाकर लाता और लाकर उसे देता है।

समाज का आरम्भ परिवार से होता है; और परिवार वास्तव में रक्त-सम्बन्ध रखनेवाले कुछ लोगों का स्वाभाविक सम्मिलन है, जिसमें पिता, माता और उनकी सन्तान होती है। हमारे साथ साथ यूनानियों और रोमनों ने भी अपने यहाँ यह परिवार की संस्था दृढ़तापूर्वक स्थापित कर ली थी और वे इसे सब से अधिक प्राचीन और आरम्भिक मानवी सम्मिलन मानते थे। अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या यही एक ऐसी संस्था थी जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर सन्तान उत्पन्न करते और जाति का क्रम बराबर चलाये चलते थे या जीवन निर्वाह को और भी कोई अ-पारिवारिक या पूर्व-पारवारिक रीति थी?

परिवार-सम्बन्ध के कुछ और विचार—परिवार-प्रणाली में पुरुष, स्त्री और उनके बाल-बच्चे सब एक साथ मिलकर रहते थे। फिर भी परिवार में प्रधान या स्वामी कौन था? पुरुष या स्त्री? यह प्रश्न इस प्रकार भी उपस्थित किया जा सकता है कि परिवार पितृ-प्रधान था या मातृ-प्रधान? सम्बन्ध या नातेदारी पुरुषों के विचार से देखी जाती थी या स्त्रियों के विचार से? क्या बालक अपनी माता के अधिकार में होते थे और उसके परिवार या वंश में जाते थे या अपने पिता के साथ रहते थे और उसकी सन्तान माने जाते थे?

मातृ-प्रधान तथा दूसरे प्रकार—कई महत्वपूर्ण जातियों के आरम्भिक इतिहास से यह पता चलता है कि उनमें पितृ-प्रधान परिवार होता था; परन्तु केवल

पितृ-प्रधान परिवार से ही समाज की उत्पत्ति सम्बन्धी समस्या का अन्तिम और सार्वदेशिक निराकरण नहीं हो जाता। यह बात अच्छी तरह सिद्ध की जा चुकी है कि पितृ-प्रधान परिवार से पहले जीवन के कुछ और भी रूप या ढंग थे। कुछ अवस्थाओं में तो पितृ-प्रधान परिवार प्रणाली का कहीं पता ही नहीं चलता। उनमें मातृ-प्रधान प्रणाली ही मिलती है। अर्थात् सन्तान माता की मानी जाती है, सम्पत्ति कन्याओं को मिलती है और सामाजिक समूह पर स्त्री का शासन होता है, जैसा कि मडगास्कर के होवा लोगों और मलाबार के तरवाड वंश में चलन है। आजकल भी कुछ छोटी छोटी जातियों या वर्गों में मातृ-प्रधान प्रणाली प्रचलित है। पर समाज का एक इससे भी अधिक आश्चर्यकारक अ-पारिवारिक और पूर्व-पारिवारिक रूप था। बहुत ही आरम्भिक काल के एक ऐसे मिश्रित समाज के चिह्न मिलते हैं जिसमें स्त्रियाँ और पुरुष स्वतन्त्रतापूर्वक और अबाध्य रूप से सहवास करते थे; और इसके लिए न तो समाज की ओर से कोई मनाही होती थी और न उन लोगों में कोई रिश्तेदारी मानी जाती थी। तात्पर्य यह कि यदि हम कहें तो कह सकते हैं कि उन मनुष्यों और पशुओं में कोई अन्तर नहीं था। उनमें पिता, माता, पुत्र, कन्या, भाई या बहन आदि का कोई सम्बन्ध या रिश्ता ही नहीं होता था। सन्तान पर शासन करने का भार स्त्री और पुरुष में से किसी पर नहीं होता था। इससे स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि समाज का किस क्रम से विकास हुआ है? क्या पहले उसमें सब स्त्रियाँ और पुरुष अबाध्य रूप से सहवास करते थे, फिर वे अपने ही कुल या वर्ग में विवाह करने लगे; और तब अपने कुल या वर्ग के बाहर दूसरे कुलों या वर्गों में विवाह करने लगे; और तब से मातृ-प्रधान प्रथा प्रचलित हुई; अर्थात् एक स्त्री एक ही समय में बहुत से पति रखने लगी? अथवा दूसरे पक्ष में पितृ-प्रधान प्रथा प्रचलित हुई; अर्थात् एक ही समय में एक पुरुष बहुत सी स्त्रियाँ रखने लगा; और तब पहली या बहुपति-प्रथा से एकपति-प्रथा और बहुपत्नी-प्रथा से एकपत्नी-प्रथा का विकास हुआ?

कुटुम्ब, समाज का स्वतंत्र वर्ग है—हिन्दू समाज में कुटुम्ब एक वर्ग या स्वतंत्र संस्था है, जिसमें गृहस्वामी, उसकी पत्नी, अविवाहिता कन्याएँ, पुत्र, उनकी पत्नियाँ और लड़के बाले होते हैं। इस सामाजिक वर्ग का एक ही निवास-

स्थान होता था, जहाँ यह रहता, खाता पीता, देवताओं की पूजा करता और समान रूप से सम्पत्ति का उपभोग करता था। गृहस्वामी का प्रभुत्व बहुत होता था। कानून की दृष्टि में कुटुम्ब के सब सदस्यों का वह प्रतिनिधि होता था और उनसे सम्यक् आज्ञापालन की आशा रखता था। सम्पत्ति, स्त्रियाँ और दासी-दास सब उसी के होते थे।

कुटुम्ब-संस्था हर प्रकार के लोगों में मिलती है। समाज-शास्त्री कुछ ऐसी अवस्थाएँ भी बतलाते हैं जिनमें कुटुम्ब-भावना का उदय नहीं हुआ था और लोग साधारणतः झुंडों में या सम्मिलित समुदाय में रहा करते थे। ये अवस्थाएँ बहुत प्राचीन हैं और आज भी कुछ मूल जंगली जातियों में पाई जाती हैं; लेकिन पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग में आने के कारण नष्ट-प्रायः दशा में हैं। इन लोगों में पैतृक या मातृक सम्बन्धों पर आधार रखनेवाले संयुक्त कुटुम्ब नहीं होते, लेकिन वैषयिक मामलों में इनका जीवन मिलनशील होता है और वर्ग के बाहर या अन्दर कुछ अंशों में उसकी सीमा निश्चित रहती है। लेकिन हमें भूत-कालिक या वर्त्तमान-कालिक इस विशेष ढंग के सामाजिक जीवन से कोई सरोकार नहीं है। हम तो कौटुम्बिक जीवन की साधारणतः दिखाई पड़नेवाली व्यापक विशेषताओं पर ही विचार करना चाहते हैं। आर्य कुटुम्ब पैतृक है। वह मनुष्यों का एक ऐसा वर्ग है जो एक खास मनुष्य में अनुरक्त रहता और उस पर आधार रखता है। यह मनुष्य साधारणतः हर दृष्टि से कुटुम्ब का बड़ा या स्वामी होता है। यह गृहपति कहलाता है। इस वर्ग में गृहपति, उसकी पत्नी या पत्नियाँ, उसके बालक और दूसरे आश्रित, जो उसके निकट के सम्बन्धी होते हैं, रहते हैं। मूलतः गृहपति को कुटुम्ब के सदस्यों पर असीम अधिकार प्राप्त था; यहाँ तक कि कुछ जातियों में उनके जीवन और मरण तक का भी अधिकार था। लेकिन गृहपति के इन अधिकारों को शीघ्र ही सीमा-बद्ध कर दिया गया। तो भी आर्थिक विषयों में कुटुम्ब के सदस्य गृहपति पर ही आश्रित रहते थे। उसके जीवन काल में पत्नी, पुत्र, सम्बन्धी और नौकरों को किसी तरह के स्वामित्व के स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त नहीं थे, यद्यपि राज्य के कानून द्वारा कुछ व्यक्तिगत सुरक्षा और स्वतन्त्रता दी गई थी। यह कानून राजा या राज्य की शान्ति के नाम पर गृहपति के मूल अधिकारों को दबाता था। कौटुम्बिक संपत्ति और आय पर के संपूर्ण स्वाम्य-

अधिकार और पत्नी, बालक, नातेदार एवं भृत्यों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर व्यापक अधिकार ही कौटुम्बिक जीवन की मुख्य विशेषताएँ बन गईं ।

इसका धर्म—पैतृक सम्बन्धों के आधार पर कुटुम्ब अपने समान पितरों का निश्चय कर लेता था । धर्म, पूर्वजों के धार्मिक देवता और रीति रवाज एवं पितृ-पूजा ही कुटुम्ब का धार्मिक जीवन बन गया । कुटुम्ब के आन्तरिक, सामाजिक या धार्मिक जीवन के लिए कुलधर्म, कुलदेवता और कुलाचार परम आवश्यक बन गये । इन्हीं पूर्व प्रथाओं, रीति-रवाजों और विचारों के आधार पर कुटुम्ब के वैवाहिक सम्बन्ध, खान पान और सामाजिक उत्सव या संस्कार एवं रीति रवाज निर्धारित होने लगे । जीवन की इस योजना में स्त्री, जो विवाह में बाहर से आती या बाहर जाती थी, स्वभावतः दूसरे दर्जे की गिनी गई । उसके स्वाम्य अधिकार, अगर कुछ होते थे तो, और उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता सीमित थी । न तो आर्थिक दृष्टि से उसका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व था और न वह धन-उत्पादक शक्ति थी । कुटुम्ब में उसका काम जनन-विषयक और स्थान धार्मिक था, और जाति या बाहर की दुनिया में उसका सामाजिक स्थान या पद निश्चित था । लेकिन घर में अन्न, वस्त्र और अन्य आवश्यकताओं के लिए वह अपने पति के आश्रित रहती और उसके काम-काज और संग सोहबत पर पति की दृष्टि रहती थी । इसी तरह उसके लड़के और लड़कियाँ भी अपनी शिक्षा, पालन पोषण, विवाह, अन्न वस्त्र आदि के सम्बन्ध में तब तक उसी पर निर्भर करते, जब तक वे कुटुम्ब से अलग होकर उसे छोड़ न देते । लड़कियाँ शादी हो जाने के कारण और लड़के नये कुटुम्बों की स्थापना कर के एक स्वतंत्र उत्पादक में परिणत हो जाते थे । अन्य सभ्य आश्रितों का किसी तरह का स्वतंत्र स्वामित्व या व्यक्तिगत अधिकार न था ।

स्त्री की मर्य्यादा

अविभक्त कुटुम्ब—लेकिन जब उत्तराधिकार और वसीयत के कानून ने स्वोपार्जित के अतिरिक्त अन्य पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के कुछ नियम निर्धारित कर दिये, तब पुत्र, नाती, भाई, चाचा, माँ, पत्नी और कन्याओं को भी कुछ धर्मशास्त्र-सम्मत स्वाम्याधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता मिलने लगी । इस तरह का कुटुम्ब संयुक्त कुटुम्ब होता था, स्वतंत्र पैतृक कुटुम्ब नहीं । संयुक्त कुटुम्ब में

गृहपति के बदले एक कर्त्ता या व्यवस्थापक होता था जो सब संयुक्त सदस्यों के व्यक्तिगत स्वार्थों की एवं उनके स्वामित्व सम्बन्धी स्वार्थों की उस समय तक चिन्ता रखता, जब तक सदस्य संयुक्त रहते और सम्पत्ति का विभाजन न होता। संयुक्त कुटुम्ब में सब सदस्यों की आय एक सार्वजनीन कोष में जमा होती थी। कमानेवाले सदस्यों के अलग अलग स्वामित्व की उसमें कोई व्यवस्था न होती थी। सब सदस्य रोटी पानी, घर और संपत्ति की दृष्टि से संयुक्त समझे जाते थे। न कमानेवाले सदस्यों के भी वही अधिकार थे जो कमानेवाले के थे। कुटुम्ब के सदस्यों के पृथक् होने और सम्पत्ति के विभाजन से पहले तक यही अवस्था रहती थी। सम्पत्ति में हर एक के हिस्से और अधिकार क़ानून द्वारा निर्धारित रहते थे। इस तरह एक विशाल संयुक्त कुटुम्ब अनेक कुटुम्बों में विभक्त हो जाता जिनसे नये संयुक्त कुटुम्बों का एक और वर्ग तैयार हो जाता था। फिर ये भी समय आने पर विभक्त हो जाते थे। संयुक्त कुटुम्ब में चार पीढ़ियाँ एक साथ रहती हुई मिलेंगी। थके हुए वृद्ध बाबा और दादी से लेकर नवजात शिशु, पोते, नाती तक रहते; एवं और भी अनेक बड़े चाचा, चाचा, भतीजे, उनकी पत्नियाँ और शेष दूसरे जो अब तक विलग न हुए हों, एक साथ रहते हुए मिलेंगे। इस तरह कुटुम्ब में मूल पुरुषों की संख्या अधिक रहती थी।

स्त्री-पुरुष की तुलनात्मक मर्यादा—सम्पत्ति के स्वामित्व और उत्तराधिकार में पुरुषों का अधिकार तब तक एक सा ही रहता था, जब तक उनका पद और उनकी नातेदारी का दरजा समान होता। स्त्री की स्थिति आश्रित की सी थी। उसकी कोई स्वतंत्र सम्पत्ति नहीं होती थी। उसको शास्त्र के अनुसार केवल स्त्री-धन या विधवा की जायदाद प्राप्त होती थी, जिसमें उसे अपनी आयु भर जीवन निर्वाह करने और सम्पत्ति को भोगने का अधिकार रहता था। उसकी मृत्यु के बाद जायदाद पर उन पुरुष उत्तराधिकारियों का अधिकार हो जाता था जो पूर्व पुरुष उत्तराधिकारी की सम्पत्ति के मालिक होते थे। सामान्यतः अपने पत्नीत्व-काल में स्त्री को पति की आज्ञाकारिणी रहना पड़ता और बुढ़ापे में पुत्र की। साधारणतः उसे घर का काम काज करना पड़ता था। उसे बहुत कम साहित्यिक शिक्षा दी जाती, क्योंकि उसे घर में रह कर भोजन बनाने, कपड़े धोने, बच्चों के भरण पोषण की चिन्ता रखने और ऐसे ही दूसरे काम करने पड़ते थे। लड़कों और

कन्याओं के विवाह का निर्णय माता पिता ही करते, इस सम्बन्ध में स्वयं उन्हें बोलने का कोई अधिकार न था। पत्नी के लिए पति देवता के समान था जिसे हर तरह से प्रसन्न करना और जिसकी आज्ञा का पालन करना पत्नी का कर्तव्य था। यही उसका कौटुम्बिक कर्तव्य और आध्यात्मिक मोक्ष का साधन था। दूसरे सब सदस्यों का साधारण काम करने की भी उससे आशा रक्खी जाती और इस तरह वह एक घरू मादा शहद् की मक्खी बन जाती—उन पुरुषों नर-मक्खियों की तुलना में जो घर में रह कर कमाते तो कुछ नहीं, लेकिन अन्न वस्त्र का उपभोग समानतया करते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से पत्नी पुरुष की अर्धांगिनी या सहधर्मचारिणी समझी जाती थी। और इस हैसियत से उसे धार्मिक कामों, सामाजिक संस्कारों एवं उत्सवों में अपने पति के बराबर पद प्राप्त था। आदर्श की दृष्टि से दम्पत्ति का एक व्यक्तित्व होता था और विवाह के कारण वे एक-मन और सुखी होते थे; लेकिन स्वामित्व सम्बन्धी प्रबन्ध में और व्यक्तिगत अधिकारों के मामलों में पत्नी को पति की बातें माननी और उन्हीं के अनुसार चलना पड़ता था। पति के मर जाने पर ऊँची जाति की विधवा का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन बड़ा कष्टपूर्ण हो जाता था। उसे पुनः विवाह का अधिकार न था, क्योंकि वह अपने पति के गोत्र और कुटुम्ब की एक अंग बन जाती थी। पुनर्विवाह के कारण वह एक नये गोत्र में प्रवेश करती और उसका आध्यात्मिक सम्बन्ध एवं पुण्य विनष्ट हो जाता। परिणाम स्वरूप या तो उसे अपने मृत पति के साथ सती होने का अधिकार था या कठोर तपस्वी जीवन बिताने का। इस जीवन में उसे अन्न, वस्त्र, संग, सोहबत, आचार व्यवहार में विशेष संयम और नियमों का पालन करना पड़ता और कतिपय धार्मिक जप, तप एवं व्रत करने पड़ते। अपने पति के साथ का उसका वैवाहिक बंधन शाश्वत बंधन माना जाता था, जो पति के मर जाने पर भी नहीं टूटता और जन्म जन्मान्तर तक बना रहता था। उसका यह लौकिक जीवन उसके पति के पारलौकिक जीवन पर प्रभाव डालता। अगर वह किसी तरह अपने पति के पूर्व मर जाती तो उसे (पति को) दूसरा विवाह करने का अधिकार होता था। पत्नी की जीवितावस्था में भी वह दूसरा विवाह कर सकता था। व्यवहारतः पति की मृत्यु के बाद उसके सब सामाजिक सुखोप-

विधवा विवाह का निषेध

भोग एवं धार्मिक अधिकार छिन जाते और वह घर की नौकरानी मात्र रह जाती। अपने व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और काम काज में उस पर कई तरह के धार्मिक एवं सामाजिक विधि-निषेध लाद दिये जाते और उसके पति की सम्पत्ति से स्वामित्व के संबन्ध में भी रुकावटें खड़ी कर दी जातीं। कौटुम्बिक प्रथाओं में से नियोग की प्राचीन प्रथा थी, जिसमें किसी विधवा या स्त्री में पति के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति खास कर देवर द्वारा गर्भाधान कराया जाता था। मनु (९. ५९–६०.) में कहा गया है कि "जिस तरह विधवा अपने पलंग पर पति के भाई को लाती है।" पर वह प्रथा बहुत पहले से लुप्त हो गई थी। ४ दिसम्बर १८२९ ई० को राज्य द्वारा सती प्रथा गैर-कानूनी क़रार कर दे दी गई। और विधवा का पुनर्विवाह सन् १८६५ ई० के एक कानून के अनुसार वैध निश्चित किया गया।

बहु-विवाह

बहु-विवाह की प्रथा भी जल्दी जल्दी मिटती जा रही है। कुछ पिछड़ी हुई जातियों में उसके कुछ उदाहरण मिलते हैं। सपत्नियों में सब से बड़ी को पत्नी के सब अधिकार प्राप्त थे। सामान्यतः सामाजिक और धार्मिक मामलों में वही पति की सहधर्मचारिणी होती थी। दूसरी स्त्री भी पति की 'काम-चारिणी' होने के कारण पद में पहली से उतर कर होती थीं। अनुलोम विवाह की प्रथा बहुत पहले से लुप्त हो गई थी और अब निषिद्ध है। ऊँची जातियों में सम्बन्ध करनेवाले लोग अब तक गोत्र, प्रवर, वेद, जाति और दूसरी तत्व की बातों पर विचार करते और उनका पालन करते हैं। सगोत्र विवाह वर्जित है। गोत्रों के मिलने की एक निश्चित पद्धति है जिसका अनुसरण करना पड़ता है, अन्यथा विवाह गैर-कानूनी या अनुचित माना जाता है। केवल सवर्ण विवाह विहित हैं। मूलतः केवल चार गोत्र माने जाते थे—भृगु, अंगिरस, कश्यप और वशिष्ट। बाद में इनकी संख्या में वृद्धि हुई है। इसी तरह मूलतः केवल चार ही वर्ण माने जाते थे। अब अगणित जातियाँ हैं जो अपने अन्तर्गत ही रहकर विवाह कर सकती हैं। प्राचीन गोपालक ग्वाल वर्ग या कुटुम्ब ही गोत्र रहे होंगे जो अपनी और अपनी सम्पत्ति (पशुओं आदि) की रक्षा की चिन्ता करते होंगे। गौ चुरानेवालों के साथ प्रायः लड़ाइयाँ ठाननी पड़ती थीं जिनके कारण इन वर्गों का सुदृढ़ पैतृक संघटन हो गया होगा। इन लड़ाइयों में पुरुष सदस्यों

विवाह और गोत्र की भावना

की प्रभुता अधिक रहती और स्त्रियाँ उनकी अनुगत होती थीं। ये वर्ग बाद में कृषि कार्य करने के समय बड़े बड़े कुटुम्बों में परिणत हो गये और एक समान पूर्वज या गोत्र की प्रथा चल पड़ी जिससे सब जातियाँ एक जाति के एक वर्ग में संबद्ध रह सकें।

उपयोगिता—हिन्दू संयुक्त कुटुम्बों ने मनुष्यों की कई आवश्यकताएँ कई तरह से पूरी कीं। जब राजकीय संघटन पूर्ण उन्नत नहीं हुआ था, तब कुटुम्ब ही राज्यान्तर्गत छोटे राज्य थे। कुल का गृहपति, जिसे न्यायाधिकार प्राप्त थे, कुटुम्ब के व्यक्तियों की और उनकी सम्पत्ति की रक्षा करता, धार्मिक रीति-रवाज और अधिकारों को अक्षुराण बनाये रखता और सामाजिक पद, व्यवहार एवं आर्थिक उद्योग धन्धों को जीवित रखता था। कुटुम्ब और समाज की परम्परा की, उसके व्यक्तिगत सदस्यों के विवाह और शिक्षा आदि की व्यवस्था एवं सुरक्षा की जाती थी। निर्बल सदस्यों, स्त्रियों और बालकों का पालन-पोषण होता और जीवन में उन्हें सहायता दी जाती। एक तरह से इसके द्वारा बेकारों और गरीबों की समस्या की मीमांसा हो जाती थी। जब समाज-हित के कामों के लिए राज्य उत्पन्न नहीं हुआ था और न वे सब काम करने को तैयार था, तब कुटुम्बों द्वारा लोक-कल्याण के ये काम होते रहते थे।

दोष—कुछ दृष्टियों से संयुक्त कुटुम्ब प्रथा का कुटुम्ब के सदस्यों के आचार पर बुरा परिणाम हुआ है। स्त्रियों की अधीनता का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। इसके कारण अनेक आलसी सदस्य उत्पन्न हुए जो कुटुम्ब पर निर्भर रह कर उसके साधनों को खर्च करते रहे एवं कुटुम्ब के कमानेवाले सदस्यों के लिए कलह, भार और चिन्ता के कारण बने। उनकी आश्रित प्रवृत्ति इस वातावरण में बढ़ती और पुष्ट होती जाती है। उनमें स्फूर्ति, साहस और काम करने की प्रवृत्ति बिलकुल नहीं रह जाती। उनकी उपस्थिति के कारण आदर्श और प्रेमपूर्ण गृह का वातावरण विनष्ट सा हो गया है, जहाँ माता पिता और बालक हिल मिलकर अपने जीविकार्थ और हितार्थ काम करते और सुखी रहते हैं। मुश्किल से पति पत्नी का कोई ऐसा सम्मिलन होता है जिसमें संस्कृति, बुद्धि या आत्मा की उन्नति की प्रेरणा और अवसर हो। वस्तुस्थिति तो यह है कि सामान्य सम्मिलनों के कारण मनुष्य घबरा जाता है।

सामान्यतः व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और नये साहसपूर्ण कामों के लिए संयुक्त कुटुम्ब उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ है। अपने सदस्यों पर इसका एक स्थिति-स्थापक प्रभाव पड़ता है जिसके कारण वे नये कामों और नये विचारों को अपनाने में असमर्थ या अतत्पर रहते हैं।

क्रमिक विशृंखलता और आर्थिक भार—आर्थिक कलह के कारण हिंदू संयुक्त कुटुम्ब प्रथा टूट रही है। प्रत्येक सुदृढ़ शरीर वाले और बालिग सदस्य के लिए काम करना आवश्यक है। तभी जीवन निर्वाह संभव है। समाज और सदाचार सम्बन्धी नये विचारों के उदय के कारण धार्मिक विचार और समाज परम्परा के पुराने कठिन बन्धन शिथिल हो रहे हैं। शहरों में जो लोग औद्योगिक, व्यापारिक या मजदूरी पेशा करते हैं, उनके लिए संयुक्त कुटुम्बों को कायम रखना असंभव हो जाता है। व्यक्तित्व और भौतिक सुख के नये विचार संयुक्त कुटुम्ब के उस पुराने सदाचार को नष्ट कर रहे हैं जिसमें सेवा और स्वार्थ-त्याग के सिद्धान्तों का अधिकतर अनुसरण किया जाता था। दैनिक जीवन निर्वाह की बढ़ती हुई मँहगी के कारण कुटुम्बों का संयुक्त रहना कठिनतर हो जायगा। गाँवों में जो लोग खेती बारी करते हैं, वे जमीन के अत्यल्प होने के कारण बड़े कुटुम्ब के पालन में कठिनता का अनुभव करते हैं। जमीन के उपविभाजन और संग्रह के बँटवारे के कारण तथा घरू एवं खेती बारी का काम नष्ट हो जाने के कारण कुटुम्ब की आय घट गई है और एक विशाल कुटुम्ब के समस्त सदस्यों के जीवन निर्वाहार्थ वह बहुत अपर्याप्त रह जाती है। अतः उसमें के कुछ सदस्यों को काम के लिए दूसरे स्थानों में जाना पड़ता है और काम न मिलने पर भूखों मरना पड़ता है। इसी कारण वर्तमान आर्थिक जीवन और आधुनिक सम्पन्न एवं उन्नत जीवन के विचार संयुक्त कुटुम्ब पद्धति की भावना के प्रतिकूल जान पड़ते हैं। विशाल आर्थिक प्रतिद्वंद्विता और कलह के समय लोगों में संयुक्त कुटुम्ब की भावना बनाये रखना अत्यन्त कठिन हो जायगा।

संस्था की हैसियत में—संस्था की दृष्टि से कुटुम्ब में सामाजिक और लोकनीति के तत्व सन्निहित हैं जिनका प्रदर्शन माता पिता द्वारा की गई सेवाओं, भाई-भाइयों, बहन-बहनों एवं सबल-निर्बलों की सेवा में होता है। अवस्था और

संयम, कर्तव्य और अधिकार, व्यक्तित्व और सम्पत्ति, सफाई और शिक्षा, परम्परा और इतिहास, बाल-कलह के निर्णय, सजा और पुरस्कार की पद्धति, गरीबों की मदद और उन्हें दिये हुए दान, मेहमानी और कई दूसरी बातों में भी उनका प्रदर्शन होता रहता है। उसमें जीवन के आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और शिक्षा-सम्बन्धी अंगों का समावेश होता है। उसके द्वारा उदार भावनाओं, सामूहिक कार्यों और सामाजिक विचारों की वृद्धि होती है। वह एक बड़ी उदार और लोकनीति-युक्त संस्था है।

अन्य वर्ग—हम अब तक हिन्दुओं की तीन प्रधान संस्थाओं—वर्ण, जाति और कुटुम्ब—का विवेचन कर चुके हैं। मनुष्य के कार्यों के कुछ और भी वर्ग हैं; जैसे, क्षेत्र सम्बन्धी वर्ग, यथा गाँव और नगर; भाषा सम्बन्धी वर्ग, यथा प्रान्त और देश; धार्मिक वर्ग, औद्योगिक और व्यापारिक संघ, शिक्षा देनेवाली संस्थाएँ और विश्व विद्यालय, तथा अन्य मनोरंजक, साहित्यिक अथवा बौद्धिक संघ। इनके अपने नियम और परम्परा, रीति और नीति आदि होती हैं जो जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।

विदेशी जाति-हीन समाज—दूसरे धर्मों के जाति-हीन या अ-जातीय सामाजिक वर्गों की अपनी परम्परा, पद्धति और रीति-रवाज होते हैं जिनमें विवाह और खान पान के सम्बन्ध में विभिन्न जातियों की भाँति किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं होता। इसी कारण ऐसे विरोधी एवं विभिन्न वर्गों में सार्वजातीय ऐक्य की समस्या बड़ी और कठिन है। उसके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं। हिन्दुओं के दिमाग में मुसलमानी शासन की कटुतापूर्ण स्मृति ताजी रहती है। वे उनकी धर्म-परिवर्तन सम्बन्धी अत्याचारपूर्ण रीतियों का, गोवध तथा सामान्य उद्दण्ड और हिन्दू-विरोधी प्रवृत्ति का एवं विदेशों से सहानुभूति का रोषपूर्वक विरोध करते और अपनी जातीय पवित्रता, अस्पृश्यता, अहिंसा, शाकाहार, मूर्त्ति पूजा, बहुदेव पूजा आदि विश्वासों पर, जो उन्हें अपने विचारों में साम्प्रदायिक बनाते हैं, दृढ़ रहते हैं। इसके विपरीत मुसलमान भावी हिन्दू राज्य की आशंका से इसलिए डरते हैं कि वे देश में अल्प-संख्यक हैं और स्वयं शिक्षा सम्बन्धी एवं आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। वे मसजिदों के सामने बाजे का विरोध करते हैं,

हिन्दी-उर्दू के पचड़े में व्यस्त रहते हैं और हाल के संघटन और शुद्धि आन्दोलन से नाराज़ हैं।

इस अन्धकारपूर्ण अवस्था से बचने के लिए उपायों की सूचना करना उस समय तक कठिन है जब तक कि धर्म व्यक्तिगत या कौटुम्बिक महत्व की चीज नहीं बनता, शुद्धि नहीं रुकती और अत्यधिक पवित्रता, दूषण या अस्पृश्यता के विचार शिथिल अथवा नष्ट नहीं होते। लोगों को एक दूसरे की धार्मिक भावना का सम्मान करना चाहिए और जाति तथा सम्प्रदाय के बदले देश के आर्थिक एवं राजनीतिक हित को अन्य सब हितों से महत्वपूर्ण और सर्वोपयोगी समझना चाहिए।

४–सामाजिक रीतियाँ

ब्रह्मचर्य–हिन्दुओं ने अपने जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया था। इन आश्रमों में से प्रत्येक का उद्देश्य, अवस्था तथा नैतिक एवं शारीरिक विकास के अनुसार जीवन में एक निश्चित ध्येय की प्राप्ति है। इनके नाम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास हैं। यद्यपि यह समझा जाता था कि इन चारों आश्रमों के धर्मों का पालन सभी लोग करेंगे, पर फिर भी प्राचीन समय में भारत में आश्रमानुसार जीवन को क्रमवद्ध करने की इस रीति का पूर्ण पालन ब्राह्मणों तक ही सीमा-बद्ध था। क्षत्रियों में बहुतेरे आदमी तथा वैश्यों में भी कुछ आदमी इसका पालन करते थे। शूद्र का जीवन इस प्रकार नियम-बद्ध नहीं किया गया था, न उसे इन आश्रमों की विधियों का पालन करने का अधिकार ही था। यह देखना राजा का काम था कि प्रत्येक व्यक्ति शास्त्रानुसार जीवन की इस विधि का पालन कर रहा है या नहीं; और दूसरे आश्रम में प्रवेश करने की योग्यता उसमें आ गई है या नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक आदर्श योजना थी और बहुत थोड़े लोग इसका पूर्णतः पालन कर सकते थे।

ब्रह्मचर्य विवाह के पूर्व के जीवन का प्रथम भाग था। इस आश्रम में ही यज्ञोपवीत धारण करने का उत्सव अथवा उपनयन संस्कार होता था। इस संस्कार के साथ बालक का दूसरा जन्म माना जाता और वह गुरु से वेद एवं अन्य

विद्याओं का अध्ययन करने का अधिकारी होता था। अध्ययन के काल में शिष्य को गुरु के यहाँ रहना पड़ता था। वहाँ उसका जीवन सादा, पवित्र तथा नियम-बद्ध होता था और उसे मन लगाकर गुरु की सेवा करनी पड़ती थी। नित्य भिक्षा माँगकर लाना पड़ता था और उसी भिक्षा से गुरु और शिष्य का निर्वाह होता था। गुरु अपने शिष्य की शिक्षा और आध्यात्मिक कल्याण पर सदैव दृष्टि रखते थे। ब्रह्मचर्याश्रम की धार्मिक विधियों और अपने नियमित अध्ययन के लिए समय देने के अतिरिक्त शिष्य को गुरु के दैनिक अग्निहोत्र एवं अन्य अनेक कार्यों में सहायता देनी पड़ती थी। १२ से ४८ वर्ष की अवस्था तक अध्ययन कर अपने इच्छानुसार विद्या-लाभ करने एवं गुरु की आज्ञा प्राप्त कर लेने के बाद समावर्तन-संस्कार होता था, जिसमें स्नातक होकर वह घर लौटता था।

गृहस्थाश्रम—गृहस्थाश्रम जीवन का दूसरा समय-विभाग था। विवाह के कौटुम्बिक जीवन में प्रवेश करते ही इसका आरम्भ होता था। गुरु-कुल से लौटने के बाद इस आश्रम में प्रवेश करना स्नातक का पहला कर्त्तव्य होता था। इस आश्रम में वह अपने कौटुम्बिक जीवन का निर्वाह करता एवं जाति तथा वंश की प्रवृत्ति के अनुकूल कोई वर्ण (पेशा) धारण करके अपनी जीविका चलाता था। उसे अपनी पत्नी, बच्चों तथा अन्य आश्रितों के भौतिक एवं शैक्षणिक कल्याण का प्रबन्ध एवं गृहस्थाश्रम की विधियों तथा कौटुम्बिक आचारों का पालन करना पड़ता था। इस प्रकार उसे जीवन के २५ या अधिक वर्ष बिताने पड़ते थे। जब एक या कई पुत्र हो जाते और उनकी अवस्था घर सँभालने योग्य हो जाती, तब उन पर कुटुम्ब का भार छोड़ कर वह तृतीय आश्रम वानप्रस्थ में प्रवेश करता था।

वानप्रस्थ—इस तीसरे वानप्रस्थ आश्रम में वह बन में चला जाता था। कभी कभी उसकी पत्नी भी उसके साथ होती थी। गृहस्थाश्रम की समाप्ति के साथ ही भोग विलास एवं सांसारिक झंझटों अथवा प्रवृत्ति का अन्त हो जाता था। तीसरे आश्रम में प्रवेश करने के साथ ही क्रमिक त्याग या निवृत्ति का जीवन आरम्भ हो जाता था। बन में वह पर्ण-कुटी बनाकर अकेला या अन्य साथियों के साथ रहता और तपस्यामय जीवन की विधियों का पालन करता।

जंगली फल-फूल एवं कन्द-मूल इत्यादि खाता और चमड़े या वृक्षों की छाल से शरीर ढँकता था। इस प्रकार अपने आत्मिक कल्याण का ध्यान रखता हुआ वह संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करता था। जहाँ द्वितीय आश्रम में सांसारिकता और सुख की ओर प्रवृत्ति होती थी, वहाँ तृतीय—वानप्रस्थ—आश्रम में संसार के प्रति विराग या निवृत्ति की भावना हो जाती थी। इस तीसरे आश्रम में एक प्रकार से आगामी विराग एवं निवृत्ति के और इससे भी बड़े जीवन-काल संन्यास के लिए तैयारी होती थी।

संन्यास- चौथी अवस्था संन्यासी, भिक्षु, यति या पारिव्राजक की थी। इस संन्यास आश्रम में वह रमते हुए फकीर का बाना धारण करता था; उसके बाल कटे या मुँडे होते थे और वह लँगोटी पहनता था। वह त्रिदण्डवाली एक छड़ी रखता था। यह त्रिदण्ड वाणी, शरीर और मन पर उसके अधिकार का द्योतक था। एक भिक्षा-पात्र और एक जल-पात्र साथ होता था। वह घर घर अपने भोजन के लिए भिक्षा माँगता और वर्षा ऋतु के चार महीनों (चातुर्मास) के अतिरिक्त कभी अधिक समय के लिए एक स्थान पर न रहता था। संन्यासी अपनी मुक्ति के लिए शांत एवं उदासीन वृत्ति से मृत्यु की प्रतीक्षा करता था। वह सांसारिक जीवन या समाज के बन्धनों, रागादि एवं वासनाओं से मुक्त होकर सुख-दुःख में सम वृत्ति रखता और केवल शारीरिक बन्धनों से छूटने की प्रतीक्षा करता था। उसकी वाणी, विचार और कार्य सर्वोच्च आनन्द या मुक्ति के मुमुक्षुओं के लिए आदर्श-रूप होते थे। वह सब आदमियों और सब जातियों को बराबर समझता था।

हिन्दू लोग जीवन की इसी आदर्श प्रक्रिया के पालन की चेष्टा करते थे। इसमें विफल होने का अर्थ यह होता था कि उसने सुन्दर या पूर्ण जीवन व्यतीत नहीं किया। यहाँ हम इस प्रकार के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कतिपय ऐसी विधियों का उल्लेख करेंगे, जो आज भी प्रचलित हैं।

यज्ञोपवीत संस्कार—हम ऊपर द्विजों के यज्ञोपवीत संस्कार का उल्लेख कर चुके हैं। यह एक आवश्यक प्रचलित प्रथा है जिसके द्वारा बालक को

उच्च समाज के सुभीते प्राप्त होते हैं। प्राचीन समय में स्त्रियों का भी उपनयन या यज्ञोपवीत संस्कार होता था।

विवाह-विधियाँ—विवाह प्रथा आवश्यक और सार्वदेशिक है। वह हिन्दुओं के यहाँ कोई ठेका या शर्तनामा नहीं है, वरन् एक पवित्र बन्धन है जिसके द्वारा आध्यात्मिक विकास में सहायता मिलती है। विवाह आठ प्रकार के होते हैं। इनमें से ब्राह्मण, दैव, आर्ष और प्राजापत्य चार स्वीकृत एवं मान्य तथा गांधर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच ये चार प्रकार के विवाह त्याज्य तथा अमान्य हैं। समाज में आजकल साधारणतः केवल ब्राह्मण और दैव यही दो विवाह-प्रणालियाँ मान्य हैं।

प्राचीन समय में वर और कन्या दोनों के विवाह अधिक अवस्था होने पर होते थे। विवाह के मंत्रों से ज्ञात होता है कि विवाहार्थी कन्याएँ बालिग या वयस्क होती थीं और उनकी अवस्था यह समझने योग्य होती थी कि विवाह का तात्पर्य क्या है। स्त्री और पुरुष का समागम विवाह के चौथे दिन होता था। परन्तु मनु एवं कतिपय शास्त्रकारों ने लिखा है कि रजस्वला होने के पूर्व ही लड़की का विवाह हो जाना चाहिए। कुछ अवस्थाओं में रजस्वला होने के तीन वर्ष बाद तक भी लड़कियाँ अविवाहित रह सकती थीं। मनु के अनुसार लड़के की शादी, विद्याध्ययन के बाद, कम से कम बीस वर्ष की अवस्था में होनी चाहिए।

बाल-विवाह—भारत में बाल-विवाह की प्रथा बहुत दूर तक मूल-बद्ध हो गई थी; किन्तु अब उसमें सुधार हो रहा है और बालिग़ वर-कन्या की शादी का रवाज बढ़ता जा रहा है*। बाल-विवाह की प्रथा से बड़ी हानि हुई है। इससे शारीरिक गठन एवं स्वास्थ्य नष्ट होता है, बाल-मातृत्व के कष्ट झेलने में कन्या मृत्यु-मुख में पतित होती है या शीघ्र वैधव्य के जाल में फँस जाती है। ऐसा हमारे यहाँ बहुत हुआ है। इस प्रथा के कारण सन्तान, यदि हुई तो, बहुत दुर्बल

---

* यहाँ तक कि अब यह कानून बन गया है कि लड़की का विवाह १४ वर्ष से कम और लड़के का १८ वर्ष से कम की अवस्था में नहीं हो सकता।

होती रही है और छोटे बालकों की मृत्यु की संख्या में कल्पनातीत वृद्धि हो गई है।

विधवा-विवाह—सती प्रथा अब १८३० के क़ानून द्वारा बन्द कर दी गई है। इसके सैद्धान्तिक समर्थक चाहे जो कुछ कहें, पर अब यह कोई जीवित प्रथा नहीं है। विधवा-विवाह को लोग अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक काल में इस प्रकार के विवाह होते थे; किन्तु थोड़े ही समय बाद स्मृतिकारों ने विधवा-विवाह के सम्बन्ध में प्रतिरोधक नियम बना दिये और इन नियमों को उच्च वर्णों के लोगों ने मान भी लिया। मनु ने ऐसी विधवा कन्या के विवाह की आज्ञा दी है जो बालिग़ न हुई हो—अक्षत-योनि हो। पराशर और नारद विधवा-विवाह की आज्ञा देते हैं। इतने पर भी इस प्रकार के विवाहों को लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जो स्त्रियाँ विधवा हो जाने पर स्वेच्छापूर्वक संयम और तपस्या का जीवन व्यतीत करती हैं, वे पूज्य हैं; पर जो युवती विधवाएँ इतने कड़े जीवन और संयम का पालन करने में असमर्थ हैं, उनके लिए इस प्रकार की निषेध की आज्ञा बड़ी कठोर है और इस प्रकार के निषेध से प्रायः समाज में नैतिक भ्रष्टता भी फैलती है। गर्भपात, भ्रूणहत्या, बालहत्या अथवा अनाथों की वृद्धि इसके परिणाम हैं। कौटुम्बिक सदाचार और मानवी आवश्यकता के सामाजिक रूप को धक्का लगता है। यह प्रथा ऊँची जातियों तक ही सीमा-बद्ध है, और अब उनकी ओर से भी वैधव्य की कठोरता में कमी करने का आन्दोलन होने लगा है। क़ानून ने विधवा-विवाह की क़ानूनी बाधाएँ दूर कर दी हैं।

बहु-विवाह—इसी प्रकार नवीन आर्थिक, सदाचारिक और शैक्षणिक दबावों में पड़कर लोग बहु-विवाह तथा वृद्ध-विवाह का घोर विरोध करने लगे हैं। अनेक देशी राज्यों ने इस प्रकार के विवाह निषिद्ध कर दिये हैं। यद्यपि ये सब प्रथाएँ निन्दनीय हैं, परन्तु फिर भी इसके परिवर्तन और विकास की गति मन्द है।

वैवाहिक बाधाएँ—विवाह के सम्बन्ध में भी समाज में अनेक बाधाएँ हैं। इनमें गोत्र, उपजाति और वेद की बाधाएँ अनिवार्य और ज्योतिष सम्बन्धी

रीतिगत हैं। इनके कारण समाज की गठन को धक्का लगा है। यद्यपि आयुर्वेद को दृष्टि से सुश्रुत ने लिखा है—"१६ वर्ष की अवस्था तक की बालिका शिशु है।" तथा वेदों एवं मन्त्रों में वर्ण-सीमा-विवाह विधि तथा विवाह की अवस्था का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। किन्तु उन हितकर बातों को भूलकर हिन्दू लोग बाल-विवाह, संकुचित सगोत्र विवाह, आर्थिक प्रलोभनों से वृद्धों के हाथ युवती लड़कियों के विक्रय तथा विधवा-विवाह निषेध इत्यादि बुरी प्रथाओं के जाल में फँस गये। यहाँ यह बात जान लेनी चाहिए कि इन निन्दनीय प्रथाओं को सम्पूर्ण हिन्दू जाति ने कभी ग्रहण नहीं किया, केवल कुछ ही जातियों में ये प्रथाएँ प्रचलित हुईं। यद्यपि अभी तक परम्परागत विधियों का समाज पर बड़ा प्रभाव है, किन्तु ये जातियाँ भी अब इन कुप्रथाओं को छोड़ना चाहती हैं और इसके लिए प्रत्येक जाति में लोग प्रस्तुत भी होने लगे हैं।

९—स्त्रियों की स्थिति और मर्यादा

उच्च जाति की स्त्रियों की स्थिति—ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि वैदिक काल में स्त्रियों को पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त थी, उनका बहुत आदर था और पुरुषों के बराबर ही उनकी मर्यादा थी। उदाहरण के लिए गार्गी और मैत्रेयी आदि नाम उपस्थित किये जा सकते हैं। उस ज़माने में लड़कियाँ स्वयंवर की पद्धति से स्वयं पति चुनती थीं। विधवाएँ पुनर्विवाह कर सकती थीं, स्त्रियाँ शिक्षिता होतीं और धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से कुटुम्ब में उनका बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान होता था। महाभारत, रामायण आदि महाकाव्यों में भी घरेलू और सामाजिक सुख के चित्र मिलते हैं। सीता, सावित्री और दमयन्ती के चरित इसके उदाहरण हैं। किंतु यह सब होते हुए भी अनेक त्रुटियाँ थीं। सब बातें अच्छी ही नहीं थीं। उस समय भी स्त्रियों के लिए अनेक बाधाएँ और बन्धन थे; उनकी उन्नति का क्षेत्र परिमित था। केवल उच्च जाति की स्त्रियाँ ही स्वतन्त्र और अच्छी अवस्था में दिखाई पड़ती हैं।

मनु का मत—मनु ने स्त्रियों को स्वतन्त्रता के अयोग्य बतलाया है और उनको अपने सम्बन्धियों का आश्रित रक्खा गया है। उनके व्यक्तिगत और स्वा-

मित्व के अधिकार छीन लिये गये हैं। पौराणिक काल में बाल-विवाह एवं अन्य कुप्रथाओं का बाहुल्य दिखाई पड़ता है। मुसलमानों की विजय और प्रभाव ने स्त्रियों के प्रति उपेक्षावाला भाव पूर्णता तक पहुँचा दिया, वे परदे में रखी जाने लगीं। घर के बाहर का सारा जीवन उनके लिए कहानी बन गया ; सब प्रकार के सामाजिक और शिक्षा एवं मनोविनोद संबन्धी सुभीतों से वे वंचित कर दी गईं। इससे स्त्रियों का मानसिक विकास रुक गया ; उनकी मानसिक सक्रियता नष्ट हो गई। वस्तुतः स्त्रियाँ संस्कृति की पोषिका, शिशुओं की शिक्षिका एवं पुरुषों की साथी और मित्र हैं। उनकी सदाचारिक, मानसिक एवं शारीरिक शक्ति से ही समाज शक्तिशाली हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि माता और पत्नी की दृष्टि से उनके अधिकांश कर्तव्य घर में ही आबद्ध हैं, पर फिर भी उन्हें अधिक स्वतन्त्रता, अधिक उत्तरदायित्व एवं अधिक शिक्षा की आवश्यकता है ; और विशेषतः इस समय जब कि विज्ञान एवं नवीन विचार-धारा के प्रभाव में मनुष्य एवं समाज की विधियाँ एवं धारणाएँ बड़ी तेज़ी से बदल रही हैं, स्त्रियों की सहायता और सहकारिता के बिना नवीन संसार का ठीक ठीक निर्माण नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा न किया जायगा तो स्त्री-पुरुष में संघर्ष आरंभ हो जायगा। इसलिए इनके जीवन में ऐसा सामंजस्य लाना पड़ेगा कि वे प्राचीन पुनरुज्जीवित संस्कृति को समझ सकें और ग्रहण की हुई नवीन संस्कृति से उसका ठीक ठीक समन्वय कर सकें। इसके लिए स्त्री और पुरुष दोनों को सुशिक्षा देकर तैयार करना पड़ेगा ; उन्हें जीवन के सब अंगों में एक दूसरे से उचित समन्वय कर लेने की स्वतंत्रता देनी होगी। स्त्री-पुरुष दोनों की मध्यकालिक धारणा और आचार आधुनिक परिस्थितियों एवं आदर्शों के सामने जीवित या कार्यशील नहीं रह सकते। जापान, तुर्की एवं अफ़गानिस्तान इत्यादि प्राच्य देशों के उदाहरण धीरे धीरे प्रकट कर रहे हैं कि आधुनिक समय में अच्छे प्रकार का जीवन व्यतीत करने और रहने के लिए स्वतंत्र देशों को भी अपने रङ्ग-ढङ्ग में बहुत परिवर्त्तन करने की आवश्यकता है।

पौराणिक काल

स्त्रियों की आधुनिक आवश्यकताएँ

महाभारत में स्त्री की प्रशंसा—महाभारत (१ ; ७४ ; ३६) में पत्नी की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—"पत्नी पुरुष (पति) की अर्धाङ्गिनी

है, पत्नी सर्वोत्तम मित्र तथा धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति का मुख्य साधन (मूल) है, वह मोक्ष का भी साधन है। धर्म विधि के संपादन में वह पिता-तुल्य तथा रुग्नावस्था में माता-तुल्य है।"

इस तथा इस प्रकार के अन्य प्रशंसात्मक वाक्यों के होते हुए भी हम जानते हैं कि इस संसार के भार उठाने में समर्थ होने के लिए हमें अपनी स्त्रियों को श्रेष्ठतर बनाना होगा। इसके लिए बहुत से ऐसे काम करने पड़ेंगे, जिनकी अतीत में कोई आवश्यकता न थी। स्त्रियों के सम्बन्ध में जहाँ कहीं नीच धारणा हो, वहाँ से उसे दूर करना होगा; उसकी जगह उनके कर्तव्यों और ज़िम्मेदारियों के प्रति उत्तम धारणा रखनी पड़ेगी और उनसे तदनुकूल ही आदरपूर्ण व्यवहार करना होगा, न कि शूद्रों जैसा। और फिर शूद्रों के साथ ही बुरा व्यवहार क्यों किया जाय? सामाजिक मर्यादा की वृद्धि के लिए उन्हें उच्च शिक्षा तथा अन्य सुभीते क्यों न दिये जायँ? जन्मना शूद्र को श्रेष्ठतर कार्यों और पेशों में सम्मिलित होने तथा सहोद्योग द्वारा अपनी संस्कृति एवं मर्यादा बढ़ाने का अवसर अवश्य ही देना चाहिए।

६—अस्पृश्यता

इसका आधार—छूआछूत की प्रथा, जाति व्यवस्था की कठोरता का बढ़ा हुआ रूप है और रक्त की पवित्रता, पेशों की मर्यादा तथा भोजन, धर्म एवं सदाचार में संकरता न आने देने की भावना ही इसका आधार है।

इसके प्रकार—यहाँ हम यह देखना चाहते हैं कि जीवन के विभिन्न घरेलू एवं बाहरी क्षेत्रों में छूआछूत की धारणा कहाँ तक फैली हुई है।

(१) घरेलू छूआछूत—भोजन बनाने और करने के समय, पूजा करने एवं धार्मिक विधियों के सम्पादन के समय, स्नान के पश्चात, जन्म और मृत्यु के बाद सम्बन्धियों के बीच कुछ समय तक, स्त्रियों के मासिक धर्म के समय तथा इसी प्रकार के अन्य अवसरों पर इस प्रकार की छूआछूत देखी जाती है; किन्तु इस प्रकार की छूत कुछ विशिष्ट समय तक ही सीमाबद्ध है।

(२) जातिगत छूत—कतिपय जातियों के हाथ से पानी या भोजन का स्पर्श बचाया जाता है; पूजा-अर्चना के समय पुजारियों को छूने की लोगों को

मनाही है ; भोजन के समय लोग उनके साथ नहीं बैठते। यह सब बातें जाति-गत छूआछूत के इस प्रकार में आती हैं ; किन्तु ये बातें भी ख़ास मतलबों के लिए एवं अस्थायी हैं।

(३) स्थायी छूआछूत—अन्त्यज, चाण्डाल या पंचम नामधारी कतिपय समूहों को लोग कभी स्पर्श नहीं करते और उनके स्पर्श में सदा छूत मानते हैं। वे बेचारे जन्मना अछूत हैं। वे किसी अवस्था में स्पृश्य नहीं हैं और न दूसरी जातियों के आदमियों को छू सकते हैं। उनकी छाया भी अपवित्रकारी समझी जाती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ब्राह्मणों की भाँति कुछ लोग तो जन्म से ही स्पृश्य पैदा होते हैं, कुछ लोग चाण्डालों की भाँति पैदाइशी अछूत होते और जन्म भर रहते हैं और कुछ लोग एक निश्चित काल के लिए अछूत रहते और फिर छूने के योग्य हो जाते हैं।

किन्तु चाण्डालों के सम्बन्ध में छूआछूत की प्रथा अति को पहुँच गई है। हिन्दू रहने की दशा में चाण्डाल अछूत समझा जाता है ; पर जब वही मुसल-मान या ईसाई हो जाता है, तब छूने योग्य हो जाता है। एक आदमी गन्दे जानवर को छू सकता है ; उसके स्पर्श से वह अपवित्र नहीं होता। पर चाण्डाल को पशु की यह मर्यादा भी प्राप्त नहीं है। पहले ज़माने में स्पृश्य जातियों में खानपान, देवार्चन तथा आचार सम्पादन के समय इतनी छूत नहीं थी, पर पिछले समय में कट्टरपन और जटिलता बढ़ती ही गई। आजकल भी अनेक स्थानों पर स्थानीय प्रथा के अनुसार कतिपय छोटी जातियों से भोजन पकवाने और पानी मँगवाने आदि कार्यों में विशेष छूत नहीं मानी जाती। यहाँ हम धार्मिक या स्वास्थ्य सम्बन्धी धारणाओं पर आश्रित स्वजाति में या दूसरी जातियों के साथ या घर में ही मानी जानेवाली छूआछूत के सम्बन्ध में कुछ विशेष कहना नहीं चाहते, वरन् यहाँ चाण्डालों या दलित जातियों के उन समूहों का ज़िक्र करते हैं जो स्थायी रूप से अछूत मान लिये गये हैं।

इसका मूल—यह कुप्रथा पुराने धर्म-शास्त्रों में उल्लिखित रवाजों एवं विश्वासों के आधार पर प्रचलित है। यद्यपि वेदों ने केवल चार ही वर्ण माने थे, पर पंचम लोगों का एक पाँचवाँ वर्ग भी बहुत प्राचीन काल से ही लोग

मानने लगे थे। स्वयं शूद्रों के सत्-शूद्र, नामशूद्र और अति-शूद्र नामक तीन भाग हो गये थे। जो शूद्र अपने धर्म से च्युत होता था, वह अतिशूद्र या अन्त्यज श्रेणी में रख दिया जाता था। तथा जो लोग कोई बड़ा पाप करके, कोई निषिद्ध कार्य करके या कर्तव्य-च्युत होने के कारण अपने को मर्यादा से गिरा देते थे, उनकी गिनती इस पाँचवीं श्रेणी—पंचम—में होती थी। कुछ ऐसे लोग भी थे जो चारो वर्णों में से किसी में भी नहीं रखे जा सकते थे। वे अपने जीविकोपार्जन के गन्दे और घृणित उपायों, गन्दे भोजन, नीच रीति-रवाज, वाहियात भाषा तथा सदाचारहीनता और दुष्ट प्रकृति के कारण समाज से अलग रखे गये। सदाचारिक, धार्मिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी बातों का विचार करके उन्हें अपने पड़ोस में न रखना ही उचित समझा गया। ये या तो उन लोगों में से रहे हों जो शूद्रों की नाईं विजित हुए थे, किन्तु जिन्होंने शूद्र जीवन की आर्यों द्वारा निश्चित मर्यादा ग्रहण नहीं की थी और वैदिक चातुर्वर्ण की परिधि के बाहर ही रहे; अथवा ये उन लोगों में से रहे हों जो धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृति दृष्टियों से सदैव आर्यों से अलग रहनेवाली जातियों के संसर्ग में आ गये।

मनु एवं पराशर—मनु ने अपनी स्मृति के दसवें अध्याय (५१—५६ श्लोक) में चाण्डालों, उनकी जीवन विधि तथा समाज के अन्दर एवं बाहर की उनकी मर्यादा का जिक्र किया है। पराशर स्मृति अध्याय (६; २२—३२; ३४; ४०) में तथा अन्य लेखकों के विवरणों में इस श्रेणी का वर्णन मिलता है। विदेशियों ने भी उनका ज़िक्र किया है। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में अबी दुबैस (Abbe Dubois) नामक यात्री ने अपने विवरण (पृष्ठ ५२, परिच्छेद ५) में उनके जीवन का चित्र खींचा है। उसे पढ़ने से मालूम होता है कि उनका स्पर्श हो जाने पर स्नान एवं उपवासादि के द्वारा प्रायश्चित्त करना पड़ता था। वे उस सड़क पर नहीं चलने पाते थे, जिस पर स्पृश्य जातियों के लोग चलते थे; उनकी छाया भी बचाई जाती थी; वे सामान्य कूओं पर पानी नहीं भर सकते थे; उनसे बातचीत करना या उनको साथ रखना अपवित्रकारक समझा जाता था। वे गाँव और शहर के बाहर ही रह सकते थे

और निर्दिष्ट समय पर पहले से सूचना देकर ही शहर या गाँव में प्रवेश कर सकते थे। उन्हें अशुद्ध, चरित्रहीन और बदमाश समझा जाता था। लोगों का खयाल था कि वे सामाजिक जीवन के दस नियमों में से किसी का भी पालन या अनुसरण नहीं करते थे। लोग उनसे घृणा करते थे और अपने कर्त्तव्यों से च्युत होने पर उन्हें कठोर दंड दिया जाता था। भोजन का उच्छिष्ट अंश उनके सामने खाने के लिए फेंक दिया जाता था। वे बेचारे इस दुर्व्यवहार पर कुछ न कहते और इसे अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल समझ सन्तोष कर लेते थे। उन्हें निम्न-लिखित अपराधों के अपराधी बताकर उनके स्थायी अछूतपन एवं पतन का औचित्य स्वीकृत कर लिया गया था—

उन पर लगाये हुए अपराध—(१) चोरी, (२) मद्यपान, (३) विद्वानों की हत्या, (४) गर्भ-स्थित जीव की हत्या, (५) भ्रष्टता एवं आदरणीय स्त्री के साथ बलात्कार, (पाँच महापातक), (६) इन पापों की बराबर पुनरावृत्ति, (७) अपराध करके मुकरना या झूठ बोलना, (८) गो-हत्या तथा गोमांस एवं मृत पशु के शरीर का भक्षण, (९) कभी कभी नर-मांस-भक्षण, (१०) पिण्ड (embryo) भक्षण, (११) दुष्ट-संसर्ग, (१२) जीवन विधि, वाणी, भोजन, वस्त्र, आवास एवं पेशे की अत्यधिक अशुद्धता और गन्दगी।

इन दोषारोपों द्वारा उन्हें समाज से अलग, नगर या गाँव के बाहर रहने को मजबूर किया गया; नगरों और गाँवों में उनका आना जाना, समय एवं स्थानीय परस्थिति के अनुसार नियमित कर दिया गया।

साधारण मानवी अधिकार भी प्राप्त नहीं—भारत में इन दलित जातियों की संख्या बहुत अधिक—लगभग पाँच करोड़ है। क़ानूनी दृष्टि से कोई अयोग्यता न होते हुए भी इन्हें समाज में प्रारंभिक या छोटे छोटे मानवी अधिकार तक प्राप्त नहीं हैं। जो लोग उन्हें भारतीय समझते हैं, उनमें से प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है कि उन्हें वर्तमान धार्मिक एवं सामाजिक जीवन की पतित अवस्था से ऊपर उठावें और श्रेष्ठतर मर्यादा तक पहुँचने में उनकी सहायता करें। हिन्दुओं पर यह एक कलंक है। यदि वे सब प्रकार से बुरे भी हों, तो भी उन्हें शिक्षा

हिन्दुओं का कर्त्तव्य

द्वारा सुन्दर, सदाचारपूर्ण एवं मानवी जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाना समाज का कर्त्तव्य है। उपेक्षा द्वारा पिछड़े हुए, अज्ञानी या बुरे आदमी अच्छी हालत में नहीं लाये जा सकते। धारणा यह होनी चाहिए कि आदमी इसी जीवन में अपनी मर्यादा ऊँची कर सकें, न कि आगामी जन्म के भरोसे चुपचाप बैठे रहें। नई एवं श्रेष्ठतर धारणाओं और सिद्धान्तों के अभ्यास से तथा शिक्षा, सुसंग एवं उदाहरण द्वारा कर्मों को बदला जा सकता है। क़ानून तथा शिक्षा, एवं उपदेश दोनों तरह से बुरे रवाज़ों एवं दुष्कर्मों को छोड़ने पर उन्हें विवश किया जा सकता है। छूआछूत की यह कुप्रथा हमें धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक आदि दृष्टियों से नीचे गिरा रही है। इस बड़ी और बहु-संख्यक श्रेणी की सदिच्छा, सहयोग एवं अच्छी अवस्था पर हमारी शक्ति एवं उन्नति निर्भर है। आज हमारे राष्ट्र और मनुष्यता का तक़ाज़ा है कि वे युगों से चले आनेवाले इन अनुचित बन्धनों से मुक्त हों। उनकी दास-मनोवृत्ति एवं अवस्था बदलनी पड़ेगी और राष्ट्र के एक महान् अंग को समाज में मिलाना होगा। उनका दूसरे धर्मों में चले जाना भारत के लिए बहुत भयावह होगा। उनकी शुद्धि एक बड़ी सफलता होगी तथा छूआछूत का अन्त भारतीय इतिहास की एक युग-प्रवर्तक घटना होगी। उनकी वर्त्तमान अवस्था सब प्रकार से हमारे राष्ट्रीय अभ्युत्थान में बाधक है। यदि उन्हें स्वयं अपनी पतनशील अवस्था का बोध हो जायगा, तो इससे उनमें दूसरी जातियों के प्रति घृणा और प्रतिक्रिया के भाव फैलेंगे। केवल जन्म के कारण ऊँच नीच की धारणा मानवी नहीं है और झूठे ज्ञान पर आश्रित है। मनुष्य परिवर्तनीय, शिक्षणीय एवं क्रमशः पूर्णता की ओर जा सकनेवाला जीव है। वह शक्तिमय और प्रगतिशील है, अतएव वह स्वतंत्र कर्मशीलता के लिए क्षेत्र और श्रेष्ठतर कार्य, विचार और वाणी की ओर जाने के लिए पथ-प्रदर्शन चाहता है। नीचो और दलित अवस्था मनुष्य को ठीक वैसे ही पतनशील बनाती है, जैसे ऊँची और सुभीते की अवस्था उसे तब तक विकसित करती और ऊँचे उठाती है, जब तक कि वह स्वयं जीवन में उलटा और बुरा मार्ग ग्रहण न करे। निस्सन्देह कठिन परिस्थितियों में पड़ा हुआ मनुष्य उन्नति कर सकता है, पर तभी, जब उसमें अपनी अवस्था एवं परिस्थिति के प्रति असन्तोष हो, आगे बढ़ने

इसका प्रचलित रहना भयावह है

की गुञ्जाइश हो और उसके कार्य के साथ लोगों की शुभ कामना हो। अब तक अछूत अपनी अवस्था को कर्मों का फल समझ कर सन्तुष्ट रहे और उन्होंने कभी उसे बदलने की चेष्टा नहीं की। पर आज समय के परिवर्तन ने उनमें भी असन्तोष उत्पन्न कर दिया है। अतएव अब हमें वंशानुगत मर्यादा की दृष्टि से नहीं, वरन् राष्ट्रीय और मानवी दृष्टि से उनकी समस्याओं पर विचार करना चाहिए।

सन्तों और सुधारकों का व्यवहार—भूत काल के अधिकांश महात्माओं, सन्तों और सुधारकों ने ईश्वर की दृष्टि में सब जातियों एवं जाति-बहिष्कृतों की समानता का उपदेश किया है। उन्होंने ऊँच नीच में भेद-भाव नहीं रखा है। भगवद्गीता में कहा गया है कि पण्डित की दृष्टि में विद्वान् ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल सब बराबर हैं। बुद्ध ने अपने संघ के सब आदमियों को समान मर्यादा प्रदान की। अन्य महात्माओं ने भी ऐसा ही किया। किन्तु यह सब पारमार्थिक समानता थी, सामाजिक नहीं। इसी भाव में वेदान्ती शंकराचार्य ने कहा था "वह चाण्डाल हो या ब्राह्मण, इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता; वह शिक्षक है, मेरी ऐसी सम्मति है"। रामानुज ने इस संसार में समानता का उपदेश किया, चाण्डाल स्त्रियों एवं शूद्रों को अपना शिष्य बनाया और उन्हें मन्दिरों में जाने तथा तालाबों में स्नान करने की आज्ञा दी। फिर भी उनकी वह समानता नहीं थी जिसे हम 'सामाजिक समानता' कहते हैं। रामानन्द ने नीच जातियों से शिष्य एवं अनुयायी बनाये। इसी प्रकार कबीर, चैतन्य, नामदेव, तुकाराम तथा अन्य भक्त-सन्तों ने इन विचारों को फैलाया और कार्यान्वित किया। कुछ ने अछूतों के साथ भोजन भी किया। उनकी शिक्षाओं के प्रभाव से अनेक ऐसे अछूत सन्त उत्पन्न हुए जिनके भजन आज जगह जगह प्रचलित हैं। किन्तु इन बातों के होते हुए भी समाज ने समानता का सिद्धान्त स्वीकृत नहीं किया। यह ठीक है कि धार्मिक दृष्टि से कभी कभी जैसे, होली या रामलीला के उत्सवों पर और जगन्नाथ (पुरी, पूर्व), वेंकटेश्वर (गिरि, दक्षिण) एवं विट्ठोबा (पण्ढरपुर, महाराष्ट्र) इत्यादि मन्दिरों में लोगों का उतना कट्टरपन नहीं रह जाता, किन्तु फिर भी सामाजिक कठोरता और कट्टरपन ज्यों का त्यों बना हुआ है।

नवीन धार्मिक आन्दोलन--दूसरों को अपने धर्म में मिलानेवाले जैन, बौद्ध, सिख आदि मत भी इन समस्याओं को निर्मूल न कर सके। ये धर्म अब अधिकतर उपासनात्मक बन गये हैं। इस्लाम और ईसाई ही दो ऐसे विदेशी धर्म हैं जो उनके धार्मिक एवं सामाजिक मामलों में विश्वास रखनेवाले प्रत्येक स्वधर्मानुयायी को मर्यादा और सुभीते की समानता प्रदान करते हैं। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, देव समाज तथा थियोसाफिकल समाज इत्यादि आधुनिक या नूतन धर्म-संस्थाएँ छूआछूत या जातिगत कट्टरपन नहीं मानतीं। इसके विरुद्ध वे विश्व-भ्रातृत्व पर ज़ोर देती और नीची जाति के लोगों की अवस्था और मर्यादा में उन्नति एवं वृद्धि करने का प्रयत्न करती हैं। शुद्धि एवं संघटन के आन्दोलन से हिन्दू समाज में फैली हुई छूआछूत की भावना और जातिगत कट्टरपन में बहुत कमी हुई है। धीरे धीरे सुधार हो रहा है। अन्त्यज भी उन्नति कर रहे हैं। वे खेती, सरकारी नौकरी, सैनिक नौकरी, क्लर्की और शिक्षा इत्यादि के काम करने लगे हैं। इससे उनमें एक नई विचार-धारा उत्पन्न हो रही है और उनकी सामाजिक एवं सदाचारिक मर्यादा बढ़ रही है।

वर्तमान शैक्षणिक एवं राजनीतिक आन्दोलन उन्हें आगे बढ़ा रहे हैं; और अब तो स्वयं अछूत नेताओं ने अपनी जाति की उन्नति का कार्य अपने हाथ में ले लिया है। उन्नति सम्बन्धी उनके उद्योग के प्रति अब जनता की सहानुभूति और सहकारिता बढ़ती जाती है। हमें आशा है कि छूआछूत की समस्या का शीघ्र ही निराकरण हो जायगा।

हिन्दू सामाजिक जीवन की सामान्य धारा

हिन्दू जीवन में अखिलत्व या सामाजिक एकता की अपेक्षा वर्गिक भाव या विभक्तिकरण अधिक है। अनेक सामाजिक एवं धार्मिक समूह एक सांघिक आधार पर, कतिपय सामान्य एवं समान धारणाओं के सहारे एक दूसरे से बँधे हुए हैं। विभिन्न समूहों में परस्पर कोई सामाजिक व्यवहार नहीं है। सार्वजातीय भोज एवं सार्वजातीय विवाह का पूर्ण अभाव है; कोई ऐसा सामान्य सामाजिक सम्मेलन नहीं होता जिसमें थोड़ी देर के लिए भी लोग अपने को पूर्णतः स्वतंत्र

और दूसरों के बराबर समझ सकें। इस प्रकार सामाजिक जीवन भेदकारी और संकुचित है। छूआछूत की प्रथा की अति हो चुकी है और उसने एक ऐसी सामाजिक संस्था का रूप धारण कर लिया है जो लोगों को स्वतंत्रतापूर्वक एक दूसरे से मिलने एवं अपने तथा राष्ट्र के सुख-दुःख के समय मिल कर एक होने में बाधक होती है। यदि कभी कुछ लोग एक स्थान पर एकत्र भी होते हैं तो किसी ख़ास मतलब या काम के लिए, न कि सामाजिक सुख और विनोद के लिए। नये खेल, क्लब एवं जिमनेशियम इत्यादि इस अवस्था में कुछ परिवर्तन कर रहे हैं, पर सब मिला कर हालत प्रायः वैसी की वैसी ही है। जाति व्यवस्था और इसकी भेदकारी प्रवृत्ति से नई श्रेणियाँ, विभाग और उपजातियाँ पैदा होती हैं जिससे ऊँच-नीच तथा शिक्षित-अशिक्षित की धारणाएँ गहरी ही होती जाती हैं। इस प्रकार समाज अस्थिर, जड़ और अनुदार अवस्था में पड़ा हुआ है और इसकी वंशानुगत प्रकृति, संघटन और मर्यादा बनी है। सामाजिक संघटन नये आदमियों और नई भावनाओं को ग्रहण करनेवाला नहीं है। इसमें नवीन स्वतंत्रता या आदर्शों के प्रति सहानुभूति और सहकारिता नहीं है। इसके फल स्वरूप अन्य समूहों से सहयोग करना बहुत कठिन हो जाता है। समाज अन्धा और अप्रगतिशील बना है। व्यक्ति में उदारता लाने की जगह उसकी विकास-गति में बाधा उपस्थित की जाती है।

७–भारत में मुसलमानों का सामाजिक जीवन

सामाजिक संघटन के सिद्धान्त—मुसलमानों के सामाजिक जीवन के सिद्धान्त और स्वरूप हिन्दुओं से विभिन्न हैं। यद्यपि हिन्दू समाज के समान उनका समाज भी अनेक धर्म-सिद्धान्तों के रंग में रँगा हुआ है एवं धर्म पर ही उसका आधार है, पर उनके सामाजिक विचार और धारणाओं के सिद्धान्त हिन्दुओं से भिन्न हैं। इस्लाम की आदर्श सामाजिक पद्धति मनुष्य मात्र की समानता के सिद्धान्त पर आश्रित है। हर एक मुसलमान केवल धर्म की दृष्टि से नहीं, बल्कि अपने समाज, विधान और राजशासन की दृष्टि से भी बराबर है। मुसलमानों में उच्च एवं नीच, स्पृश्य या अस्पृश्य और गौर एवं श्याम वर्ण की विभिन्नता करनेवाली जाति-प्रथा नहीं है। सब सच्चे

मुसलमानों में आध्यात्मिक समानता के साथ सब जातियों के लोगों की सामाजिक समानता है।

परन्तु अरब निवासियों ने ग़ैर-अरब मुसलमानों के संबन्ध और व्यवहार में इस सैद्धान्तिक सामाजिक समानता का पालन नहीं किया था। वे उन्हें मवाली या असामी कहते थे और उन्हें कम सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार देते थे। उनके साथ विवाह की प्रथा को वे आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे और उसको दूषित मानते थे। अरब जाति को अपने कुलीन कुल का गौरव था और वे ग़ैर-अरब मुसलमानों के साथ समानता रखने के पक्ष में नहीं थे। जब अन्य जातियाँ धर्म परिवर्तन करती थीं और जब किसी देश अथवा सम्प्रदाय में राजनीतिक शक्ति और मान प्राप्त कर लेती थीं, तब ऐसी ही प्रवृत्ति उनमें भी देखी जाती थी। जातीयता की भावना समानता के धार्मिक भाव के आगे पूर्णतया दब नहीं गई थी। इसी लिए आज मुसलमान जनता में सामाजिक समानता के भाव के विरुद्ध कितनी ही बाधाएँ और पक्षपात देखने में आते हैं।

मुसलमानों में दासत्व प्रथा की स्थिति सर्वदा बनी रहती थी। परन्तु ज्योंही वे दास मुसलमान हो जाते थे, त्यों ही उनकी दशा और उनके पद में बड़ी उन्नति हो जाती थी। एक दासी की सन्तानों को वे ही अधिकार प्राप्त हो जाते थे जो विधिपूर्वक विवाहित स्त्री की सन्तानों को प्राप्त थे। इस्लाम धर्म में आचार-विरुद्ध उत्पत्ति मान्य है। कदाचित् ही कहीं यह माना जाता हो कि जन्म से कोई दोग़ला हो सकता है या उसे विवाहिता की सन्तान के समान अधिकार नहीं हैं। उनके यहाँ जन्म में कोई पाप नहीं समझा जाता।

कोई आदमी अपने माता-पिता, जाति या वर्ण के कुकर्मों का उत्तराधिकारी नहीं होता। वह अपने उद्योग से इसी जीवन में दूसरे के समान हो सकता है। उसमें कोई जातीय कलंक अथवा जातीय सम्मान नहीं है। इस्लाम धर्म में भ्रातृ-भाव एवं मनुष्य की समानता के सिद्धान्त हैं। पैग़म्बर मुहम्मद कहते हैं—"याद रक्खो, तुम सब भाई हो। परमात्मा की दृष्टि में सब प्राणी समान हैं। आज मैं जाति, वर्ण एवं राष्ट्रीयता की श्रेष्ठता अथवा लघुता को अपने पैरों तले कुचलता हूँ। सब प्राणी आदम की सन्तान हैं और आदम मिट्टी का बना था।"

उपेदश

सामाजिक कुरीतियों की उपस्थिति—मुसलमानी धर्म में इन सब सिद्धान्तों एवं उपदेशों के रहते हुए भी अन्य स्थानों की भाँति भारतवर्ष में भी मुसलमान समाज में कई सामाजिक बुराइयाँ उपस्थित हैं। ये ऐसी कुरीतियाँ हैं जो मानवी प्रकृति एवं धर्म परिवर्त्तित करनेवालों के पुराने और आधुनिक सम्मेलन से उत्पन्न हुई हैं। कई ऐसी हानिकारक रीतियाँ, विचार और झूठे अविश्वास हैं, जिन्हें मुसलमान समाज के आधुनिक जीवन अथवा संसार में उचित रूप से सम्मिलित होने के लिए दृढ़ और शक्ति-शाली होने के पूर्व शीघ्र दूर करना अत्यन्त आवश्यक है।

धार्मिक आधार—हर एक मान्य रीति, मत, विचार और संस्था के धार्मिक आधार ने मुसलमान समाज को बहुत ही कट्टर बना दिया है। अब इसमें परिवर्त्तन करना और इसके स्थान पर उन्नतिशील गुणों का समावेश करना अति कठिन होगा। यह किसी उन्नतिशील पथ का परित्याग कर सकता है, लेकिन यह जीवन की स्वीकृत एवं परम्परागत रीतियों और विधानों को नहीं त्याग सकता। यह माध्यमिक काल का विचार, जिसका आधार धर्म है, आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं और आदर्शों के मार्ग में बाधक है। यह सब से भारी समस्या है जिसका मुसलमानों को आधुनिक समय में अपने आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जाग्रति में सामना करना पड़ता है।

धर्माधिकार की कल्पना अथवा विचार—इस्लाम धर्म मानव समानता के भाव, भ्रातृ भाव एवं धर्मशास्त्र के एकाधिकार का एक विचित्र मिश्रण है। मुसलमानों को कुरान के आदेशों और व्याख्याओं, पैगम्बर की कही हुई बातों, खलीफाओं या इमामों की परम्परागत बातों और उलमा के फतवों के विपरीत जाने या कोई कार्य करने का कोई अधिकार नहीं दिया गया है। सामाजिक प्रणालियों का अस्थायी, सामयिक, स्थानिक या मानवी महत्त्व उसमें स्वीकृत नहीं किया गया है। इसलिए उसे हानि सहनी पड़ती है और वह अन्य धार्मिक-सामाजिक प्रणालियों की भाँति अवनति के पथ पर जा रहा है।

विचारवान् मुसलमान यह स्वीकृत करते हैं कि उनमें सामाजिक बुराइयाँ हैं और सुधार की आवश्यकता है। उनके सामने यह भी एक बड़ी समस्या है कि

हम ऐसे सुधार करें जो हमें पीछे लौटा कर आदर्श इस्लाम के शुद्ध उपदेशों की ओर ले जानेवाले हैं अथवा जो हमें अर्वाचीन मानवी कल्याण और सार्वराष्ट्रीय सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं के पथ पर अग्रसर करते हैं। लेकिन यह स्वीकृत किया जाता है कि सुधार अवश्य होना चाहिए। अब यह सुधारकों के स्वभाव एवं प्रकृति पर निर्भर है कि प्राचीन आदर्शों या सिद्धान्तों का आधिपत्य बना रहे या भविष्य अथवा वर्तमान की आवश्यकताओं के विचार से प्रेरित होकर सुधार किया जाय।

सामाजिक बुराइयों के कारण—भारतवर्ष के मुसलमान समाज में बुराइयाँ इस कारण आ गई हैं कि इस समाज की रचना एक वंश अथवा संस्कृति से नहीं हुई है। इस धर्म में बहुत सी विभिन्न संस्कृतियों, रीतियों एवं विचारों के कुल और वंश प्रविष्ट हुए हैं। और जब उन्होंने इसे अपनी इच्छा के विरुद्ध या पूर्ण विश्वास अथवा आवश्यकतावश इस धर्म में प्रवेश किया, तब उन्होंने अपने प्राचीन समाज, सभ्यता और विचार के अनेक गुणों को भी अपने साथ ज्यों का त्यों रखा, उनका परित्याग नहीं किया। इस दशा में इस्लाम उन पर एक निरर्थक और ऊपर से पड़ा हुआ भार हो गया है। उनके प्राचीन विचारों, पक्षपातों एवं मिथ्या विश्वासों में से बहुतेरे उनके साथ रह गये हैं। जब धर्म-परिवर्त्तन पूर्ण श्रद्धा या विचार-परिवर्त्तन से नहीं होता, बल्कि बलपूर्वक और आवश्यकतावश किया जाता है, तब यही परिणाम होता है। इन दशाओं में धर्म-परिवर्त्तन नाम मात्र का होता था; और जो व्यक्ति दूसरे धर्म से लिया जाता था, उसके मन में नये धर्म पर कोई वास्तविक विश्वास नहीं होता था। इसलिए भारतवर्ष के मुसलमानों में सामाजिक सुधार की निरन्तर और स्थायी आवश्यकता है।

८—समाज-सुधार

आधुनिक समाज-सुधार आन्दोलन का विकास—युरोपीय समाज, सदाचार एवं संस्कृति, युरोपीय शिक्षा, विज्ञान और साहित्य के संसर्ग और आक्रमण के कारण देश में सामान्य जाग्रति के साथ साथ आधुनिक समाज-सुधार

आन्दोलन का भी आरंभ हुआ। युरोप-निवासियों के सिद्धान्तों एवं आदर्शों, सांसारिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उनकी सफलता तथा भारत में उनके शासन ने भारत के समाज-सुधारकों एवं विद्वानों का ध्यान इस जाग्रति में नये ख़तरों और नवीन स्वाधीनता की ओर आकृष्ट किया। नवीन की परीक्षा और प्राचीन का अध्ययन आरंभ हुआ। फल स्वरूप समाज के नेताओं ने प्राचीन रवाजों को पुनः चलाने और नई एवं लाभकारी बातों को ग्रहण करने का उपदेश किया। सुन्दर एवं स्फूर्तिप्रद जीवन की धारणा में कुछ परिवर्त्तन हुआ और समाज-सुधार का आन्दोलन चल पड़ा। ईसाई धर्म-प्रचारकों तथा नवीन समाज विज्ञान-वादियों द्वारा प्राचीन हिन्दू समाज एवं धर्म पर होनेवाले आक्रमणों तथा हिन्दुओं को धर्म-परिवर्तन द्वारा अहिन्दू धर्मों में मिलाने की सफल चेष्टाओं ने हिन्दू समाज को झकझोर कर जगा दिया। जागकर हिन्दुओं ने पहले तो तीव्र विरोध करने की नीति ग्रहण की; इसके बाद विरोधी शक्तियों का अध्ययन किया गया और पीछे समाज-सुधार की आवश्यकता और महत्त्व का अनुभव हुआ। नये फैशन और अन्धानुसरण पर ज़ोर शोर से आक्रमण किये गये। समाज-सुधारकों का भी समाचारपत्रों और व्याख्यान मंचों से बड़ा विरोध हुआ और अनेक बार उनका अपमान भी किया गया। प्राचीन और नवीन दोनों पर बड़े बड़े आक्रमण हो रहे थे। दो दल बन गये—एक सुधारकों का और दूसरा कट्टर लोगों का। और उन्होंने विवाद में परस्पर विरोध की नीति ग्रहण की। समाज-सुधारकों का विरोध यह कह कर किया गया कि वे प्रत्येक विदेशी बात की नक़ल करनेवाले और प्रशंसक हैं; वे तात्विक और अतात्विक बातों का विवेचन नहीं करते। उन पर वैर या राष्ट्रीय राजनीतिक आन्दोलन के प्रति कोई ख़ास आग्रह या उत्साह न रखने तथा सुधार को एकांगी बना देने का दोष लगाया गया। कहा गया कि वे अपने नवीन आदर्शों की प्राप्ति के लिए अपने जीवन में सच्चे प्रेम, सहानुभूति या त्याग का उदाहरण उपस्थित नहीं करते; वे व्यक्तिगत उन्नति में लगे रहते और फ़ुरसत के वक्त लिखकर या भाषणों द्वारा लोगों को उपदेश करते फिरते हैं। यह आरोप भी लगाया गया कि वे राजभक्तों के दल के हैं और सरकार द्वारा की जानेवाली ग़लतियों, अत्याचारों और ज़बरदस्तियों का ज़ोरों से विरोध नहीं कर सकते, वरन् उलटे

समाज-सुधारकों का विरोध

भारत में विदेशी शासन को दैवी बतलाकर स्थायी करने की चेष्टा करते हैं। इन बातों के अतिरिक्त जनता का यह भी विश्वास था कि इनका आचार ऐसा नहीं कि ये समाज के नेता बन सकें तथा आचार्यों और द्विजातिक संस्थाओं को ही सुधार ने और उसका आन्दोलन करने का अधिकार है। उनका कहना था कि सरकार को भी क़ानून बना कर जनता के सामाजिक आचारों एवं विधियों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। समाज सुधार धीरे धीरे, क्रमशः और सावधानतापूर्वक होना चाहिए।"

कट्टर लोगों का विरोध—कट्टर लोगों का विरोध इसलिए हुआ कि वे परम्परा के अन्ध भक्त थे। उन्होंने कभी यह जानने की उत्कंठा नहीं प्रकट की कि समाज की आवश्यकताएँ क्या हैं तथा सर्वोत्तम जीवन और उसका संघटन क्या है। नई कल्याणकारी धारणाओं का अंध विरोध करके उन्होंने समाज की स्फूर्ति को नष्ट करने का यत्न किया। विदेशी धर्म-प्रचारकों की लोगों को स्वधर्म में मिलाने की चेष्टा से समाज में जो आशंका उत्पन्न हो गई थी और उनकी मनुष्यतामयी विधियों एवं समाज सेवा तथा सामाजिक स्वतंत्रता के सिद्धान्तों के कारण जो असंतोष फैल गया था, उसकी कट्टर दल ने उपेक्षा की। उनकी जीवन सम्बन्धी धारणा राजनीतिक जाग्रति एवं एकता तथा लौकिक उन्नति के अयोग्य थी। उन्होंने केवल अन्ध एवं हिंसक नीति ग्रहण कर रखी थी। जिस समय यह विवाद और विरोध चल रहा था, उसी समय ऐसे कार्यकर्त्ताओं का एक दल उठ खड़ा हुआ, जो अपनी कतिपय नवीन धारणाओं को कार्य रूप में परिणत करना चाहते थे। इस दल ने समाज सुधार के आन्दोलन में सक्रियता और साथ ही एक नया भाव पैदा किया। उन्होंने सुधार को सच्चा बनाया और जिन सामाजिक समस्याओं का अन्वेषण और निराकरण करने में वे लगे, उनके हानि-लाभ जनता के सामने उपस्थित किये। उत्साही, परिश्रमी और सच्चरित्र आदमियों ने स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह, यौवन-कालिक विवाह, सार्वजातीय विवाह, अस्पृश्यता-निवारण, शिक्षा प्रचार तथा अन्य सामाजिक समस्याओं का निराकरण करने के लिए संस्थाएँ खड़ी कीं, जिनमें नियमित रूप से कार्य आरम्भ

एक नवीन कार्यकारी दल और महान् राष्ट्रीय जाग्रति

हुआ। इससे समाज सुधार सम्बन्धी विवाद की बहुत कुछ कटुता दूर हो गई, विभिन्न प्रभावों के कारण जनता की उदासीनता और उपेक्षा कम हुई। शिक्षा एवं विज्ञान के प्रसार, आधुनिक धार्मिक आन्दोलन के उपदेश, विदेशी एवं देशी विद्वानों द्वारा सर्वोत्तम एवं प्राचीन हिन्दू साहित्य के अध्ययन, कतिपय प्राचीन रीतियों की अरक्षणीय दशा तथा स्कूलों, कालेजों और अस्पतालों में ईसाई धर्म-प्रचारकों के दान और बीमार, अकाल-पीड़ित, अनाथ, कोढ़ी एवं दलित लोगों के प्रति उनकी कल्याणकर सेवा एवं शान्ति के साथ दूसरों को धर्म परिवर्त्तन द्वारा अपने धर्म में मिलाने की उनकी नीति ने युवक पीढ़ी के अंतःकरण और बुद्धि को जाग्रत किया तथा उनका मन मोड़ कर उसे सुधार के भावों को ग्रहण करने के योग्य बनाया। बड़े बड़े विद्वानों में प्राचीन हिन्दू समाज के सर्वोत्तम और महान् आदर्शों का जो चित्र जनता के सामने रखा, उसने सुधार सम्बन्धी उपर्युक्त कार्य में बड़ी सहायता की; क्योंकि हिन्दू धर्म की मध्यकालिक धारणाओं की अपेक्षा प्राचीन आदर्श और आचार आधुनिक विधियों एवं धारणाओं के अधिक समीप थे। फल-स्वरूप सम्पूर्ण भारतीय सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में एक व्यापक एवं नवीन राष्ट्रीय दृष्टिकोण की सृष्टि हुई।

समाज-सुधार की समस्या—भारत में समाज सुधार की समस्या बड़ी कठिन है। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म, नियम (क़ानून), रवाज, आचार एवं अपभ्रंश सामाजिक विधियों में बहुतेरी बातें सब जगह एक सी हैं; किन्तु इतने पर भी, सच पूछिये तो, विभिन्न जातियों-उपजातियों, प्रान्तों और धर्मों के सम्बन्ध में हमारी सामाजिक समस्याएँ भिन्न भिन्न हैं। सब के लिए समाज-सुधार का एक ही प्रकार या एक ही विधि ग्रहण करना असम्भव है। कतिपय सिद्धान्त एवं विधियाँ, कुछ ख़ास बन्धन और लक्ष्य ऐसे हैं जो सब के लिए मान्य हो सकते हैं, परन्तु सुधार के लिए एक दल या समूह को पहले सामाजिक सुभीते, क्षेत्र एवं धारणा सम्बन्धी अपनी वर्तमान स्थिति या मर्यादा का विचार करना होगा। सुधार के लिए एक संयुक्त एवं सामान्य सामाजिक मंच की सृष्टि करने से पहले हमें कितने ही विशेष सुधार करने होंगे तथा कितनी ही कुरीतियाँ और बुराइयाँ दूर करनी पड़ेंगी।

समाज सुधार का लक्ष्य—जाति (race) में आज जो शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक ह्रास और जड़ता बढ़ती जाती है, उसे रोक कर समाज को शक्ति, पवित्रता और स्वतंत्रता की ओर अग्रसर करना ही समाज सुधार का प्रधान लक्ष्य है। समाज में असन्तोष की वृद्धि उसकी शक्ति एवं संघटन या सहयोग के लिए भयानक बात है। अतएव सामाजिक कुरीतियाँ दूर करने के लिए सुधार आवश्यक है और सामाजिक न्याय, अनुभूति एवं व्यवहार सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों को ग्रहण करना ज़रूरी है। आज हिन्दू समाज सुभीते का, शक्तिमान् और स्वतंत्र नहीं है। अतीत (मध्य काल) में अनुकूल मध्यकालिक परिस्थिति के कारण वह जीवित रह गया; पर आज राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और शैक्षणिक परिस्थितियाँ बदल गई हैं। नई आकांक्षाएँ और जीवन की नई अवस्थाएँ उत्पन्न हो गई हैं। हिन्दू समाज उनका भार उठाने में असमर्थ दिखाई पड़ता है। वह अनेक प्रकार से पतित हो रहा है। उसके विभिन्न उपकरणों में समानता का उचित व्यवहार नहीं है। उसके दूषित और गलित अंग का बहिष्करण, निर्मूलन या संस्कार नहीं किया गया। उसके अन्दर संघर्ष और असंतोष है; बाहर से उस पर आक्रमण होते हैं और दूसरे धर्मों द्वारा उसके सदस्यों को अपने में मिलाने के प्रयत्न हो रहे हैं। आन्तरिक कुव्यवस्था एवं गड़बड़ी के कारण उन्नति के लिए उठाये जानेवाले प्रत्येक पग पर वह लड़खड़ाता है। अन्दर कोई सामंजस्य या एकता नहीं है। सामाजिक जीवन के प्रारम्भिक प्रकारों से लोग अभी तक प्रेम करते और उसका अनुकरण करते हैं; यह भी इसी लिए कि वे पुराने हैं अथवा उनके टूटने पर लोगों को नारकीय यंत्रणा भोगने का भय सताता है। प्राचीन व्यवस्थाओं, आज्ञाओं और रीतियों का समाज पर अब भी बड़ा अधिकार है। उनके प्रभाव की कल्याणकारिता और शक्ति में लोग इसलिए विश्वास करते हैं कि वे बहुत दिनों से चली आ रही हैं और विभिन्न परिस्थितियों में भी ज्यों की त्यों रही हैं। शक्ति नहीं बल्कि काल्पनिक पवित्रता जीवन का ध्येय हो रही है। परिवर्त्तन और उसके अज्ञात परिणामों का भय लोगों के रक्त में बहुत घुला मिला हुआ है। सामाजिक जीवन का महत्त्व समझने और उसका उचित संघटन करने में ये सब बाधाएँ हैं।

इसकी बाधाएँ

पुराना समाज नहीं चल सकता—नवीन समाज-सुधारकों ने प्राचीन महत्त्व समझने और समाज के आधारों और नवीन समाज की आवश्यकताओं की एक सीमा तक परीक्षा की है। जिन्हें वे सामाजिक कुरीतियाँ कहते हैं, उनकी ओर उन्होंने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने अध्ययन करके यह बताया है कि शास्त्रों ने किस बात को अनुल्लंघनीय और किसे परिवर्त्तनीय माना है तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट नियमों और विधियों का सच्चा स्वरूप क्या है। इन समाज-सुधारकों का कहना है कि पुरानी एकान्तिकता और बहिष्करण अब नहीं चल सकता। आत्मनिर्भरता, सामाजिकता और सहकारिता संसार के नियम हैं। विधि-धारणाओं, रीतियों एवं संस्थाओं के संसर्ग और संघर्ष के कारण चीज़ों के मूल्य फिर से आँकने पड़ेंगे, जिससे नवीन आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों की पूर्त्ति हो सके; अन्यथा मानव जीवन की नई परिस्थितियों को सँभालनेवाली शक्ति एवं स्फूर्त्ति के अभाव के कारण समाज की अवनति एवं मृत्यु निश्चित है।

समाज-सुधार की प्रेरक भावना—लौकिक जीवन में मनुष्य मौलिकता, साहस और आत्म-विश्वास की वृद्धि करने के लिए मनुष्य को स्वतंत्रता प्रदान करने का भाव ही वर्तमान समाज-सुधार आन्दोलन की जान या प्रेरक शक्ति है। मनुष्य में जो कुछ प्रच्छन्न, अदृश्य, सुन्दर और शक्तिमान् है, सामाजिक व्यवस्था में उसे बाहर आने और विकसित होने का सुभीता मिलना चाहिए। मनुष्य को झूठे दबाव से सच्ची स्वतन्त्रता, अन्धभक्ति से विश्वास, मर्यादा से संसर्ग, पद-शक्ति से सहिष्णुता, अन्ध मरणवाद से मानवीय बहुमूल्यता एवं मर्यादा की भावना, अहंकार से परोपकार एवं पर-सेवा तथा असंघटित जीवन से संघटित जीवन की ओर अग्रसर होना चाहिए।

हमारी दुर्बलताएँ—इस समय हममें अनेक बुराइयाँ हैं। हमारा शारीरिक ह्रास, हमारी चारित्रिक दुर्बलता, कुछ बातों में तीव्र उच्छृङ्खलता और अन्य बातों में अत्यधिक बन्धन, उत्साह-शक्ति तथा दृढ़ता का अभाव, हमारी बौद्धिक दीनता और सदाचारिक कायरता सब पर विदित ही है। जातियों की वृद्धि, अस्पृश्यता निवारण, अन्य धर्म ग्रहण करने की रोक, अविभक्त कुटुम्ब, सार्वजातीय विवाह, सहभोज, विधवा-विवाह, यौवन-कालिक विवाह, वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह, विवा-

हार्थ कन्या का क्रय-विक्रय, सहगमन-वय, दहेज-प्रथा, स्त्री-शिक्षा, सती, विधवा की मर्यादा और आजीविका, मन्दिर-व्यभिचार (देवदासी-प्रथा), परदा और स्त्री मर्यादा इत्यादि समस्याओं की ओर समाज के विशेषज्ञों ने ध्यान दिया है। ये कुछ प्रधान समस्याएँ हैं, जो हमारे समाज में उठ खड़ी हुई हैं। हमारे शारीरिक ह्रास, बढ़ती हुई बाल-मृत्यु और जीवन की औसत आयु की कमी का कारण बाल-विवाह और बाल-मातृत्व है। अन्य कुप्रथाओं ने हमारी महिलाओं की मर्यादा एवं समाज में उनका स्थान नीचे गिराया। जात-पाँत के कट्टरपन और छुआछूत ने समाज की सक्रिय एकता एवं प्राणोत्कर्ष नष्ट करके उसे एक सामान्य लक्ष्य और केन्द्रित संघटन से हीन बना रखा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सम्पूर्ण समाज का अंश या अंग नहीं समझता; सम्पूर्ण समूह में उसका कोई स्थान या अंश नहीं है। इस धारणा का विकास होना चाहिए कि समाज-व्यक्ति या समष्टिगत समाज को प्रत्येक व्यक्ति का जीवन सुभीते का, सुन्दर और प्रगतिशील बनाना चाहिए।

भूत काल में, समाज की दृष्टि से, हमने इन समस्याओं पर ध्यान नहीं दिया। प्रत्येक कुटुम्ब या जाति ने अपनी इच्छा या सुभीता के अनुसार जो चाहा, वह किया। प्रत्येक समूह ने स्वयं अपनी सामाजिक समस्याओं, क़ानून, प्रगति और दृष्टिकोण का निश्चय किया। हिन्दू समाज में यदि कोई प्रगति थी तो धीरे धीरे दूसरों को हज़म कर जाने की प्रवृत्ति ही थी। इसमें सन्देह नहीं कि पुराने नियमों और विधियों में परिवर्त्तन हुए। शास्त्राज्ञा की अपेक्षा रवाज ज़्यादा शक्तिशाली हैं, इस व्यवहारिक सिद्धान्त से समूहों की अपने माने हुए रवाज के अनुसार चलने की स्वतन्त्रता बनी रही। एक दूसरे प्रकार से भी सामाजिक उन्नति होती रही। धार्मिक उपदेशकों और महात्माओं के जीवन के रहस्योद्घाटन एवं नये धार्मिक सम्प्रदायों की वृद्धि ने नये विचारों और जीवन की नवीन विधियों का समाज में प्रकाश किया, जिससे दूसरी विधियों एवं रीतियों पर भी प्रभाव पड़ा। किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी, सब मिलाकर, यह अहंकार बराबर बना रहा कि हमारा सामाजिक जीवन विधिपूर्ण है, वह दैवी प्रेरणा से उद्भूत हुआ है और उसमें किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। पिछड़ी हुई और दलित जातियों को इसे सर्वोच्च विधि समझकर ग्रहण करना पड़ता

था। कर्म के सिद्धान्तों की भ्रमपूर्ण व्याख्या ने लोगों में बुराई या दुर्दिन के सामने निष्क्रिय रूप से सिर झुकाने की प्रवृत्ति बढ़ा दी। हमारी अति-पारलौकिकता ने हम में लौकिक क्षेत्रों के प्रति एक व्यापक और नाशकारी उदासीनता उत्पन्न की। इस धारणा का बहुत कम प्रचार था कि सुन्दर विचारों एवं विधियों के ग्रहण एवं नवीन कर्म तथा प्रयत्न से मनुष्य इसी जीवन में उच्च मर्यादा प्राप्त करके अपने भाग्य में परिवर्तन कर सकता है। समाज-संघटन के मूल आधारों का निश्चय स्वतन्त्र इच्छा और कर्म की जगह वंश, परम्परा और जन्म के विचार से होता था।

सुधार के प्रकार—यदि हम उन अनुदार और कट्टर सनातनियों को छोड़ दें, जिनका विश्वास है कि जो कुछ है, वह सर्वोत्तम या दैवी, ठीक और पूर्ण है, और जिन्हें दैववादी कह सकते हैं, तो भी जो लोग बच रहते हैं, उनके दो दल हैं—एक वे जो स्वेच्छापूर्ण सुधार में विश्वास रखते हैं; और दूसरे वे जो अनिवार्य सुधार की आवश्यकता समझते हैं।

अनिवार्य प्रकार

अनिवार्य सुधार सरकार या जाति द्वारा बल एवं अनुज्ञा के सहारे प्रचलित किये जाते हैं। उनका आरोप बाहर से होता है। सरकार या जाति पहले सुधार की आवश्यकता की जाँच कर सकती है, किन्तु वह अपनी प्रजा या सदस्यों को सुधार स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है और उनके इन्कार करने पर अपने डण्डे की सहायता लेती है। कुछ अवस्थाओं में राज्य या सरकार द्वारा बनाये जानेवाले ऐसे क़ानून अनिवार्य एवं उल्लंघनीय होते हैं और कुछ अवस्थाओं में उनका उपयोग अपनी इच्छा पर निर्भर करता है। १८२६ ई० में सती-प्रथा बन्द की गई; वह क़ानून सब पर एक सा प्रयुक्त होता है। विधवा विवाह के क़ानून का उपयोग स्वेच्छानुसार होता है।

स्वेच्छा-जन्य प्रकार—जब नवीन आवश्यकताओं का ध्यान रखकर नक़ल, पुनर्जीवन एवं पुनर्घटन के लिए कोई व्यक्ति, कुटुम्ब या जाति बिना किसी बाहरी दबाव के स्वेच्छा-पूर्वक जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों को ग्रहण करती है, तब

उसकी गिनती सुधार के लिए स्वेच्छाजन्य प्रकार में की जा सकती है। इसे सुधार का 'साम' प्रकार कह सकते हैं जो भीतर से होता है।

नक़ल—जो लोग स्वेच्छापूर्वक युरोपियनों की सामाजिक धारणाओं और प्रकारों की नक़ल करते या उन्हें ग्रहण करते हैं, वे अपने भूतकालिक विकास एवं अपने देश और उसके जलवायु की विशेष आवश्यकताओं का विचार नहीं करते; मानो देश को कोरी स्लेट समझकर उसपर लिखना चाहते हैं। यह भ्रमपूर्ण प्रवृत्ति है। भौगोलिक परिस्थिति एवं सांस्कृतिक विभूति की आवश्यकताओं पर भली भाँति विचार करना चाहिए। सभी पुरानी बातें, विश्वास और विचार ग़लत या बुरे नहीं हैं; इसी तरह सभी नई बातें अच्छी, उचित या ग्राह्य नहीं हैं। भविष्य की योजना करते समय भूत का विचार करना ज़रूरी है। सुधार का आश्रय सामाजिक जीवन के कतिपय ऐसे आधारभूत सिद्धान्तों पर होना चाहिए जो मानवी आवश्यकताओं, परिस्थितियों और स्वभाव के अनुकूल हों। किसी नई ज़मीन में उसकी वृद्धि का विचार किये बिना विदेशी धारणाओं और विधियों को आश्रय नहीं दिया जा सकता। इस विचार से नक़ल की विधि दूषित है। यह बुद्धि, तर्क, अनुभव या निश्चित सिद्धान्तों पर आश्रित नहीं है।

पुनरुत्थान—विस्मृत, नष्ट या अप्रचलित, पर वर्तमान जीवन के लिए कल्याणकर प्राचीन धारणाओं एवं विधियों को पुनर्जीवित करके बहुत से आदमी उनका अनुकरण करते हैं। जिन लोगों का यह विश्वास है कि अतीत ही हमारा स्वर्ण काल था और वर्तमान उसका एक अवनत रूप है, वे यह भी विश्वास करते हैं कि प्राचीन सिद्धान्तों ने जीवन के अधिक अच्छे और सुन्दर सिद्धान्तों एवं विधियों का निर्देश किया है और हमारा पतन उन्हें छोड़ देने के कारण ही हुआ है। एक ऐसा दल भी है जो पुनर्जीवन की इस विधि को केवल इसलिए स्वीकृत करता है कि वह किसी प्रकार पुराने शास्त्रों की अपने हित के लिए आवश्यक बातों का प्रचार चाहता है; अन्यथा वह सुधारों का समर्थक नहीं है। इस वर्ग के लोग सुधार में विश्वास रखते हैं, परन्तु धार्मिक पापों के भय के कारण प्राचीन शास्त्रों का समर्थन करना चाहते हैं। इस प्रकार यह पुनरुत्थान-प्रेमी दल, जो अपने सुधारों का प्रचीन शास्त्रों की व्यवस्थाओं के अनुकूल रखना चाहता है, पुरानी

बातों को फिर से प्रचलित देखकर सन्तुष्ट और प्रसन्न हुआ है। किन्तु इस पुनरुत्थान-प्रेमी दल की कार्य-विधि पर दो आपत्तियाँ की जाती हैं। यदि वे किसी सुधार में विश्वास रखते हों और प्राचीन साहित्य में उसका समर्थन न मिला, तो उनकी क्या गति होगी? दूसरा झगड़ा इस बात पर भी खड़ा हो सकता है कि कौन सा अंश प्राचीन और शास्त्रानुकूल तथा कौन सा उनके विरुद्ध है? अथवा भूत के किस काल या किस ग्रंथ को प्रमाणिक एवं अनुकरणीय समझना चाहिए? किसी प्रथा को पूर्णतया चलाना चाहिए अथवा उसके किसी विशेष अंग का ही प्रचलन श्रेयस्कर होगा? क्या वे बुरी प्राचीन प्रथाएँ भी चलाई जायँगी जो सामाजिक धारणा के विकास तथा अपनी असारता के कारण आज लुप्त हो गई हैं? ऐसा करना तो हानिकर होगा। एक पुरानी कहावत का आशय है—"जो कुछ पुराना है, वह सब अच्छा या सोने जैसा नहीं है।" इसी प्रकार "प्रत्येक नई चीज़ अच्छी नहीं होती।" प्रत्येक नये आचार, विश्वास और रीति-रवाज की परीक्षा समय, काल और देश की स्थिति के अनुसार करनी चाहिए। ऐसा विचारपूर्ण दृष्टिकोण न रखने पर तो हमें नियोग, सती, बहुविवाह, पशु-बलि तथा अन्य अनेक कुप्रथाओं का समर्थन करना पड़ेगा जिन्हें हमारे सतोमय अंतःकरण ने नष्ट कर दिया है।

यह प्रणाली पुराने विचारों के मनुष्यों को उस समय सुधार के काम में आगे बढ़ाती है, जब उन्हें ज्ञात होता है कि प्राचीन पुस्तकों में उस नई स्वीकृति के लिए, जिसे वे 'पाप' समझते हैं, व्यवस्था मिलती है।

युक्तिसंगत पुनर्घटन—युक्ति और उसके आधारभूत सिद्धान्तों का नवीन आवश्यकताओं में अनुसरण और उसके आधार पर सामाजिक परिवर्त्तन (सुधार) की रीति जन साधारण की विकसित चेतना को उनकी औचित्य-अनौचित्य की भावनाओं, उनके सुख और दुःख के विवेकमय विचारों और उनकी अबाध आवश्यकताओं और उपकरणों पर प्रभाव डालती है। यह रीति सर्वांश में सामाजिक रूढ़ियों और विचारों की, स्वभाव के चिरन्तन तत्त्वों और भावनाओं की अवहेलना नहीं करती, वरन् यह जीवन के नये अंगों और विकास तथा सुख के सिद्धान्तों का भी ध्यान रखती है और इस भाँति अतीत को भविष्य के सामंजस्य में लाने का

उपक्रम करती है। न तो यह कट्टर है और न पतित, न विरोधी है और न क्रान्तिकारी। यह समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति साहस के साथ करती है, उसका पुनर्घटन करना चाहती है और अपने जीवन को नये वातावरण और नये विकास के उपयुक्त बनाने का प्रयत्न करती है। यह समाज के जीवन-बल, गुण और स्थिति को सम्भव और उन्नतिशील बनाती है। समाज का कोई ऐसा दूसरा सुन्दर स्वरूप नहीं हो सकता, जो मनुष्य के ज्ञान, उसके जीवन, उसके शारीरिक और सामाजिक वातावरण पर अवलम्बित न हो। समाज का कोई ऐसा रूप नहीं हो सकता जो सब कालों के लिए और सब प्रकार के मनुष्यों के लिए ठीक हो। युग और मनुष्य के स्वभाव का ध्यान हर समय होना चाहिए, क्योंकि वे दोनों ही परिवर्त्तनशील हैं, स्थिर नहीं हैं। वे यथार्थ में आदर्श का निर्माण करना चाहते हैं। अकस्मात् बिलकुल एक नये समाज के निर्माण की क्रान्तिमयी प्रणाली

क्रान्तिमयी प्रणाली

जीवन के कतिपय ऐसे सिद्धान्तों पर, जो पुराने नहीं हैं, कुछ थोड़े से दुस्साहसी व्यक्तियों के द्वारा ही स्वीकृत हो सकती है। वे अतीत के बन्धनों को तोड़कर समाज के उन नूतन अवतरणों का निर्माण करते हैं, जो सभी प्राचीन उपकरणों का विरोध अपने नवीन सिद्धान्तों के विवेक से करते हैं। जिस भाँति कट्टर या प्राचीन के उपासक जीवन की पुरानी रीति को सर्वश्रेष्ठ या सर्वाङ्गपूर्ण अथवा यहाँ तक कि दैवी समझते हैं, उसी भाँति क्रान्तिकारी या नवीनता के पोषक नई युक्ति-संगत जीवन-पद्धति को सर्वश्रेष्ठ, सर्वाङ्गपूर्ण, दैवी शक्तियों से प्रेरित और विवेक की भित्ति पर स्थिर समझते हैं। यह रीति पहले समाज में भेद उत्पन्न करती है और किसी नई जाति या नये समाज की सृष्टि करती है। आगे चलकर यह जिस पुरानी प्रणाली का विरोध करती है, उसके परिवर्त्तित होने पर उसी पुरानी प्रणाली की तरह अपने सिद्धान्तों में कट्टर हो जाती है। अपने चरम परिवर्तन के सिद्धान्तों और स्वभाव के कारण यह अधिक संख्या में जन साधारण को सुधार का मूल्य समझने में प्रेरित नहीं कर सकती। जो आवश्यकताएँ और जो सिद्धान्त इसके सामाजिक संघटन-निर्माण के समय उत्पन्न नहीं हुए थे, उनको स्वीकृत करने अथवा उनके अनुसार चलने योग्य भी वह नहीं रह जाती।

विकासवादिनी-प्रणाली—सामाजिक सुधार उस समय और भी अच्छा और टिकाऊ होता है जब वह अधिकांश में दूसरों को धीरे धीरे मिलाने और पचाने लगता है, आकस्मिक क्रान्ति और प्रचार नहीं करता। सुधार बाहरी दबाव के रूप में नहीं होना चाहिए, किन्तु इसे यथार्थ और उपयोगी बनाने के लिए दृष्टि-कोण और स्वभाव में परिवर्त्तन उपस्थित करना चाहिए। केवल कुछ ऐसी बातों में सब के लिए आवश्यक सिद्धान्त होने चाहिएँ जिनमें किसी पुरानी रीति के कारण उत्पन्न सामाजिक विकारों को दबाना हो।

ब्रह्म समाज ने बङ्गाल में क्रान्तिमय प्रणाली का अनुसरण किया। उत्तरी भारत (पंजाब) में आर्य-समाज ने वेदों और मनुस्मृतियों को अपने आदर्श, अपने धार्मिक, सामाजिक और जीवन के नियामक के रूप में ग्रहण कर पुनरावर्तन की प्रणाली का प्रचार किया। सनातनी इस सिद्धान्त को मानते हैं कि "जो है, वह अच्छा है।" पर यह आवश्यक नहीं कि 'जो पुराना है, वह अच्छा है।' हिन्दू-सभावालों ने शुद्धि और संघटन के रूप में पुनर्निर्माण और जीवन की नई दशाओं का अनुसरण करने की प्रणाली का प्रचार किया है, जिसमें संघटन जीर्णोद्धार और संघटित करता है और शुद्धि दूसरे धर्मवालों को मिला कर समाज के स्वभाव को परिवर्त्तित करती है। वे सुधारवादी हैं, क्रान्तिवादी नहीं। महाराष्ट्र और देश के अन्य दूसरे भाग सुधार के इस पथ का अनुसरण कर रहे हैं। वे अतीत के सम्बन्ध-विच्छेद में विश्वास नहीं करते, किन्तु उस अतीत में ठहरते भी नहीं। वे बुराइयों का अन्त करके प्राचीनता की आत्मा और उसको रूढ़ियों का सम्मान करना चाहते हैं। इस्लाम और ईसाई धर्म में प्रवेश करनेवाले उन नई रीतियों के अन्धे अनुकरण करनेवाले हो जाते हैं, जिन रीतियों और सुधारों में वे अपने आपको डुबा देते हैं। वे अपने समाज के साथ परिवर्तित हो जायँगे। बौद्धों, जैनियों, लिंगायतों और सिक्खों ने अपनी प्रणाली का निर्माण अतीत में किया था। वे थोड़े बहुत लोगों को अपने धर्म में मिला सकते थे, किन्तु सारे समाज का वे पुनर्निर्माण नहीं कर सके। आदर्श गुरुओं ने अनुगामियों के नये नये समाज बनाये, किन्तु समाज में वही पुराने आदर्श रह गये; और कभी कभी तो समाज इन नई रीतियों और विरोधों के कारण और भी अधिक कट्टर और असहिष्णु हो गया।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में भारतीय सामाजिक सुधार—जिन व्यक्तियों, संस्थाओं और शक्तियों ने उन्नीसवीं शताब्दी में जनता पर सामाजिक सुधारों की समस्या लादी थी, उनकी गणना इस तरह की जा सकती है—

(१) १८००—१८३० के बीच का काल

राजा राममोहन राय इस काल के सब से बड़े व्यक्ति हैं। उनके बाद ईसाई मिशनरियों और ईसाई धर्म का स्थान है। अन्त में अंग्रेज़ी शासन प्रणाली, उसके अफ़सर और विद्वान आते हैं। स्कूलों और कालेजों में उन्होंने नई शिक्षा का प्रचार किया, पुरानी पुस्तकों और पुराने सिद्धान्तों की उन्होंने खोज की और उनकी आलोचना की; नये की पुराने के साथ तुलना की और सती प्रथा, ठगी और बलि की हत्या के विरुद्ध क़ानून पास किये। इस काल में, देशी भाषाओं में, समाचारपत्रों का प्रादुर्भाव एक नवीन शक्ति के रूप में हुआ।

(२) १८३०—१८७५ के बीच का काल

देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन और ब्रह्म समाज अपने अपने कार्य करते गये। दयानन्द सरस्वती ने अपना आन्दोलन और अपनी शिक्षा प्रारंभ की। ईसाई अपनी आलोचना और ईसाई बनाने की रीति का उत्साहपूर्ण उपक्रम करते गये। मेकाले और ईसाई पादरियों के प्रभाव से सरकार ने अपना उद्देश्य पूर्वीय शिक्षा न रख कर पश्चिमीय शिक्षा कर दिया। इन सभी लहरों ने स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और स्त्री-शिक्षा के प्रचार में बड़ी सहायता की। विधवा विवाह की स्वीकृति के क़ानून पास हुए। सामाजिक बेचैनी जोरों से बढ़ी और सामाजिक सुधारवादियों की बढ़ती हुई संख्या ने हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म पर कई आक्रमण किये। प्राचीन भारतीय धार्मिक, दार्शनिक और साहित्यिक पुस्तकों की खोज और उनके प्रकाशन का कार्य विदेशी विद्वान बराबर करते गये। इन सभी उपकरणों ने हिन्दू सामाजिक चेतना को जाग्रत किया।

(३) १८७५—१८९० के बीच का काल

आर्य समाजी, ब्रह्म समाजी और थियासोफिस्ट अपने धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा विषयक कार्य बराबर करते गये। इसी प्रकार ईसाई भी उत्साह के साथ

काम करने से नहीं हटे। उन्होंने नीची जातियों के बहुत से लोगों को ईसाई बना लिया। धार्मिक और सामाजिक सुधारकों के विरुद्ध कई आक्रमण हुए। रानडे सरीखे पुरुषों ने सुधार और पुनरावर्तन प्रणाली का समर्थन कया। अपने धर्म और समाज के भविष्य के बारे में संस्थाओं के नेताओं को गम्भीर चिन्ता होने लगी। सरकार ने अपनी नई आर्थिक, राजनीतिक और शिक्षा विषयक नीति का अनुसरण कर देश में एक नवीन वातावरण का निर्माण किया। अंग्रेज़ी साहित्य और संसर्ग के द्वारा पाश्चात्य सभ्यता ने देश के मस्तिष्क में प्रवेश कर अपना प्रभाव डाला और नवयुवकों में महत्वाकांक्षा की नई लहर पैदा की। आर्य सभ्यता और संस्कार का अध्ययन विदेशी और देशी विद्वानों द्वारा बराबर होता रहा। उनकी पुस्तकों और प्रकाशनों ने नवयुवकों और वृद्धों पर भी प्रभाव डाला।

(४) १८६०—१६२५ के बीच का काल

शिक्षित समुदाय और साधारण जन समूह में भी खलबली मच गई। साधुओं और उपदेशकों की बहुत बड़ी सेना ने गाँव गाँव जाकर हिन्दू धर्म में प्राचीन संस्कार और विश्वास दृढ़ करने के लिए उपदेश और व्याख्यान दिये। इसके फल स्वरूप हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार का आन्दोलन हुआ। रानडे की सामाजिक सभाएँ, भारत धर्म महामण्डल और स्वामी विवेकानन्द, सिस्टर निवेदता, रानडे, भाण्डारकर, ऐनी बेसण्ट तथा और भी अनेक विद्वानों के व्याख्यानों और लेखों ने इसी प्रवाह का प्रदर्शन किया।

सत्यार्थप्रकाश सरीखी पुस्तकें, विवेकानन्द के व्याख्यान और लेख, थियासोफिकल साहित्य, रानडे के व्याख्यान और लेख, तिलक का गीता-रहस्य, स्वामी रामतीर्थ की पुस्तकें और उस काल के दूसरे ग्रन्थ इसी प्रभाव के सूचक हैं। दक्षिण में अब्राह्मण आन्दोलन ने भी अन्य जातियों और संस्थाओं की भाँति जाग्रत जीवन की सूचना दी।

सरकारी और ईसाई नीति चलती रही। सहवास बिल (Consent Bill) के वाद् विवाद् के समय और उसके पास हो जाने पर सिद्ध हो गया कि नवीन शक्तियाँ काम कर रही हैं। १६१६ के रिफार्म ऐक्ट (सुधार क़ानून)

ने व्यक्ति को समाज के आधार और एक राजनीतिक अंश के रूप में स्वीकार किया।

(५) १९२५ के बाद

अब हिन्दू सुधार धारा आती है। शुद्धि और संघटन सामाजिक और धार्मिक सुधार के उपकरण माने गये हैं। मुसलमानों के आक्रमण और उनका धर्म ग्रहण करने के विरुद्ध हिन्दू समाज अपना संघटन कर रहा है। वे सामाजिक बुराइयाँ, जिनके कारण यह निर्बल हो गया है, जल्दी जल्दी निकाली जा रही हैं। साधारण जन-समुदाय पर से कट्टरपन का भूत उतरता जा रहा है। हिन्दू समाज में अन्य धर्मावलम्बियों और शुद्ध हुए लोगों का प्रवेश करना प्रारम्भ हो रहा है। शङ्कराचार्य और शास्त्री लोग इस समाज सुधार के आन्दोलन में सहायता कर रहे हैं और इसकी उपयोगिता पुस्तकों और जीवन की आधुनिक आवश्यकताओं के आधार पर सिद्ध कर रहे हैं। सर्व-साधारण अब हिन्दू धर्म, हिन्दू सभ्यता और देश में अपनी अधिक संख्या पर आनेवाली विपत्ति में विश्वास करने लगे हैं। रिफ़ार्म ऐक्ट समुदायों को महत्वाकांक्षी और निरंकुश बना रहा है। अब यहाँ राजनीतिक अधिकारों और जातीय बल तथा स्वतन्त्रता के लिए द्वंद्व युद्ध होता है। राजनीतिक सुधार के साथ ही सामाजिक सुधार अब अनिवार्य हो गया है। प्रजातन्त्र की आत्मा अब सब लोगों का स्वभाव और विचार बदल रही है।

सामाजिक सुधार में सरकारी हस्तक्षेप—भारतीय समाज-सुधारकों में दो प्रकार के विवाद हो रहे हैं—पहला सामाजिक सुधारों में राष्ट्र के हस्तक्षेप के विषय में; और दूसरा यह कि पहले सामाजिक सुधार हों या राजनीतिक सुधार हों। अधिकांश जन-समुदाय इस सम्बन्ध में सरकारी हस्तक्षेप से घृणा करता है, क्योंकि वह विदेशियों के अधिकार में है। इस भाँति का हस्तक्षेप उनकी राय में समाज के लिए, धर्म के लिए और संस्कार के लिए बहुत बड़ा भय है। राष्ट्र ने किसी तरह सामाजिक बातों में हस्तक्षेप किया है—क़ानून पास कराने के रूप में—जैसा कि सती प्रथा का रोकना, पुनर्विवाह की व्यवस्था और सहवास की अवस्था का बढ़ जाना इत्यादि। सामाजिक बातों में राष्ट्र का जो हस्तक्षेप

होता है, उसका लोग सदा विरोध ही नहीं करते । आधुनिक काल में राष्ट्र को यह अधिकार है कि वह विशेष व्यक्तियों के विरुद्ध होनेवाली सामाजिक क़ानूनी बुराई का निवारण करे। व्यक्तियों की स्थिति और स्वतन्त्रता समान करना उसके प्रधान कामों में से एक है।

सामाजिक या राजनीतिक किस सुधार की अधिक आवश्यकता है—पहले सामाजिक सुधार हों या राजनीतिक सुधार ? यह समस्या अब उतनी जटिल नहीं है, क्योंकि अब ये दोनों तरह के सुधार एक ही साथ आवश्यक हो गये हैं । जनता में संघटन की भावना न होने के कारण सामाजिक बुराइयाँ राजनीतिक उत्थान के मार्ग में कण्टक बनती हैं और राजनीतिक दासता समाज-सुधार को उसकी प्रधान शक्ति से ही वञ्चित रखती है । समाज एक प्रकार से शरीर के समान है, इसका विकास सब ओर एक ही साथ होता रहना चाहिए । एक अंग या एक भाग तब तक विकसित नहीं हो सकता जब तक दूसरे अंग और भाग भी विकसित न हों । इसलिए सामाजिक सुधारकों में जो लोग राजभक्त थे और राजनीतिक सुधार नहीं चाहते थे और राजनीतिक सुधारकों में जो राष्ट्रवादी थे और सामाजिक रूढ़ि को धीरे धीरे परिवर्तित करना चाहते थे, उनमें अब उतना विशेष मतभेद और वाद विवाद नहीं है। नई पीढ़ी दोनों ही ओर जातीय उत्थान की आवश्यकता का अनुभव कर रही है। इस कारण अब राजनीतिक और सामाजिक सुधारकों में वह पुरानी घृणा और विरोध की भावना नहीं है । अब राष्ट्रीय उन्नति का काम आगे बढ़ाने के लिए आर्थिक और धार्मिक सुधारों पर भी ज़ोर दिया जा रहा है। मनुष्य एकाङ्गी नहीं है । उसके भिन्न भिन्न अंग एक दूसरे पर आश्रित हैं और एक दूसरे के सहायक होने के लिए उन्हें एक ही साथ विकास के पथ पर अग्रसर होना चाहिए।

सामाजिक सुधार का राष्ट्रीय अंग

आपस में मिलने जुलने के साधनों की शीघ्रतापूर्वक होनेवाली वृद्धि और राजनीतिक रक्षा के लिए बड़े बड़े जन-समूहों के सम्मिलन की आवश्यकता ने छोटे छोटे समुदायों, जातियों और श्रेणियों का अलग रहना और उनका वैषम्य असम्भव कर दिया है। प्रत्येक श्रेणी के द्वारा सब के लिए व्यवहार की समता

एक राष्ट्रीय आवश्यकता है। एक दूसरे की जीवनचर्या के प्रति सहिष्णुता, ऊँच और नीच की, अथवा विशेष अधिकार-प्राप्त, साधारण और पतित जातियों की छूआछूत की भावनाओं का लुप्त हो जाना हमारे नये राष्ट्रीय जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं। सब के लिए एक ही प्रकार की आकांक्षा, एक ही प्रकार के उद्देश्य और एक ही प्रकार की प्रणाली का साधारण सामाजिक व्यवहार में अनुसरण, एक शक्तिशाली राष्ट्र के अभ्युदय में सहायक होगा। भारत के आगामी सामाजिक उपकरण अवश्य ही जातीय, श्रेणीय और प्रान्तीय सीमाओं का अतिक्रमण कर जायँगे। किसी एक ही धर्म की स्वीकृति अथवा एक ही राजनीतिक शक्ति की अधीनता, सामाजिक, प्रान्तिक या संस्कार विषयक भेद या वैमनस्य कम नहीं कर सकती। आज दिन राजनीतिक और भौतिक दृष्टि से यह आवश्यक हो गया है कि भारत एक संघटित समुदाय का रूप धारण कर ले। इसे समझने और सदैव के लिए दृढ़ करने के लिए, किसी सार्वजनिक सामाजिक और राजनीतिक आकांक्षाओं और स्वभाव का उपक्रम होना चाहिए। कुछ छोटी किन्तु भीतरी प्रान्तीय विभिन्नताएँ संघात्मक शासन पद्धति में उसी तरह छोड़ी जा सकती हैं; किन्तु सम्पूर्ण भारत को मिलकर एक देश और राष्ट्र होना चाहिए। प्रान्त और अन्य विभाग इसके शासन सम्बन्धी विभाग होंगे। भविष्य की उथल पुथल और भीतरी विद्रोह से केवल यही सिद्धान्त भारतीयों की रक्षा कर सकता है और उस शान्ति-रक्षा तथा उपयोगी वातावरण की सृष्टि कर सकता है जो हमारे भावी जीवन के अन्य अंगों के विकास के प्रधान तत्व हैं।

जातियों और प्रान्तों की समस्या—इस समय भारत के शासन सम्बन्धी विभागों के सीमा-निर्धारण की भावनाएँ दो विचारों पर चल रही है—पहली जाति विषयक, और दूसरी भाषा विषयक। मुसलमान यह काम जातीयता के विचार से कराना चाहते हैं जिससे वे पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश पंजाब, सिन्ध और बङ्गाल में अपनी बहु-संख्या रख सकें। हिन्दू यह काम भाषा के विचार से कराना चाहते हैं जिसमें वे अपने उन संस्कारों और भाषाओं को उन्नति कर सकें जिनमें प्रान्तीयता की छाया और साहित्य की प्रधानता है। केवल अपनी विभिन्न जातीय और प्रान्तीय भावनाओं के लिए इन दोनों आन्दो-

लनों को भारत की राजनीतिक एकता को निर्बल नहीं करना चाहिए ; राष्ट्रीय जीवन और आवश्यकता के सामने दोनों को सिर झुकाना चाहिए। संस्कृत विषयक कुछ सुधारों के लिए प्रान्तीय स्वतंत्रता का विरोध नहीं हो सकता ; किन्तु यह भारत की राजनीतिक सबलता की, जिसमें सार्वराष्ट्रीय विरोधों और दबावों, और प्रान्तीय तथा जातीय झमेलों में यह अपनी प्रधान राजनीतिक एकता की रक्षा कर सकें, हानि करके यह काम नहीं किया जा सकता।

९—समाज-सेवा

समाज-सेवा की आवश्यकता—समाज एक प्रकार से शरीर के समान है। जिन व्यक्तियों के द्वारा इसकी रचना होती है, उनमें से कुछ बहुत योग्य होते हैं और उनकी अपेक्षा कहीं अधिक साधनों से युक्त होते हैं जो अयोग्य हैं, निराश्रित हैं या दुःख में हैं। समाज तभी ठहर सकता है और उन्नति कर सकता है जब उसके सभी सदस्य योग्य और अच्छी दशा में हों। समाज के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है कि आवश्यकता और कठिनाई में वह दूसरे सदस्य की सहायता करे ; नहीं तो वह स्वयं भी अपने समीप की बुरी परिस्थिति और साथियों से प्रभावित होता है। एक दूसरे की सहायता और सेवा करना, सामाजिक आवश्यकता और साथ ही साथ मानव जाति को एक बन्धुत्व की दृष्टि से देखा जाय तो यह मानव जाति के सदाचार का भी लक्षण है। अपने भाइयों की अयोग्यता और क्लेश दूर करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है ; वे उन्हें अच्छे अवसर प्राप्त कराने और स्वस्थ तथा पूर्ण जीवन व्यतीत करने में उनकी सहायता करते हैं। यह सामाजिक कर्त्तव्य दया के किसी काम के रूप में नहीं, वरन् उत्तर-दायित्व, न्याय और सामाजिक संस्कार के रूप में देखा जाना चाहिए। इसमें वे सभी काम आ जाते हैं जो लोग स्वार्थहीन वृत्ति से, समाज और संसार को उत्तम और आनन्दमय बनाने की निश्चित भावना से करते हैं। समाज के सेवक दुर्बल और दुष्ट का, अत्याचारी और गुंडे का भी ध्यान रखते हैं जिनकी स्थिति ही समाज के लिए अहितकर होती है। वे उन्हें उनकी दशाओं और स्वभावों से, ऊपर भ्रातृभाव और सेवा की भावना में, उठाना चाहते हैं और

यह क्या करता है

इस प्रकार मानव जाति में आनन्द और जीवन के अच्छे उपकरणों का प्रचार करते हैं।

प्राचीन काल में समाज-सेवा—यह काम व्यक्तियों के हाथ से अथवा संस्थाओं द्वारा होता रहा है। प्राचीन काल में भिक्षु या साधु देश के सभी भागों में शिक्षा-प्रचार, औषध-दान, दया और आध्यात्मिक प्रकाश का कार्य किया करते थे। सम्राट् अशोक ने इस कार्य में बड़ी सहायता की थी। ग्राम-संस्थाएँ भी गाँवों में, औषधालयों, कूओं और छायादार वृक्षों, भोजनालयों और धर्मशालाओं द्वारा व्यक्तियों, पशुओं और पक्षियों की सहायता जल, भोजन और औषध से करती थीं। इसी प्रकार धनी, महाजन और जातीय संस्थाएँ दुर्बल, निर्धन, विद्वान और धार्मिक सभी की सहायता करती थीं। राजा का कर्त्तव्य था कि वह इन सब की, यहाँ तक कि अनाथ बालकों और विधवाओं की भी, सहायता और देख रेख करे।

आधुनिक काल में समाज-सेवा—आधुनिक काल में पुरानी प्रणालियाँ भी चल रही हैं और सामाजिक कार्य और सेवा के संचालन के लिए नई रीतियाँ भी निकली हैं। सेवा-सदन निराश्रित स्त्रियों की आवश्यकताओं, उनकी चिकित्सा, शिक्षा और व्यवसाय की देखभाल करते हैं। सेवा समितियाँ जंगली जातियों, जैसे भील इत्यादि की आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक उन्नति का ध्यान रखती हैं और स्वयंसेवक बड़े बड़े मेलों और धार्मिक पर्वों में एकत्र जन-समूह की सेवा और सहायता करते हैं। समाज-सेवा संघ शराब और अन्य नशों की मनाही, बाल-रक्षा, जच्चा की आवश्यकता, वेश्यागमन, सफाई, स्वास्थ्य विज्ञान और उत्तम बातों तथा विचारों के प्रचार का ध्यान रखते हैं।

विशेष प्रकार के संघ—विशेष प्रकार के संघ पतित जातियों, अपराधी गरोहों, निराश्रित बालकों, स्त्रियों और विधवाओं, रोगी और अयोग्य व्यक्तियों की देख भाल करते हैं और कार बार के स्थान खोलते हैं। रेड क्रास और क्रीसेण्ट संस्थाएँ युद्ध में घायल व्यक्तियों और मृतकों की देख भाल करती हैं और बड़े

नगरों तथा युद्धों में घायल व्यक्तियों की प्राथमिक सहायता करती हैं। विश्व-विद्यालय की संस्थाएँ कारखानों के बड़े बड़े नगरों में काम करती हैं और उनकी निवास स्थान सम्बन्धी सफ़ाई, शिक्षा और औषध, नशे या वेश्यागमन से बचने और साधारण सदाचार सम्बन्धी कार्यों में सहायता करती हैं। ईसाई मिशनरी संस्थाएँ और 'सैलवेशन आरमी' (Salvation Army) बहुत दिनों से भिन्न भिन्न परिस्थितियों और देश के भिन्न भिन्न भागों में यह काम करती रही हैं, यद्यपि उनका उद्देश्य सदैव उन्हें अपने धर्म में मिलाने का रहता है जिन्हें वे सहायता देती हैं। सरकार ने इन संस्थाओं की सहायता बहुधा धन या प्रभाव से की है। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण आश्रम और हिन्दू सभा भी काम कर रही हैं, किन्तु उन्हें सरकार की सहायता नहीं मिलती और वे जैसे तैसे ईश्वर के नाम पर ये काम किये जाती हैं। बिना किसी धार्मिक आधार या उत्साह के नीची और पतित जातियों में सामाजिक कार्य सम्भव नहीं; न तो वह चल सकता है और न उसकी उन्नति हो सकती है।

सामाजिक चेतना और समाज-सेवा का विज्ञान—सामाजिक चेतना के विकास के लिए ऊँचे, धार्मिक और सदाचार विषयक सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है। प्रेम, मित्रता, भ्रातृत्व और सेवा के मानवी मनोवेग सम्पूर्ण विश्व के अथवा वेदान्त धर्म के कारण उत्पन्न होते हैं। बौद्ध और ईसाई परिव्राजकों ने अतीत से यह भाव दिखलाया है और आज दिन नवीन समाचार के मानवी सिद्धान्त यही दिखला रहे हैं। अब समाज-सेवक अपने काम के लिए अच्छी तरह तैयार किया जाता है। जिन समस्याओं को सुलझाना है, उनका और उन विभिन्न उपकरणों का भी जिनके द्वारा वे सुलझाई जा सकती हैं, उसे पूरा ज्ञान होना चाहिए। आजकल समाज-सेवक को शिक्षा देने के लिए कई संस्थाएँ हैं। उन्होंने गाँवों और नगरों की सामाजिक पैमाइश कर ली है और वे उचित सामाजिक सेवा की भिन्न भिन्न रीतियाँ जानती हैं जिनसे भिन्न भिन्न व्यक्तियों की सेवा और भिन्न भिन्न परिस्थितियों का सामना किया जा सकता है। समाज-सेवा के विज्ञान का विकास हो रहा है, किन्तु सार तत्त्व है सामाजिक या मानवी भावना अथवा चेतना।

छठा परिच्छेद

सौन्दर्य-मय जीवन

ललित कलाएँ—किसी उपयोगी अथवा सुन्दर वस्तु के निर्माण में मनुष्य के द्वारा प्रतिभा अथवा निपुणता के उपयोग को 'कला' कहते हैं। इसका तात्पर्य उस उपकरण से भी होता है जिसमें इस प्रकार निपुणता का उपयोग होता है। प्राचीनों और आधुनिकों द्वारा कला विभिन्न श्रेणियों में विभक्त की गई है। उपयोगी यंत्र अथवा कल कारख़ाने सम्बन्धी कलाएँ वे हैं जिनसे मस्तिष्क की अपेक्षा शरीर और हाथों का अधिक सम्बन्ध है; जैसे कपड़ों या बर्तनों के बनाने में। इन्हें व्यापार कहते हैं। जो उदार कलाएँमानसिक विकास की साधक होती हैं, उनमें दर्शन शास्त्र, इतिहास और विज्ञान हैं। ललित कलाएँ, जिनकी यहाँ चर्चा हो रही है, वे हैं, जिनका सम्बन्ध विशेषतः कल्पना और अभिरुचि से होता है, जिनका उपयोग उस निर्माण में होता है जो कला-मय अथवा सौन्दर्यमय है। कविता, संगीत, चित्र, नक़्क़ाशी, मूर्ति-निर्माण और गृह-निर्माण सब इसमें आ जाते हैं। सौन्दर्य शास्त्र में प्रकृति और कला में सौन्दर्य अथवा आनन्द के विज्ञान का और विशेषतः कला द्वारा प्रकट होनेवाले सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का विवेचन होता है।

विभिन्न कलाएँ—भारतीय इसकी सीमा प्रदर्शित करने के लिए प्रायः ६४ कलाएँ बतलाते थे। इन कलाओं का स्पष्टीकरण साधारणतः हाथ की कलाओं, मस्तिष्क की कलाओं और हृदय की कलाओं में हुआ था। इनके अन्तर्गत उपयोगी, मानसिक और सुन्दर सभी कलाएँ आ जाती थीं। शुक्रनीति, कामसार, शिल्पशास्त्र और अन्य पुस्तकों में कलाओं की भिन्न भिन्न नामावलियाँ दी गई हैं। ये भेद न तो निश्चित हैं और न पूर्ण। प्रत्येक गुण, उद्यम या

व्यवसाय एक कला है। शुक्राचार्य ने इन्हें सात गान्धर्व वेद कलाओं, दस आयुर्वेद कलाओं और चार धनुर्वेद कलाओं में श्रेणीबद्ध किया है। वात्स्यायन ने इनका विभाजन काम कलाओं, ज्ञान कलाओं और कर्म कलाओं में किया है। काम कलाओं का सम्बन्ध उनसे है जिनसे आनन्द की प्राप्ति होती है, अभिरुचि को सन्तोष मिलता है और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। जो उपयोगी अथवा मन्मोद्भूत होता है और जिसे शिल्प कहते हैं, उसका विवेचन काम कला में होता है। ज्ञान कलाएँ वे हैं जिनसे मस्तिष्क जाग्रत और विकसित होता है। ललित कलाएँ सात हैं—काव्य कला, संगीत कला, चित्र कला, मूर्तिनिर्माण कला, गृह-निर्माण कला, नृत्य और अभिनय कला। हमारा सम्बन्ध यहाँ भारतीय दृष्टि कोण से उनमें की कुछ कलाओं से है; जैसे गृह निर्माण कला, मूर्तिनिर्माण कला, चित्र कला और संगीत कला: यहाँ हम उनके उद्देश्य तथा उनकी विभिन्न ध्वनि का विवेचन करना चाहते हैं।

कला की प्रवृत्ति और स्वरूप—मनुष्य ने प्राचीन काल से अपने हृदय की भावनाओं, मनोवेगों, चिन्तनाओं और अभिव्यक्तियों की, उनके सर्वोच्च, सर्वश्रेष्ठ और सर्वसुन्दर स्वरूपों में, अपनी प्रवृत्तियों और इन्द्रियों की सहायता से उचित यन्त्रों द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए, स्वयं आनन्द अनुभव करने और दूसरों को उसका अनुभव कराने के अभिप्राय से अथवा दूसरों में वे भावनाएँ जगाने के लिए कला का आश्रय लिया है। ये सुन्दर अभिव्यक्तियाँ गति-संचालन, स्वर या स्वरूप में होती हैं, जो आँख, कान या हृदय को प्रसन्न करके दूसरों में अपने लिए सहानुभूति उत्पन्न करके उनमें आनन्द का उद्रेक करती हैं। उन्हें व्यक्त करने में कलाकार कुछ विशिष्ट सीमाओं के अन्दर रहते हैं, किन्तु वे सीमाएँ ऐसी अटूट नहीं होतीं जिनका किसी प्रकार उल्लंघन न हो सके। कला के निर्माण में उन सीमाओं या बन्धनों का उपयोग अथवा अनुगमन करने में स्वतन्त्रता की नितान्त आवश्यकता होती है।

इसका उद्गम—कला का उद्गम मनुष्य की विभिन्न अनुभूतियों और आवश्यकताओं में हुआ है। उसकी विनोद-प्रियता, उसकी आकृष्टि करने की

इच्छा, उसका अनुकरण में आनन्द-अनुभव, उसकी स्मरण किये जाने की आकांक्षा और उसका अपने आनन्द, शोक और भक्ति के भावों का भिन्न भिन्न शारीरिक, मानसिक और शाब्दिक अभिव्यक्तियों द्वारा अथवा अन्य बाह्य स्वरूपों या आकृतियों द्वारा दूसरों के साथ अनुभव करने के स्वभाव आदि बातों ने कला के उत्थान, क्रम और विकास में सहायता की है।

भारत ने अपनी कला की रूढ़ियों और संसर्गों का, अभिरुचियों और लक्षणों का स्वयं विकास किया। कलाकार प्रायः अपनी रचना का स्वरूप-निर्माण अथवा उसकी अभिव्यक्ति का निर्देश इन्हीं लक्षणों या बन्धनों में करता है; किन्तु अपनी रचना के गम्भीर उद्वेग में वह इनकी अवहेलना करके अपनी अभिव्यक्ति एक नवीन प्रणाली से, एक नवीन रूप में भी कर सकता है।

भारतीय कला की विशेष ध्वनि—जातियों, धर्मों, रीतियों और भाषाओं में महान् अन्तर होने पर भी सारे भारत में एक विशेष प्रकार का व्यक्तित्व है, जिसका परिचय उसकी कला से मिलता है। भारत की यथार्थ कला प्रधानतः हिन्दू है। हिंदू प्रतिभा ने स्वयं अपनी विशेषतापूर्ण और प्रधानतः मौलिक कला का निर्माण किया था। यह अधिकांश में धार्मिक भावनाओं की उपज है। भारत की सर्वोत्तम कला जन समूह की धार्मिक भावनाओं और ईश्वर-विषयक उनके महान् विचारों की गंभीर अभिव्यक्ति है। ई० बी० हैवैल के अनुसार "यह अपनी स्वर्गीय कल्पना और उच्चतम आदर्श में इतनी गंभीर और आध्यात्मिक है जिसने कभी यूनान की आत्मा में प्रवेश नहीं किया।"

इसका आत्म-विकास और विशेषता—भारतीय कला का विकास अपने ही स्वभाव और वातावरण में स्वयं ही हुआ था। इसके स्वरूपों, लक्षणों और अभिव्यक्तियों का विकास इसकी सामाजिक आवश्यकताओं, धार्मिक और दार्शनिक आदर्शों और भौगोलिक प्रभावों से हुआ। यह सर्वसाधारण के आदर्शों अथवा अनुभूतियों की पूर्ति करती थी, व्यक्तिगत प्रवृत्तियों की नहीं। इसका निर्माण उन कलाकारों द्वारा हुआ है जो अतीत की कतिपय रूढ़ियों या सिद्धान्तों का अनुसरण करते हैं। ए० सी० स्वामी ने कहा है कि रूप अथवा गुण विषयक परिवर्तन, जो एक युग की कला से दूसरे युग की कला को अलग

करते हैं, तत्सामयिक धर्म्मशास्त्र, जातीय मनोविज्ञान, जीवन बल और अभिरुचि पर प्रकाश डालते हैं। उस परिवर्तन में कलाकार का कोई विशेष प्रयोजन नहीं होता। श्रेष्ठ कलाकार अपने युग के मस्तिष्क अथवा हृदय का परिचय देते हैं; अर्थात् वे आकांक्षाएँ, वे आदर्श और वे रूढ़ियाँ बतलाते हैं जिनमें वे रहते हैं; और उनकी सर्वोच्च कला आध्यात्मिक गंभीरता और आध्यात्मिक सन्देश कभी कभी अनन्त की मानसिक और भावुक अनुभूतियों से भरी रहती है। वह सन्देश विश्व के सर्वोत्तम आनन्द और शान्ति, मित्रता और सहानुभूति के अन्वेषण का होता है। केवल प्रकृति का अनुकरण अथवा निदर्शन भारतीय कला का उद्देश्य नहीं है। प्रकृति और उसके स्वरूपों की आड़ में जो कुछ है, उसी को यह प्रत्यक्ष करना चाहती है। इसी लिए इसमें यथार्थवाद अथवा किसी बाह्य स्वरूप का अनुकरण नहीं है। यह ब्रह्माण्ड की सच्ची यथार्थता का सूक्ष्म विवरण देना चाहती है, इस परिवर्तनशील संसार और इनकी क्षणिक विभूतियों का नहीं। सर्वशक्तिमान् अथवा इन सब की आड़ में जो सत्य है, वह ईश्वर है; और कला का उद्देश्य है सब में उसकी अभिव्यक्ति करना। गंभीर केन्द्रीभूत विचारों से अथवा उनसे उत्पन्न कल्पना या अन्तर्ज्ञान के द्वारा ही यह साध्य हो सकता है। इसलिए कला यदि अनुकरण है तो वह ईश्वरता का अनुकरण है, जो देखा नहीं जा सकता, किन्तु उसका अनुभव अन्तर्ज्ञान और गंभीर आत्म-चिंतन से हो सकता है। हिंदू सम्पूर्ण मानवी जीवन को धार्मिक समझते हैं और इसी कारण उनके लिए जीवन का निदर्शन उस ईश्वर का निदर्शन कराने के लिए होता है जो जीवन को प्रकाशित और संचालित करता है। मानवी सौन्दर्य और स्वरूप की साधारण अनुभूति के निदर्शन को एक ओर छोड़कर मानव जीवन के केवल अनन्त सत्यों और तथ्यों के आदर्श के निदर्शन में इसकी पूर्ति होती है। भौतिक स्वरूप या सौन्दर्य का ठीक ठीक निदर्शन कलाकार के ईश्वरता की अभिव्यक्ति के मार्ग में बाधक होता है। पर अनावश्यक समझकर इस विषय का यहाँ विस्तृत वर्णन नहीं किया जाता।

भारतीय रस—साधारणतः यही समझा जाता है कि कला उन सुन्दर

वस्तुओं का अनुकरण है, जिनका सम्बन्ध या तो यथार्थ से है या आदर्श से। किन्तु भारतीय उद्देश्य मानवी रसों और भावनाओं की संयमपूर्ण अभिव्यक्ति है जिसमें रूप, रस और स्वर किसी श्रेष्ट अनुभूति के लिए उपकरण मात्र हैं। ये रस शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयङ्कर, वीभत्स, शांत और रौद्र हैं।

सौन्दर्य का विचार सदैव प्रेम से रंजित है। भारत में धार्मिक कला जब अपनी चरम सीमा पर होती है, तब यह प्रेम अनन्त या ब्रह्माण्ड का प्रेम होता है। यदि मानवी प्रेम की भी अभिव्यक्ति होती है, तो उसका लक्ष्य बराबर अन्तरात्मा का ईश्वरत्व होता है।

भिन्न भिन्न बाह्य स्वरूपों का चित्र रूप में निदर्शन, जैसे पक्षी, फूल या जानवर का, प्रकृति से नहीं वरन् स्मृति अथवा कल्पना से होता है; और इसके पौराणिक, रहस्यात्मक और ऐतिहासिक तथ्यों का सम्मिलन कराकर यह निदर्शन कला-निर्माण के प्रधान भाव को सबल करता है। कला की ये वस्तुएँ किसी विशेष युग के जन साधारण के विचार, उनके इतिहास और श्रेष्ठ जीवन विषयक उनके ऊँचे सिद्धान्तों का परिचय कराती है। कलाकार सर्वसाधरण के जीवन का सम्यक् ज्ञान रखकर जातीय मस्तिष्क की अभिव्यक्ति करता है।

पौराणिक रहस्यात्मक अथवा परम्परागत चिह्न, रूप, आकृति और भाव अधिकांश में जातीय विचारों की रूढ़ियों का परिचय कराते हैं। इस प्रकार जन साधारण अपने नित्य के जीवन में इनसे घिरे रहने के कारण इन्हें सरलता से समझ लेते हैं।

पाश्चात्य कला—पाश्चात्य कला अधिकांश में यथार्थवादिनी है और अपने लक्षणों और परिभाषा की दृष्टि से विशेष विकसित है। यह बाह्य पूर्णता, भौतिक सौन्दर्य, मानवी अभिरुचि, प्राकृतिक आकार का निदर्शन मानव स्वरूप और दूसरी बाह्य वस्तुओं में ईश्वरात्मा के निदर्शन से अधिक कराना चाहती है। इसका आदर्श वह मानवी रूप, मानवी स्फूर्ति, बल और प्रेम है जिसकी इस जगत् में लोग प्रशंसा करते हैं। आध्यात्मिक तल्लीनता के आदर्श, शान्ति और जीवन के विलासी और तपस्वी अंगों में सामंजस्य उत्पन्न करना इसका आदर्श नहीं। पाश्चात्य कला में किसी भाँति का रहस्य या रहस्यवाद नहीं है। वह अपने

बाहरी भावों, सांसारिक वासनाओं और आकांक्षाओं की यथार्थ अथवा आदर्श अभिव्यक्ति में सन्तुष्ट हो जाती है। इसलिए वह तन्त्रीय परिपूर्णता और सजावटवाले विवरणों के विकास में सफल हुई है। आत्मा की दूर तक खोज, उसका दैवी प्रेम, उसके आध्यात्मिक युद्ध और ईश्वर तथा ब्रह्माण्ड के साथ उसके सम्बन्धों का, जो जीवन की साधारण अनुभूतियों से ऊँचे हैं, पाश्चात्य कला न तो अध्ययन करती है और न उनकी अनुभूति या अभिव्यक्ति करती है। आध्यात्मिक पुरुष किस तरह चलता है, बैठता है, बोलता है, व्यवहार करता है, देखता है आदि बातों का उनके द्वारा पता नहीं चलता। उसकी अभिरुचि के आदर्श अधिकांश में मानसिक और मानवी हैं, दार्शनिक और आध्यात्मिक नहीं। पाश्चात्य कला अपनी सांसारिक जानकारी से प्रसन्न करती है, किन्तु भारतीय कला तभी आत्मा को स्पर्श कर सकती है, जब दर्शक उसकी आड़ में दैवी विभूति देख सकता है। भारतीय सभ्यता की भाँति भारतीय कला भी अपने जातीय आदर्श और संस्कृति की यथार्थ अभिव्यक्ति है और अपने भिन्न भिन्न रूपों में उसी सर्वतोमुखी आध्यात्मिक आत्मा से जीवन प्राप्त करती है, जिसने इस शरीर और इस संसार की आकांक्षा को आत्मा और परलोक के उद्देश्यों के अधीन या उनमें गौण रखा है। इसका अर्थ मानवी आत्मा और उसकी महत्वाकांक्षा का ईश्वरीय आत्मा और उसकी अनन्त शक्तियों की शरण में जाना है। मध्य-कालीन ईसाई कला ने भी ऐसे ही आदर्शों की अभिव्यक्ति की है। उसका उद्देश्य "स्वर्ग का राज्य पृथ्वी पर" लाना ही रहा है। और इसी लिए प्रत्येक ईसाई महात्मा की मूर्ति, प्रत्येक श्रेणी का गिरजाघर और पवित्र कुमारी मरियम का प्रत्येक चित्र यह बात बतलाता है कि मनुष्य अथवा उसकी परिस्थितियों में कितना ईश्वरीय प्रभाव और सन्देश है। इसी भाँति भारतीय कला ईश्वर विषयक भारतीय स्वप्नों और विचारों का विवरण प्रस्तुत करती है, सांसारिक अथवा अनुकरण-प्रधान कला के साधारण तथ्यों का नहीं। व्यक्ति और ब्रह्माण्ड में सामंजस्य स्थापित करनेवाली भारतीय कला की यह सम्मिलन ध्वनि उसकी श्रेष्ठतम कला की विशेषता है। किन्तु भारत ने मध्यम अर्थात् सांसारिक या मानवी कला की भी किसी रूप में अवहेलना नहीं की है। भारतीयों ने स्वतः अथवा यूनानी, पारसी या अन्य युरोपीय विदेशियों के प्रभाव में ऐसी कला की भी सृष्टि की है

जिसमें बिना किसी धार्मिक संसर्ग के मानवी विचार, अभिरुचि और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, उनके ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक या व्यक्तिगत अंगों में हुई है। किन्तु इसमें उन्होंने किसी प्रकार की विशेषता नहीं प्राप्त की; और किसी अंश में तो इसके लिए वे विदेशी उपकरणों के ऋणी भी हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों और स्थानों के युद्धों और बाज़ारों, प्रेमियों और उनके सम्मिलन और राजसी जीवन तथा प्रेम सम्बन्धी अन्य अनेक घटनाओं के चित्र और मूर्तियाँ सांसारिक जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति हैं। किन्तु भारतीय कला की विशेषताएँ और ख्याति इन पर निर्भर नहीं है। किसी दीवार पर बना हुआ शान्त और गंभीर मुद्रा में बुद्ध का एक बड़ा चित्र या मूर्ति, विष्णु और शंकर की उपासना का एक मन्दिर अथवा प्रार्थना की एक मसजिद ही अधिकांश भारतीय जीवन और उसके उद्देश्य की अभिव्यक्ति करती हैं। इनकी आड़ में जो धार्मिक ध्वनि और आदर्श हैं, वे अपने दैवी सम्मिलन के स्वप्न के कारण जीवन को दैनिक झगड़ों से मुक्त करके मुक्ति अथवा निर्वाण की ओर, अनन्त आनन्द और अनन्त सन्तोष की ओर ले जाकर ईश्वर में मिला देते हैं; और इस प्रकार सांसारिक प्रेम, परिताप और शोक से मुक्त करके सदैव के लिए भारतीय जीवन के उस चरम लक्ष्य की रचना करते हैं, जिसमें मनुष्य ईश्वर के साथ सम्पूर्ण हो जाता है; और ये सब तरह से भारतीय हैं।

हमारे चित्रों, मूर्तियों और मन्दिरों में यह सर्वोच्च आदर्श पूर्णतः अभिव्यक्त हो चुका है और हमारे श्रेष्ठतम संगीत में ईश्वरीय प्रेम, उसके लिए आत्मा का इधर उधर भटकना और अन्त में उसके साथ सम्मिलन पूर्णतः दिखलाया या गाया गया है।

चित्र कला।

चित्र कला मानवी कला है और मूर्ति-निर्माण कला अथवा गृह-निर्माण कला की अपेक्षा अधिक सरल तथा निश्चयात्मक रूप से प्रकृति और पुरुष के रूप, भाव और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती है। इसका प्रभाव आँखों द्वारा पड़ता है। इसके सौन्दर्य को अनुगण रखते हुए सब लोग एक ही समय इसका उपभोग कर सकते हैं। इसका विकास गंभीर अध्ययन, चिन्तन और कलाकार की स्वा-

भाविक प्रतिभा, अभिरुचि अथवा कला की भावना को सबल बनाने के उपकरणों से हो सकता है।

इसके छः अंग—इस कला के छः अंग हैं जिनके नाम ये हैं—(१) रूप-भेद, (२) प्रमाण, (३) भाव, (४) लावण्य योजन, (५) सादृश्य और (६) वर्णिक भंग। आधुनिक चित्रकार ये भेद बतलाते हैं—

(१) बाह्य रेखाएँ, (२) प्रकाश और छाया, (३) आकार, (४) रंगों की व्यवस्था, (५) अनुपात, (६) ठीक स्वरूप, (७) एक भाव और (८) भावनाओं तथा रंगों की उपयुक्तता। प्रसिद्ध कलाकार अपने नियमों और अपने उपकरणों का निर्माण स्वयं करते हैं और अपनी निपुणता के उपयोग में वे पूरे स्वतंत्र हैं। उनकी रचनाएँ वास्तविकता और सन्देश से ओत-प्रोत होती हैं।

चित्रों का विभाग आध्यात्मिक, पौराणिक अथवा ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, काल्पनिक, हास्यप्रद, व्यक्तिगत, प्राकृतिक और भावुक विषयों में किया जा सकता है।

बौद्ध काल से पूर्व की कला—जैसा कि भारतीय साहित्य से अवगत होता है, बौद्ध काल से पूर्व ही चित्र कला का ज्ञान और उसका पूरा विकास हो चुका था। प्रायः दीवारों पर के और राज-प्रासादों के फर्शों पर के चित्रों के रूप में यह अधिकांशतः सांसारिक थी। बौद्ध काल में धार्मिक प्रभाव ने कला की प्रकृति बदल दी। कलाकार लोग बुद्ध और उनके अनुयायियों तथा अन्य देवताओं के जीवन की धार्मिक घटनाओं के चित्र बनाने लगे। चित्र कला विषयक सभी पुराने नियम और प्रत्येक देवता के रूप, आकार और रंग निश्चित हुए थे और सब के द्वारा स्वीकृत कर लिये गये थे। किस विषय के और कैसे चित्र खींचे जाने चाहिएँ, इस विषय के भी बहुत से नियम बने। रुकावट के लिए भी कुछ नियम माने गये थे।

बौद्ध-कालिक कला—बौद्ध शाखा की चित्र कला और उसके अवशिष्ट (सन् ५० ई० से ७०० ई०) आज दिन हमारी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति हैं। इसके धार्मिक उत्साह ने एक ऐसी कला का संचालन किया जो बौद्ध धर्म के सन्देशों के साथ लंका, चीन, जावा, स्याम और एशिया के अन्य भागों में फैल गई। यह

कला बुद्ध के जीवन की घटनाओं और बौद्ध धर्म के सन्देश (जिसका प्रचार इसके द्वारा बढ़ा था) का निदर्शन कराती है। इसके उदाहरण बाग और अजन्ता की गुफाओं में देखे जा सकते हैं। बौद्ध विहारों में कई चित्रशालाएँ थीं। मन्दिरों, गुफाओं और राजभवनों की दीवारों पर के चित्रों के द्वारा प्राचीन काल में सारे भारत में चित्र कला फैली। बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ ही इस कला का भी अन्त हुआ और यह मुग़लों के आगमन के समय तक उसी स्थिति में पड़ी रही।

मुग़ल कला—अकबर ने इस कला को पुनः प्रोत्साहित किया और इस प्रकार मुग़ल प्रणाली की कला का अभ्युत्थान हुआ। यह फारस के चित्रकारों के नियमों और आदर्शों से प्रभावित हुई है। इसके विषय पहले तो शाही खान्दान के व्यक्तियों तक ही सीमित थे, किन्तु पीछे दूसरे व्यक्ति भी इसकी परिधि में आने लगे। जहाँगीर ने इसके प्रचार का प्रयत्न किया और औरङ्गज़ेब ने इस पर एक कठोर प्रहार किया। इस मुग़ल प्रणाली में मुसलमान और हिन्दू दोनों ही तरह के चित्रकार थे। भारतीय कलाकारों ने ठीक ठीक फारसी प्रभावों का अनुसरण न करके कला विषयक रीति, दृष्टिकोण और नियमों का एक भिन्न ही ढंग निकाला। उनके चित्र प्रसिद्ध हैं। उन्होंने दरबारों, शिकारों, खेलों और सवारियों के चित्र बनाये हैं।

राजपूत कला—राजपूत प्रणाली की चित्र कला प्राचीन हिन्दू रूढ़ियों का निर्वाह करती है। जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, काँगड़ा और पंजाब की अन्य रियासतों के राजाओं द्वारा इसको प्रोत्साहन मिला था। पिछली शैली 'पहाड़ी शैली' के नाम से प्रसिद्ध है। राजपूत शैली में धार्मिक और वास्तविक या लौकिक दोनों ही तरह की कलाओं की अभिव्यक्ति हुई है। मुग़ल शैली केवल लौकिक है। राजपूत शैली के चित्रकारों ने राजभवन की दीवारों पर और काग़ज़ों पर भी भिन्न भिन्न दृश्यों, देवताओं और व्यक्तियों के चित्र बनाये। मुग़ल और राजपूत दोनों ही शैलियों ने एक दूसरी पर प्रभाव डाला, किन्तु वास्तव में दोनों शैलियाँ रीति और प्रवृत्ति में एक दूसरी से भिन्न ही रहीं।

मुग़ल चित्र कला प्रधानतः लौकिक थी और उसका सम्बन्ध सामयिक अभिरुचि और व्यक्तित्व की अभिरुचि से था। वह जीवन को आदर्श बनाने का प्रयत्न न करके जीवन के किसी एक महान् लौकिक अंग की कोमल और परिपूर्ण व्याख्या करती है।

आधुनिक कला—ये बौद्ध, राजपूत और मुग़ल प्रणालियाँ अतीत की चित्र कला की तीन प्रधान शैलियाँ या शाखाएँ हैं। अँगरेज़ों के आने के बाद कुछ नई शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ है जो अंशतः या पूर्णतः पाश्चात्य कला के उद्देश्यों, आदर्शों, अभिरुचियों और नियमों का अनुकरण कर रही हैं। चित्र कला की इधर ऐसी नवीन देशी शैलियाँ चल पड़ी हैं जो अपने आदर्शों में प्राचीन रूढ़ियों का निर्वाह करना चाहती हैं, किन्तु किसी अंश में आधुनिक कला के नवीन उपकरणों से भी प्रभावित हैं। यदि इनका उचित विकास हो सकेगा तो ये शैलियाँ हमारे कला विषयक विचारों को और भी प्रौढ़ कर देंगे और मानव जाति के सामने चित्र कला के सभी भिन्न भिन्न अंग आ जायँगे।

पुस्तकों की सजावट में भी इस कला का विकास देख पड़ता है। भागवद्-गीता, भागवत और अन्य धर्म ग्रंथों की पौराणिक कथाओं के धार्मिक आधार पर बने हुए चित्र और मुसलमानी धर्म-पुस्तकों के आधार पर बने हुए चित्र भी अधिक देख पड़ने लगे हैं।

चित्र कला आज कल दीवारों पर और सार्वजनिक भवनों में इन विचारों और सर्वसाधारण के दैनिक जीवन की व्याख्या के चित्रों से लोगों तक देशभक्ति, राष्ट्रीयता और नागरिक जीवन के संदेश पहुँचाने में भी सहायता कर सकती है। इसे जातीय इतिहास और सेवा के महान् आदर्शों का निदर्शन कराना चाहिए, जिससे बालक इनकी ध्वनि हृदयंगम करके इनके आदर्शों के अनुसार अपने जीवन का संचालन करना सीख सकें।

प्राचीन विश्व-विद्यालयों में धार्मिक चित्र कला और मूर्ति-निर्माण कला के विद्यालय होते थे जो अपनी कला की मनोहर सृष्टि द्वारा बालकों के हृदय में ऊँचे सिद्धान्त अंकित कराते थे।

२–मूर्ति-निर्माण कला।

लकड़ी, पत्थर, धातु या और भी कठोर वस्तुओं को काटकर चिकना करके या गढ़कर मनुष्यों, पशुओं या दूसरी वस्तुओं की मूर्त्ति में परिणत करने के 'मूर्ति-निर्माण कला' कहते हैं। भारत के प्राचीन इतिहास के प्रारम्भ में इसका पूरा विकास नहीं देख पड़ता। गृहनिर्माण कला के साथ ही इसका सम्बन्ध था या यह उसी का एक अंग थी। पूर्वजों की पूजा या वीरों की उपासना के सम्बन्ध में इसका विकास हुआ। ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दी के राजाओं की कुछ प्रस्तर मूर्तियाँ मिलती हैं, किन्तु ये मूर्तियाँ किसी कला विषयक प्रौढ़ विचार का परिचय नहीं देतीं। वे मनुष्यों की कदे आदम मूर्त्तियाँ हैं और उनके द्वारा किसी दूसरी बात का अथवा शारीरिक शक्ति का विशेष पता चलता है। उनकी कला की आड़ में किसी प्रकार की दार्शनिक या धार्मिक उपासना का भाव नहीं है। वह एक प्रकार का शुष्क और असंस्कृत निदर्शन है। किन्तु उस पर किसी विदेशी प्रभाव या आदर्श की छाप नहीं है।

प्रारम्भिक मूर्ति-निर्माण कला

मूर्ति-निर्माण कला का महान् युग, उपनिषदों के आधार पर—मूर्तिनिर्माण कला के महान् युग का प्रादुर्भाव तब हुआ, जब उपनिषदों ने सर्वोत्तम दर्शन या आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का विकास किया, जिसकी प्राप्ति व्यक्तिगत साधन और आध्यात्मिक सत्यों की अनुभूति या चिन्तना से हो सकती थी। इसने धार्मिक वातावरण का निर्माण किया, जिसमें व्यक्ति की आत्मा ब्रह्माण्ड की आत्मा में सम्मिलित होने और आत्मचिंतन करने का प्रयत्न करने लगी।

यह धार्मिक प्रवृत्ति औपनिषदिक विद्वानों और बौद्ध तथा जैन साधकों के द्वारा विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई थी।

आदर्श आध्यात्मिक पुरुष—उनके लिए मोक्ष, निर्वाण या कैवल्य मानवी स्थिति का सर्वस्व और चरम लक्ष्य हो गया। उनका आदर्श पुरुष या दैवी पुरुष एक परिव्राजक, भिक्षु अथवा यती था। बस यही ज्ञातव्य और स्मरण करने योग्य बात हो गई कि वह दैवी पुरुष किस प्रकार रहता था, बैठता था

बोलता था, चलता था और आत्मचिन्तन करता था। तब तक देवताओं की उपासना की कोई प्रणाली नहीं चली थी। प्रारम्भिक काल में इन आध्यात्मिक अनुभूतियों और सत्यों को कला के रूप में अभिव्यक्त करने का विचार नहीं था। किन्तु कुछ दिनों बाद जब भारत के बाहर बौद्धों का संसर्ग विशेषतः फारस और यूनान से हुआ, तब वे अपने आध्यात्मिक भावों को मूर्तियों और चित्रों में अंकित करने के लिए उद्यत हुए। उन्होंने विशेषतः बुद्ध के जीवन की घटनाओं को, पत्थरों में या दीवारों पर खोदा या अंकित किया। इसी आध्यात्मिक उपासना या प्रेरणा ने उनकी कला का विकास किया।

गान्धार शाखा– कला की एक नूतन शैली का, जो पीछे गांधार शाखा या शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई, उत्थान हुआ। इस शैली ने भारत की प्राचीन रूढ़ियों, धार्मिक विचारों और विदेशी यूनानी प्रभावों को एक सूत्र में बाँधने का उपक्रम किया; किन्तु साथ ही इसने विदेशी कला के नमूने का अनुकरण न करके अपने प्रभावशाली धार्मिक सिद्धान्तों को जीवित रक्खा। इसकी साधना ऐसी सृष्टि की ओर हुई जो केवल भौतिक सौन्दर्य और प्राकृतिक स्वरूपों की अपेक्षा अधिक संस्कृत और वास्तविक थी। इसने आध्यात्मिक सौन्दर्य के सर्वोत्तम अंग की ओर संकेत किया, जिसकी प्राप्ति सांसारिक मोह और आकांक्षा के दमन से हो सकती थी। भारत का आध्यात्मिक आदर्श वह पुरुष है जो सर्वोत्तम तत्व की खोज और चिन्ता में अपने आपको और अपने सांसारिक मनोवेगों को वश में रखता है। ऐसे पुरुष ही, जिनका पूरा आध्यात्मिक विकास हो चुका है, मूर्तियों और प्रस्तर चित्रों के विषय हुए हैं। इस प्रकार कठोर आध्यात्मिक नियमन में उनके शरीर का आकार कला में अभिव्यक्त किये जाने का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। यह किसी साधारण मनुष्य के भौतिक आकार का सा नहीं है। आत्मज्ञान के बाद उसके उपयुक्त विकसित शरीर के साथ बुद्ध आदर्श पुरुष माने गये। उनका वर्णन इस प्रकार किया गया है—समुन्नत स्कंध, गंभीर वक्षस्थल, स्वर्ण वर्ण, सुचिक्कण त्वचा, सिंह की तरह लचीला।

किन्तु गांधार शैली द्वारा इस सर्वोत्तम भारतीय आदर्श की कुछ प्राप्ति नहीं हुई। बुद्ध की वह स्वर्गीय शान्ति और आत्म-चिन्तन, सरलता और अनुकम्पा

उसमें नहीं है। भारतीय कला ने परलोक का कुछ सौन्दर्य और उसकी ध्वनि इस जगत् में लाने की चेष्टा की।

यह सच है कि गांधार शैली पर यूनानी अभिरुचि और नियमों का विशेष प्रभाव पड़ा था, किन्तु पीछे यह अपनी ध्वनि और अपने स्वरूप में पूर्णतः भारतीय हो गई और इसने अपने ऊपर से विदेशी प्रभाव हटा दिया। बुद्ध, शिव, विष्णु या कृष्ण सरीखे धार्मिक देवता मूर्तिनिर्माण कला की प्रेरणा के केन्द्र बन गये। उनके और उनके साथियों के जीवन की घटनाएँ सुन्दरता के साथ पत्थर और दूसरी धातुओं में खोदी गईं। विशेषतः मन्दिरों में उनकी मूर्तियों का उपयोग हुआ। उपासना के लिए छोटे देवताओं और देवियों की मूर्तियाँ भी बनाई गईं।

दक्षिणी शाखा—मूर्तिनिर्माण की दक्षिणी शाखा या प्रणाली पूर्णतया देशी है। अगस्त, कश्यप, मय और दूसरे श्रेष्ठ मूर्तिकारों ने मूर्तियों और मूर्ति-कला की दूसरी वस्तुओं के निर्माण की रीतियों और रूढ़ियों का स्पष्टीकरण किया था। उन्होंने मूर्तिनिर्माण कला के धार्मिक रूप की रक्षा की और अपनी मूर्तियों को एक प्रकार का आध्यात्मिक स्वरूप दिया। भारतीय कला में जहाँ पुरुष के अन्दर ईश्वर है, वहाँ यूनानी कला में ईश्वर के अन्दर पुरुष है।

३—वास्तु कला।

वास्तु कला—वास्तु या गृह-निर्माण कला भवनों, मन्दिरों, गिरजाघरों, मस्जिदों और अन्य इमारतों के निर्माण को कहते हैं। जिन भिन्न भिन्न रीतियों से इनका निर्माण होता है, उन्हें गृह-निर्माण कला की विभिन्न शैली भी कहते हैं। ये शैलियाँ उन भिन्न भिन्न जन समुदाय के सौन्दर्य के आदर्श, अभिरुचि और नियमों का निदर्शन कराती हैं, जिन्होंने इस कला के स्थायी उपकरणों की सृष्टि उत्तम भवन या ईश्वर के मन्दिर विषयक अपने विचारों की सन्तुष्टि के लिए की है।

मज़बूती, सुभीता और सौन्दर्य अच्छे गृह-निर्माण के आवश्यक तत्व हैं। उपयोग में लाई हुई सामग्री और निर्माण विषयक बढ़े हुए ज्ञान पर मज़बूती निर्भर है। जीवन की आवश्यकताओं और उन उद्देश्यों पर, जिनके लिए इसका

उपयोग होता है, सुभीता निर्भर है। गृह-निर्माण की ललित कला का सम्बन्ध केवल सौन्दर्य के उस अंग से है जिसका विकास किसी इमारत में हुआ हो। इमारतें अपने विस्तार, अनुपात, निर्माण-चातुर्य, सजावट, नक़्क़ाशी, सादगी या शानदारी के लिए प्रसिद्ध होती हैं।

इसकी आवश्यकता—गृह-निर्माण की कला बहुत प्राचीन है। जब मनुष्य ने गुफाओं और झोपड़ियों में रहना छोड़ दिया और अपने कृषि जीवन में घरों में रहना प्रारम्भ किया, तब दृढ़ और स्थायी इमारतों की आवश्यकता पड़ी। सामग्री, देश के जलवायु और निर्माण चातुर्य ने भिन्न भिन्न देशों में प्रारम्भिक इमारतों को विशेष प्रकार का आकार दिया। फिर ज्यों ज्यों आवश्यकता, ज्ञान और जीवन के भिन्न भिन्न अंगों का विकास हुआ, त्यों त्यों भिन्न भिन्न शैलियाँ चल पड़ीं। उन्होंने अपने संसर्ग से एक दूसरी पर प्रभाव डाला। इस प्रकार भिन्न भिन्न देशों में गृह-निर्माण कला विकसित होकर भिन्न भिन्न दशाओं और शैलियों से पार हुई।

भिन्न भिन्न कालों से सम्बन्ध रखनेवाले समुन्नत गृह-निर्माण कला के अवशिष्ट भारत में बहुत अधिक हैं। गृह-निर्माण कला विषयक बहुत से प्रामाणिक ग्रंथ भी हैं, जो शिल्पशास्त्र अथवा वास्तुशास्त्र कहे जाते हैं। आज दिन भी ऐसे व्यक्ति और जातियाँ हैं जो गृह-निर्माण का काम प्राचीन रूढ़ियों के अनुसार करती हैं।

इसकी भिन्न भिन्न शैलियाँ—जिन प्रधान मानवी प्रभावों ने भारतीय गृह-निर्माण कला में जातीय शैली का समावेश किया, वे हैं—राजप्रासाद और अन्य भवनों के निर्माण की राजसी भावना, देव-मन्दिरों के निर्माण की धार्मिक आवश्यकता और तालाबों, कूओं या अन्य इमारतों की सामाजिक आवश्यकता। भारत में, इन उपयोगों में, लकड़ी, मिट्टी और पत्थर आये हैं। मौर्य-काल में फारसी नमूनों और शैलियों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। भारत में बौद्ध स्तूपों, विहारों, चैत्यों, गुफाओं, स्तम्भों और विश्वविद्यालयों की आवश्यकता ने नई नई शैलियों और पत्थर की सामग्री के उपयोग को बहुत प्रोत्सा-

हित किया। इस कला के विकास का दूसरा युग गुप्त काल (३२०—५०० ई०) है जब कि मन्दिरों, गुफाओं और दूसरे निर्माणों में भिन्न भिन्न शैलियों और सजावटों का विकास हुआ। गृह-निर्माण कला की अन्य प्रसिद्ध शैली द्रविड़ शैली है जो अधिकांश में मन्दिरों के निर्माण से सम्बन्ध रखती है। इसके उदाहरण सारे दक्षिण तंजोर, मदूरा, त्रिचनापली और हलेबिद् में मिलते हैं। महाराष्ट्र में अलोरा की गुफाओं का कैलाश मन्दिर आदर्श, निर्माण और कला की महत्ता में अपना जोड़ नहीं रखता। उत्तर-भारतीय और जैन गृह-निर्माण कलाओं में उनकी निजी विशेषताएँ हैं। भिन्न भिन्न भागों के विभिन्न मन्दिर और प्राचीन इमारतें अपनी श्रेष्ठता और महत्ता का स्वयं प्रमाण हैं।

मुसलमान लोग गृह-निर्माण कला के अपने सिद्धान्त अपने साथ लाये और उन्होंने देशी कला को उनसे प्रभावित किया। भारतीय-मुसलमानी कला इसका फल है। इसकी शैलियाँ हैं—पठान, प्रान्तीय और मुग़ल। कुतुब मीनार सरीखी इमारतें, शाही महल, मस्जिदें और क़ब्रें इस कला की शेष स्मृतियाँ हैं। मालवा, गुजरात, युक्त प्रान्त, महाराष्ट्र और अन्य भागों में इन शैलियों में भी भारतीय सिद्धान्तों का विशेष समावेश हुआ है। ये भारत की गृह-निर्माण सम्बन्धी प्रतिभा की अनोखी सृष्टि हैं। इन भिन्न भिन्न शैलियों की कई सुन्दर रचनाएँ अब तक बची हैं। मुगल गृह-निर्माण कला ताज महल के रूप में कला का एक सुन्दर रत्न छोड़ गई है। इसमें सन्देह नहीं कि और भी ऐसी इमारतें हैं, जैसे सिकन्दरा, फतहपूर सिकरी, आगरा और दिल्ली में जो भारत की अमूल्य निधियाँ हैं और जहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों ने सहयोग करके उस महान् राष्ट्रीय वास्तु कला का निर्माण किया है जिसका मूल्य और स्थान कला के जगत में बहुत ऊँचा है।

मुसलमानों के काल में सारे भारत में कई स्वतन्त्र विदेशी शैलियों का किसी न किसी रूप में प्रचार रहा है। आज दिन गृह-निर्माण कला पर भी पाश्चात्य सिद्धान्तों और आदर्शों का प्रभाव पड़ रहा है। इस प्रकार भारत अब इन भिन्न भिन्न प्रभावों के संयोग अथवा मिलावट के फल की अभिव्यक्ति कर रहा है।

भारतीय गृह-निर्माण कला के सर्वोत्तम काल और उदाहरण हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धार्मिक आदर्शों से प्रेरित हैं। मन्दिरों, मस्जिदों, क़ब्रों और घाटों में कला के इन अनेक उदाहरणों के अवशिष्ट हमारी सारी, चित्रमय, रूपमय या गृह-निर्माण सम्बन्धी कला की आड़ में, मस्तिष्क और आत्मा के एक प्रधान तथ्य का अर्थात् विश्व में आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति का निदर्शन कराते हैं।

४–संगीत कला।

इसका धार्मिक स्वरूप—भारत में संगीत कला वेदों की भाँति प्राचीन है। इसका शरीर और इसकी आत्मा भारतीय प्रतिभा की परिपूर्ण सृष्टि है, जिसमें मुसलमान और अन्य विदेशी इस तरह डूब गये हैं कि उनका प्रत्येक अंग भारतीय हो गया है। भारतीय संगीत कला का अधिकांश धार्मिक अथवा उपासना विषयक है। साम वेद के मन्त्र, ऋषियों के गान और पुरोहितों की प्रार्थना ने भिन्न भिन्न समयों पर गाये जाने के लिए या गायकों और सुननेवालों को, भक्तों और ईश्वरत्व की विभिन्न भावनाओं से मिलने या उनको जगाने के लिए संगीत के भिन्न भिन्न रागों का विकास किया। प्रेम, भय, आनन्द, शोक और दूसरे मनोवेग जो मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होते हैं, ऐसी अभिव्यक्तियों में फूट पड़ते हैं, जो सुननेवालों को मोहित करके उनमें भी वैसी भावनाओं को जगाकर मानवी हृदयों का संयोग करा देते हैं। इसी भाँति भक्त अपने गीतों से अपने आराध्य देव का सम्पर्क प्राप्त करके उपासना के समय उसी में मिल जाता है।

संगीत केवल अपना आनन्द नहीं है जो समय बिताता अथवा संकट का निवारण करता है। यह एक मनुष्य की आत्मा और हृदय का दूसरे मनुष्य की आत्मा और हृदय के साथ और ईश्वर की प्रकृति के साथ संयोग कराता है। जब मनुष्य अपने समय के भिन्न भिन्न भाग अपने ईश्वर को प्रसन्न करने के निमित्त, कई प्रकार के गानों में उसी तरह बिताता है, जिस तरह प्रेमी अपनी प्रेमिका को आकृष्ट करने के लिए बिता सकता है, तब ईश्वर के सम्मिलन के लिए उसकी आत्मा की गम्भीर आकांक्षा देखने में आती है।

इसके निर्माता—भारत संगीत का देश है जहाँ भारतीयों ने संगीत का कला के रूप में पूरा विकास किया है। समाज, धर्म, राजवंश और प्रकृति ने इसके कंठगत और यन्त्रगत दोनों ही भागों के विकास में सहायता की। भारत में नृत्य भी संगीत कला का एक अंग माना जाता है। गीत, वाद्य और नृत्य संगीत कला के प्रधान तत्त्व हैं, जिसके आनन्द, छन्द और स्वर-प्रवाह में मनुष्य अपने आपको भूलकर उस भावना या विश्वात्मा में मिलकर एक हो जाता है, जिसको जगाने का वह प्रयत्न करता है। मुख, हाथ और पैर ये तीन अंग संगीत की सृष्टि के काम में लगाये जाते हैं। इससे केवल मनुष्य ही नहीं वरन् पशु-पक्षी भी प्रेम करते हैं। यह शारीरिक और मानसिक कठिनाइयों से मुक्त करके मस्तिष्क और हृदय को भावना के एक विषय पर केन्द्रीभूत करता है। संगीत कला एक विज्ञान या शास्त्र है जिसका विकास बड़े बड़े गायकों ने किया है। इसके प्रत्येक अंग के लिए अलग अलग रचना, नियम, समय और अभिव्यक्ति होती है। यह भली भाँति ज्ञात हो चुका है कि कौन सा राग किस विशेष भावना को जगा कर किस विशेष परिस्थिति की सृष्टि करता है। भारतीय संगीत कला की दो शैलियाँ हैं,—उत्तरी या हिन्दुस्तानी और दक्षिणी या कर्णाटकी। भारत के प्राचीन संगीतज्ञों को छोड़कर दूसरे बड़े संगीतज्ञों के नाम ये हैं—गोपाल नायक (तेरहवीं शताब्दी) और अमीर खुसरो (तेरहवीं शताब्दी) जिसने कई नये रागों का निर्माण कर के भारतीय और फारसी संगीत कला का संयोग किया, मालवा के बाज बहादुर (सोलहवीं शताब्दी) और सब से प्रसिद्ध हरिदास बाबा और उनका शिष्य तानसेन जो दोनों अकबर के समय (सोलहवीं शताब्दी) में हुए थे और जगन्नाथ कविराय (सत्रहवीं शताब्दी)। इनके अतिरिक्त और भी कई बड़े नाम हैं। तानसेन मुसलमान हो गया था, किन्तु उसके वंशजों ने संगीत कला पर बराबर अपना आधिपत्य रक्खा और नये रागों का निर्माण किया जो आज दिन सभी जगह गाये जाते हैं।

मुसलमान गायकों ने हिन्दू देवताओं और विशेषतः कृष्ण की स्तुति या प्रशंसा के गीत बनाये। कृष्ण ने भारत के सर्वश्रेष्ठ संगीत की प्रेरणा की है, जिसमें हिन्दू और मुसलमान परस्पर धार्मिक घृणा भूल कर, कृष्ण और राम के

गीतों द्वारा धर्म की श्रेष्ठ आत्मा को जगाने में सम्मिलित हुए। मुसलमान परिवारों ने भारतीय संगीत की रूढ़ियों का निर्वाह किया है।

भारतीय संगीत केवल धार्मिक नहीं है, वरन् वासनामय, प्रेममय, सामाजिक, प्राकृतिक और युद्धमय है। इसका स्थान भारतीय प्रतिभा की सर्वोत्तम सृष्टियों में है और यह मानवी चरित्र के द्वारा भारत की गंभीरता दिखलाता है।

५—नृत्य कला।

इसका उद्देश्य—नृत्य कला बहुत प्राचीन है। भारतीयों ने बहुत पहले एक प्रकार के विज्ञान के रूप में इसका नियमन किया था। इसकी भावभंगी और चेष्टाएँ, जो भिन्न भिन्न भाव व्यक्त करके दिखलाती थीं, अच्छी तरह समझ कर निश्चित कर दी गई थीं। सामाजिक मनोविनोद के लिए, व्यक्तिगत उत्साह, प्रेम या भक्ति को जगाने के लिए अथवा आदर्शों और उद्देश्यों की अभिव्यक्ति के लिए इस कला का उपयोग होता था। भारत में इसकी कुछ शैलियों में रहस्यात्मक या धार्मिक प्रधानता है। नृत्य कला छन्द, सौन्दर्य्य, अनन्तता, प्रतिभा, कोमलता, प्रेम और दैवी भय सम्बन्धी भिन्न भिन्न भावनाएँ व्यक्त कर सकती है। भगवान शंकर बहुत बड़े नर्तक हैं। वे नटराज अथवा नृत्य कला के अधिपति हैं। शिव के पौराणिक नृत्य की कहानी हैवेल ने इस प्रकार दी है—

शिव का नृत्य—"एक बार शिव योगी के वेष में बन के एक तपोवन में कुछ ऋषियों से, जो विरोधी विचारों के थे, शास्त्रार्थ करने के लिए गये। तर्क में उन्होंने उन ऋषियों को बड़ी सरलता से हरा दिया और वे ऋषि क्रोध में आकर मंत्र के बल से उनका नाश करने के लिए उद्यत हुए। उन्होंने पहले यज्ञ की अग्नि से एक सिंह बनाया। शिव ने उस सिंह को खींच लिया और अपनी छोटी उँगली के नाखून से उसका चमड़ा उतार कर अपनी कमर के चारों ओर कपड़े की तरह लपेट लिया। तब उन्होंने एक बड़े भयावने सर्प का निर्माण किया जिसे शिव ने उठा कर अपने गले में माला की तरह लपेट लिया और तब वे नाचने लगे। इसके बाद एक प्रेतात्मा एक कुरूप वामन के वेष

में अग्नि से निकल कर शिव की ओर दौड़ी ; किन्तु शिव ने उसे अपने पैर से कुचल दिया और उसी तरह विजय के उल्लास में नाचते रहे। वह नृत्य अनन्त के छन्दों का था जिसके साक्षी सभी देवता और सभी ऋषि थे।

इस रहस्यात्मक नृत्य में महादेव की कृतियाँ स्फूर्ति की अभिव्यक्ति हैं। इसका निर्माण पंच-कृत्यों या पाँच गति-संचारों से हुआ है। पहला गति-संचार सृष्टि का है। शिव के नृत्य के ताल से ब्रह्मांड की उत्पत्ति हुई। दूसरा गति-संचार रक्षा करने का है। इसके ताल से ब्रह्मांड की स्थिति की रक्षा है। तीसरा नाश का है जिससे पुराने तत्त्व नाश को प्राप्त होते हैं और उनकी जगह नये तत्वों का निर्माण होता है। चौथा भौतिक स्थिति अथवा अनेक जीवनों के भ्रमों का है। पाँचवाँ मुक्ति का, निर्वाण का, स्वर्ग अथवा समाधि का है जिसमें ईश्वरीय चैतन्य की प्राप्ति होती है।"

इसी भाँति प्रलय की देवी काली की मूर्ति का निर्माण नाचने की मुद्रा में हुआ है। उनके बाल फहरा रहे हैं, जिह्वा मुँह से बाहर निकली है, मुख के दोनों किनारों से रक्त टपक रहा है। मनुष्य की खोपड़ियों की माला गले में पड़ी है और छाती पर लटक रही है ; और वह पृथ्वी पर पड़े अपने पति के शरीर पर नाच रही हैं। वुड्रफ ने काली के नृत्य की इस प्रकार व्याख्या की है—

काली का नृत्य—"नृत्य का स्थान श्मशान भूमि है, जहाँ सूखी हुई हड्डियाँ और छितरे हुए मांस-पिण्ड हैं और जहाँ गृद्ध तथा शृगाल मांस खा रहे हैं और दाँत कटकटा रहे हैं। वीर साधक अर्ध रात्रि में अपनी भयावह साधना करता है। काली ऐसे दृश्य में इसलिए उपस्थित की गई है कि वह ऐसी महान् शक्ति है जो ब्रह्मांड के नाश के समय सभी वस्तुओं को अपने में खींच कर सृष्टि का अन्त कर देती है। जो मनुष्य संसार की सभी कामनाओं को छोड़ कर केवल उसी में तल्लीन होकर परिपूर्ण आनन्द की अनुभूति करता है, वही निडर होकर उस काली की उपासना कर सकता है। उस श्मशान भूमि पर सभी सांसारिक वासनाएँ जल कर क्षीण हो जाती हैं। काली नग्न और एक बड़े भयंकर काले बादल की तरह काले रंग की है। वह स्वयं मन और वाणी से परे है। वह उन सभी संसारी वस्तुओं को नष्ट करके महाशून्य में परिणित कर देती है जो यों तो

सांसारिक दृष्टि से कुछ नहीं, शून्य हैं, किन्तु जो वास्तव में सब कुछ या "पूर्ण" हैं। जो प्रकाश और शान्ति हैं, वह नग्न दिगम्बरा हैं। वह महान् शक्ति असीम है। वह स्वयं माया उससे परे हैं जो उसकी वह शक्ति है जिससे वे सारे ब्रह्मांड की रचना करती हैं। वह शिव के शव रूपी श्वेत शरीर पर खड़ी होती हैं। शिव श्वेत हैं; क्योंकि वही चैतन्य के चरम स्वरूप हैं, वही प्रकाश हैं। वे गतिहीन हैं; क्योंकि वे अनन्त के अपरिवर्तन-शील रूप या अंग है और काली उन्हीं का प्रत्यक्ष परिवर्तनशील रूप या अंग हैं। ये दोनों (शिव और काली) उसी एक के दो अंग हैं जो परिवर्तन सहित होते हुए भी परिवर्तन के रूप में स्थित हैं।"

कृष्ण का नृत्य—कृष्ण के कालिय मर्दन या राधाकृष्ण सम्बन्धी घटनाओं के नृत्य जीवन के विश्वव्यापक अंगों का निदर्शन कराते हैं। संसार में जो कुछ पतित और निन्दनीय है, कालिय नाग उसके समूह की अभिव्यक्ति कराता है। कृष्ण का नृत्य राक्षस के साथ युद्ध और अन्त में उस पर उनकी दैवी आत्मा की विजय की घोषणा है। राधिका और गोपियों की रास क्रीड़ा, ईश्वरीय आत्मा (कृष्ण) से सहयोग प्राप्त करने के लिए व्यक्ति की आत्मा (राधा) की अनन्त आकांक्षा की अभिव्यक्ति करती है। भारतीय नर्तकियों की प्रत्येक भाव-भंगी और गति-संचार में 'राधाकृष्ण' के नृत्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता है।

इसका ईश्वरीय संदेश—इस प्रकार भारतीयों ने ईश्वरीय संदेश अथवा मनुष्य की आध्यात्मिक आकांक्षा या विश्व के विकास और उसकी उलझन और ईश्वरीय क्रिया-कलाप को कला के भिन्न भिन्न रहस्यात्मक स्वरूपों द्वारा प्रत्यक्ष कर के जन-समुदाय के सामने रखना चाहा था, जिसमें वे अपनी सांसारिक झंझटों में उस चरम सत्य को अपनी दृष्टि की ओट में न जाने दें। इस कला का मूल आधार और उद्देश्य आध्यात्मिक है।

सातवाँ परिच्छेद

शिक्षा-मय जीवन

(१) हिन्दू शिक्षा—ब्राह्मण प्रणाली।

शिक्षा का संचालन सर्वसाधारण द्वारा— भारत में शिक्षा सर्व-साधारण के हाथ में थी, शिक्षा-प्रचार राज्य का कार्य्य नहीं था। राज्य या राष्ट्र की सहायता गौण और धन, भूमि या ग्राम आदि के दान के रूप में होती थी। राष्ट्र प्रसिद्ध शिक्षकों, विद्वानों, विद्यालयों और विश्वविद्यालयों को यह दान देता था; किन्तु शिक्षा की व्यवस्था सर्वसाधारण द्वारा होती थी और वह राष्ट्र के अधिकार में नहीं थी, उससे स्वतंत्र थी।

सामाजिक संस्था के रूप में शिक्षा की व्यवस्था—सामाजिक दृष्टि से शिक्षा मनुष्य के प्रारम्भिक विकास और इस लोक तथा परलोक की तैयारी की एक अनिवार्य्य आवश्यकता समझी जाती थी। विवाहित और गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करने के पहले ब्रह्मचर्य एक प्रकार की सामाजिक संस्था थी, जिसमें द्विजातियों को विद्यालय के किसी शिक्षक अथवा विश्वविद्यालय के अधि-कार में रहकर कुछ निश्चित विषयों के अध्ययन और आत्म-नियमन में समय बिताना पड़ता था।

शिक्षा के भिन्न भिन्न अंग—एक ओर तो शिक्षा का वर्गीकरण धार्मिक, दार्शनिक, संस्कृति-मूलक और वैज्ञानिक अंगों में हुआ था और दूसरी ओर व्याव-हारिक और आर्थिक अंगों में हुआ था। पहले वर्ग का सम्बन्ध धार्मिक, दार्श-निक, वैज्ञानिक और भिन्न भिन्न विद्याओं की शिक्षा से था। उसका संचालन शिक्षा की संस्थाओं, पाठशालाओं, विद्यापीठों या प्रसिद्ध गुरुओं के द्वारा उनके आश्रम में होता था। और दूसरा वर्ग व्यावसायिक तथा अधिक लोकोपयोगी था और उसका सम्बन्ध भिन्न भिन्न कलाओं से था। उसका ज्ञान घर पर पिता के अधीन काम करने से या दूकान में उस विषय के विशेषज्ञ के

अधीन काम करने से होता था। इसलिए हम ब्राह्मण गुरुओं को विशेषतः दैवी गुणों, मनुष्यत्व, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, शिल्प-शास्त्र और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का आदेश देते हुए देखते हैं; किन्तु उन विद्याओं, शास्त्रों और कलाओं की व्यावहारिक शिक्षा के लिए विद्यार्थियों को व्यावहारिक मनुष्यों, शासनविभागों, कारीगरों और अन्य भिन्न पेशेवालों के साथ सम्बद्ध होना पड़ता था।

व्यक्तियों या स्वतन्त्र संस्थाओं के अधिकार में होने के कारण शिक्षा में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और प्रेरणा का भाव स्थिर हो गया और इसके फल स्वरूप ज्ञान के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न सिद्धान्तों और विचार-धाराओं का प्रादुर्भाव हुआ।

चातुर्वर्ण की शिक्षा—हिन्दुओं में सब भाँति के ज्ञान की आकांक्षा थी। उनके "वेद" शब्द का अर्थ ही है ज्ञान। पर पीछे इस शब्द का अर्थ निश्चित और सीमित हो गया। इसका तात्पर्य्य वह पवित्र ज्ञान हो गया जो चारों वेदों के रूप में है और जिसकी अभिव्यक्ति ईश्वर-प्रेरित तपस्वियों और ऋषियों ने की थी। किन्तु यह केवल धार्मिक ज्ञान था। सांसारिक हित और समुन्नत सामाजिक संघटन के लिए हिन्दुओं ने सभी प्रकार के सांसारिक ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा की थी। जो कुछ ज्ञान उस समय उनके पास था, उसकी रक्षा और साथ ही साथ उसके विकास के लिए उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया। शिक्षा और ज्ञान की अवहेलना कदाचित् ही कभी होने पाई। ईश्वर के ज्ञान के साथ ही साथ उन्होंने प्रकृति, पुरुष, मानव समाज और अन्य ज्ञातव्य ज्ञानों की प्राप्ति के लिए घोर साधना की थी। द्वार सदैव खुला था। प्रत्येक वर्ग और व्यवसाय में उसकी उपयोगी शिक्षा की व्यवस्था थी। जाति का प्रत्येक व्यक्ति उन विषयों की शिक्षा प्राप्त करता था, जिनका सम्बन्ध उस जाति के व्यवसाय से था। भिन्न भिन्न जातियों के लिए विज्ञता प्राप्त करने और अध्ययन करने के विषय भिन्न भिन्न थे। ब्राह्मण व्यवसाय में धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन की अधिक आवश्यकता थी। उन्हीं में से पुरोहित, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, व्यवस्थादाता (न्यायाधीश) वैज्ञानिक और ज्ञान के अन्य अंगों के शिक्षक उत्पन्न होते थे। क्षत्रिय व्यवसाय के

लिए धार्मिक और दार्शनिक ज्ञान की प्रारम्भिक बातों की आवश्यकता थी; किंतु धनुर्वेद और अर्थशास्त्र के सम्यक् ज्ञान की भी आवश्यकता होती थी। अर्थात् उन्हें सेना-विज्ञान, युद्धकला, शासन के राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्त और सर्वसाधारण के हित का पूरा ज्ञान रखना पड़ता था। उन्हीं में से राजा, शासन करनेवाले व्यक्ति और सैनिक पैदा होते थे। वैश्य व्यवसाय के लिए कुछ साधारण धार्मिक और मानसिक संस्कृति के साथ साथ अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों और उपयोगों अथवा निर्माण करनेवाले व्यवसायों का पूरा ज्ञान रखना पड़ता था। इसका तात्पर्य्य है—कृषिकला, व्यापार और महाजनी का काम, जानवरों का पालन करना इत्यादि। इन्हीं में से कृषक, कल कारखानेवाले, सौदागर और महाजन पैदा होते थे। शूद्र वर्ग को यदि किसी कला के ज्ञान की आवश्यकता थी तो केवल निम्न श्रेणी की बातों की जानकारी की। उनमें से मज़दूर और बढ़ई आदि आते थे। मस्तिष्क सम्बन्धी ऊँची शिक्षा देने के लिए छोटी पाठशालाओं, विद्यालयों और शिक्षकों की आवश्यकता थी। खेतों, बाज़ारों, दूकानों, शासन-विभागों और युद्ध में स्वयं काम करने से कलाओं और शिल्पों में, व्यवसायों और व्यापारों में निपुणता आ जाती थी।

इसके प्रारम्भ की अवस्था—द्विजातियों के लिए शिक्षा का समय उपवीत संस्कार के समाप्त होने के साथ ही प्रारम्भ होता था। उपवीत संस्कार स्वयं एक प्रकार से शिक्षा में प्रवृत्त करने की दीक्षा थी, जिसमें बालक को आठ अथवा अधिक वर्षों तक उस दीक्षा-गुरु के यहाँ बिताने पड़ते थे, जो उसे गायत्री के मन्त्र की शिक्षा देता था।

शिक्षा का स्वाभाविक काल—शिक्षा-गुरु का होना आवश्यक था। स्वयं अध्ययन करना हानिकर समझा जाता था। शिक्षा-गुरु अपने शिष्य को स्वीकृत नियमों के अनुसार मार्ग दिखलाता था। दैनिक जीवन में धार्मिक, मानसिक, आध्यात्मिक और शारीरिक कर्तव्यों की शिक्षा देते समय वह उसे प्रायः स्वतन्त्र रखता था। शिष्य को यदि अधिक नहीं तो कम से कम बारह वर्ष तक अध्ययन करना पड़ता था; और फिर गुरु की आज्ञा से, उनकी इच्छा के अनुसार, गुरु-दक्षिणा चुकाकर वह घर लौटता था।

शिष्य का नियमन—शिष्य सेवा और पूरी आज्ञाकारिता के भाव से गुरु के यहाँ जाता था। या तो उसे गुरु के घर में 'आचार्य-कुलवासी' या उनके समीप अन्तेवासी के रूप में दैनिक पाठ पढ़ना पड़ता था। उसे अपने नित्य के कर्त्तव्यों के साथ ही गुरु के बतलाये हुए अन्य काम भी करने पड़ते थे। वह जिस गुरु के यहाँ रहता था, उसके लिए उसे भिक्षा माँगनी पड़ती थी। गृह की अग्नि की देख-रेख भी वही करता था। जब वह सर्वप्रथम गुरु के घर आता था, तब उसे हाथ में लकड़ी लेकर जाना पड़ता था, जिससे पवित्र अग्नि की रक्षा करने और बराबर आज्ञापालन करने की उसकी भावना का बोध होता था। उसे गुरु और उनके घर की रक्षा और पशुओं तथा खेतों की रखवाली करनी पड़ती थी। वह दिन में नहीं सो सकता था। गुरु की सेवा कर चुकने के बाद जो समय बचता था, उतने ही समय में उसे पाठ याद करना पड़ता था। गुरु के यहाँ शिष्य का क्या व्यवहार होना चाहिए, इस विषय के अनेक नियम गौतम, मनु तथा अन्य ऋषियों ने बताये हैं। इन नियमों का उद्देश्य था, शिष्य में आत्म-नियमन अर्थात् अपनी इन्द्रियों, अपने आध्यात्मिक विचारों, अपनी मानसिक भावनाओं, अपने व्यक्तित्व की सबलता और अपनी सामाजिक उपयोगिता पर अपना अधिकार बनाये रखना। ये सब बातें मनु (दूसरा अध्याय—६६) में दी हुई हैं।

मनु के नियम—उपनयन संस्कार के पश्चात् गुरु शिष्य को सर्वप्रथम व्यक्तिगत पवित्रता (शौच और स्नान विधि) एवं अग्निहोत्र तथा संध्योपासना करने की शिक्षा दे। (६६)

अध्ययन की इच्छा रखनेवाले, शास्त्रानुसार उत्तर मुख बैठे हुए, ब्रह्माञ्जलि बाँधे हुए, पवित्र वस्त्र पहने हुए, इन्द्रियों को वश में रखनेवाले विद्यार्थी को ही गुरु पढ़ाना प्रारम्भ करे। (७०)

वेद पढ़ना प्रारम्भ करने के पहले और पढ़ चुकने के पश्चात् शिष्य को गुरु के चरणों की वन्दना करनी चाहिए। उसे अपने दोनों हाथ बाँधकर अध्ययन करना चाहिए। इसे ब्रह्माञ्जलि कहते हैं। (७१)

गुरु के चरणों की वन्दना हाथ बाँधकर करनी चाहिए और उसे अपने

दाहिने हाथ से गुरु का दाहिना चरण और बाएँ हाथ से उनका बायाँ चरण स्पर्श करना चाहिए। (७२)

गुरु आलस्य से रहित होकर नित्य पढ़नेवाले विद्यार्थी के पाठ के पहले 'आधीष्व भोः' (अब पढ़ो) कहे और पाठ के अन्त में 'विरामोस्तु' (बस करो) कह कर विश्राम करे। (७३)

उपनीत (जिसका उपनयन हो चुका हो) ब्राह्मण, समावर्तन संस्कार के पहले, आग के लिए ईंधन जुटाने, भिक्षा माँगने, चारपाई पर न सोने, और गुरु के हितकर अन्य कार्य (जल आदि का प्रबन्ध) करने के व्रत का पालन करे। (१०८)

आचार्य के लड़के, अपनी सेवा करनेवाले, नियमों का अनुगमन करनेवाले, धार्मिक, पवित्र, अपने सम्बन्धी या बान्धव, शिक्षा धारण करने में समर्थ, धन दान करनेवाले, परोपकारी और अपने वंशज इन दस प्रकार के शिष्यों को गुरु शिक्षा दे। (१०९)

जिसके पढ़ाने से न तो धर्म हो, न धन की प्राप्ति हो, और जो ठीक ठीक पढ़ भी न सके, इन तीन प्रकार के शिष्यों को ऊसर में बीज फेंकने के समान कभी विद्या नहीं देनी चाहिए। (११२)

लौकिक-शास्त्र (अर्थ शास्त्र आदि), वैदिक शास्त्र तथा अध्यात्म विद्या का ज्ञान जिनसे प्राप्त हो, पहले उन्हीं गुरुओं का अभिवादन करना चाहिए। (११७)

बालक का यज्ञोपवीत समाप्त कर (समिधा ले जाओ, दिन को मत सोओ इत्यादि) पूर्व-कथित प्रतिज्ञाओं का उपदेश करे और तब विधि से वेद की शिक्षा प्रारम्भ करे। (१७३)

जिस ब्रह्मचारी को जो वस्त्र, जो चर्म, जो सूत्र, जो मेखला और जो दण्ड धारण करने के लिए कहा गया हो, उसे व्रत आदि में वही धारण करना चाहिए। (१७४)

ब्रह्मचारी गुरुकुल में रहता हुआ, इन्द्रियों को वश में करके अपने तप की वृद्धि के लिए इन नियमों का पालन करे। (१७५)

नित्य स्नान करके पवित्र होकर (संध्या करने से ब्राह्मण पवित्र होता है) देवतर्पण, ऋषितर्पण, पितृतर्पण, देवता पूजन, समिधा ले आना आदि सब कर्म करने चाहिएँ। (१७६)

ब्रह्मचारी शहद का, मांस का, गंध (कपूर, चन्दन, इत्र आदि) का, माला का, तीक्ष्ण रसवाले (भोज्य) पदार्थों का, स्त्रियों का, शुक्त पदार्थों का उपभोग न करे और प्राणि-हिंसा से बचता रहे। (१७७)

तैल मर्दन, आँखों में अञ्जन लगाना, जूता या छाता धारण करना और काम, क्रोध, लोभ, नाचना, गाना, बजाना—(१७८) और

जूआ, व्यर्थ की बकवाद, दूसरे की निन्दा, झूठ बोलना, स्त्रियों को देखना और स्पर्श करना, दूसरों का अपकार करना, विद्यार्थी के लिए वर्जित है। (१७९)

सदैव अकेले शयन करे, कभी इच्छापूर्वक वीर्यपात न करे ; क्योंकि इच्छापूर्वक वीर्यपात करनेवाला अपने व्रत से भ्रष्ट होता है। (१८०)

यदि कभी रात्रि में सुप्तावस्था में वीर्य-स्खलन हो जाय, तो स्नान और सूर्य का पूजन कर के 'ॐ पुनर्मायेतुमन्यो' का तीन बार जप करना चाहिए। (१८१)

जल के लिए कलश, पुष्प, गोबर, मिट्टी और कुश की जितनी आवश्यकता (गुरु को) पड़े, ले आवे और नित्य भिक्षा माँगने जाय। (१८२)

वेद और यज्ञ जिन्होंने न छोड़ा हो और जो अपने व्यवसाय में प्रवीण हों, ऐसे घरों से ब्रह्मचारी नित्य भिक्षा ले आवे। (१८३)

गुरु के कुल में, माता के कुल में, अपने कुल में और बन्धु कुल में भिक्षा माँगने कभी न जाय। यदि अन्य कुल न हो तो ऊपर कहे हुए कुलों में जाय ; किन्तु अन्त में वर्जित कुल से प्रारम्भ करे—इस भाँति ऊपर बढ़ता जाय। (१८४)

यदि अन्य उत्तम कुल न मिले तो अन्य स्थान से भी ले ले, किन्तु मौन धारण करके और जितेन्द्रिय होकर भिक्षा ग्रहण करे। पातकी कुल से कभी भिक्षा नहीं लेनी चाहिए। (१८५)

दूर के वृक्षों से समिधा लाकर उसे किसी ऊँचे स्थान पर रक्खे और अनालस्य होकर सायं-प्रातः उससे हवन करे। (१८६)

ब्रह्मचारी नित्य भिक्षा से अपना निर्वाह करे, एक का अन्न न खाय; क्योंकि भिक्षा से जीवन व्यतीत करनेवाले को व्रत रखने के समान फल होता है। (१८८)

गुरु स्वयं कहें या न कहें, विद्यार्थी को नित्य नियम से विद्याध्ययन करना चाहिए और सदैव आचार्य की सेवा में रहना चाहिए। (१९१)

शरीर, वाणी, बुद्धि, इन्द्रिय, मन इन सब को वश में रख कर, गुरु के मुख को देखता हुआ, हाथ जोड़ कर, उनके सामने खड़ा हो। (१९२)

अपना हाथ सदैव बाहर रक्खे, आचार से पवित्र रहे, शरीर ढँके रहे; और जब गुरु बैठने की आज्ञा दें, तब उनके सामने मुँह करके बैठे। (१९३)

गुरु के सामने साधारण वस्त्र, साधारण भोजन और साधारण वेष का उपयोग करे। उनके उठने के पहले उठ जाय और उनके विश्राम करने पर विश्राम करे। (१९४)

लेटे हुए, बैठे हुए, भोजन करते हुए या पराङ्मुख होकर गुरु की आज्ञा न सुननी चाहिए और न उनमें बात चीत करनी चाहिए। (१९५)

यदि गुरु बैठे हों, तो स्वयं भी बैठ जाय। यदि वह चलते हों तो स्वयं भी चलने लगे, यदि वह उसकी ओर आते हों तो स्वयं उनकी ओर आगे बढ़े और यदि वह दौड़ते हों तो स्वयं उनके पीछे दौड़ कर (बात चीत) करे। (१९६)

यदि गुरु पराङ्मुख हों तो अभिमुख होकर, यदि दूर पर हों तो निकट जाकर उनको प्रणाम करके उनकी आज्ञा सुने। (१९७)

गुरु के समीप सदैव अपना आसन नीचे रक्खे और जहाँ तक गुरु की दृष्टि जा सके, वहाँ तक आलस्यवश हाथ पैर न फैलावे। (१९८)

गुरु के न रहने पर उनका नाम बिना विशेषण के न ले। गुरु की गति का, बोली का, चेष्टा आदि का अनुकरण न करे। (१९९)

अपने इच्छानुसार ब्रह्मचारी मुण्डन करावे, या केवल शिखा रक्खे अथवा सारे केश रक्खे। वह कभी सूर्य्योदय या सूर्यास्त के समय सोया न रहे। (२१९)

जो धार्मिक नियम जानता हो, उसे समावर्तन के पूर्व किसी प्रकार की भेंट गुरु को न देनी चाहिए; किन्तु जब समावर्तन संस्कार के समय वह अन्तिम स्नान करे, तब गुरु की आज्ञा से यथा शक्ति गुरु-दक्षिणा दे। (२४५)

खेत, सोना, गाय, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, अन्न, कपड़ा अथवा शाक देकर गुरु को प्रसन्न करे। (२४६)

इस विद्यार्थी जीवन का विवरण महाभारत के बारहवें अध्याय के २४३ वें श्लोक में और उससे आगे इस प्रकार है—"मनुष्य को अपने जीवन का चतुर्थांश ब्रह्मचारी के रूप में व्यतीत करना चाहिए। गुरु के आश्रम में ब्रह्मचर्य के ये दिन ब्रह्मविद्या के ज्ञान-संचय में व्यतीत होने चाहिएँ। विद्यार्थी को गुरु के सो जाने के बाद सोना और उनके उठने के पहले उठना चाहिए। उसे छोटे काम करने में असन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। दिन की ये सेवाएँ कर चुकने के बाद उसे गुरु के समीप बैठ कर पढ़ना चाहिए। उसे बराबर प्रसन्न और कर्त्तव्यशील होना चाहिए। उसे गुरु के भोजन करने से पहले भोजन नहीं करना चाहिए। उसका भोजन बहुत साधारण रहे, अधिक स्वादिष्ट अथवा स्निग्ध न हो। प्रति दिन प्रातःकाल दोनों हाथों से गुरु और गुरुपत्नी के चरण छूकर अभिवादन करना चाहिए। इस प्रकार अपने चरित्र और व्यवहार से गुरु को सन्तुष्ट करके अपना अध्ययन समाप्त करना चाहिए और गुरु-दक्षिणा देकर विवाह करने और गृहस्थ बनने की आज्ञा लेकर उसे अपने घर जाना चाहिए।"

ये नियम विद्यार्थी के ऊँचे ज्ञान प्राप्त करने और एकाग्र चित्त होने में सहायक होते थे। इस भाँति उसका सारा अध्ययन एक प्रकार का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक नियमन था। यहाँ उसके भविष्य के ज्ञान-संचय और कर्मविधि की तैयारी पूरी हो जाती थी।

शिक्षक का शिष्य के प्रति आध्यात्मिक और सांसारिक सन्देश बड़ी सुन्दरता से तैत्तरेयोपनिषद् में वर्णित है।

शिक्षावली का अनुवाद इस प्रकार है—

उपनिषद्कालिक शिक्षा—वेद पढ़ा चुकने के बाद गुरु इस तरह की कुछ और भी शिक्षा देता था—

सत्यंवद् । (सच बोलो)

धर्म्मंचर । (धर्म का आचरण करो)

स्वाध्यायान्मा प्रमदः । (सावधानता के साथ स्वाध्याय करते रहो)

आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेदीत्सीः । (यथा शक्ति धन से विद्यापीठ की सेवा करो और लोक-सेवा के लिए प्रजासंतति के पालन पोषण में सावधान रहो) ।

सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । (सत्य, धर्म और कुशल का मार्ग मत छोड़ो) ।

भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्याय प्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम् । (अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए धर्म मार्ग से कभी न हटो) ।

देवपितृ कार्य्याभ्याम् न प्रमदितव्यम् । (देवता और पितृ के कर्मों से न हटो)।

मातृदेवोभव । पितृदेवोभव । आचार्यदेवोभव । अतिथि देवोभव । (माता-पिता, गुरु और अतिथि की सेवा देव-तुल्य करो) ।

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सवितव्यानि नो इतराणि । (जो श्रेष्ठार्यहैंक, उन्हीं का अनुसरण करो, दूसरों का नहीं) ।

ये के चास्मच्छ्रेयां ४ सो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रियादेयम् । ह्रिया देयम् । भियादेयम् । संविदा देयम् । अथयदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्त विचित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः समदर्शिनो युक्ताः आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्त्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमुचैतदुपास्यम् ।

अर्थात् हम में जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनको सम्मानपूर्वक आसन देना । श्रद्धा और विवेकपूर्वक प्रत्येक दशा में दान देना । यदि तुम्हें किसी अवस्था में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में शंका उत्पन्न हो तो जो सहिष्णु, तपस्वी, एकाग्रचित्त, शान्तप्रकृति, धर्मात्मा, विद्वान् हों, उनके पास जाकर उसका समाधान कर लेना और जैसा आचरण वे करें, वैसा ही आचरण तुम भी करना । यही अन्तिम

आदेश और उपदेश है। यही वेद का रहस्य और सार तत्व है। इसी की उपासना करना। इसी में तुम्हारा कल्याण होगा।

इसके पश्चात् स्नातक कुलपति के चरणों पर गुरुदक्षिणा रक्खे और उन्हें प्रणाम करके अपना आसन ग्रहण करे।

स्नातक के कर्तव्य—अपना अध्ययन समाप्त कर लेने के बाद उसे पवित्र स्नान करना पड़ता था जिसके बाद वह स्नातक हो जाता था। उस समय उसका समावर्तन संस्कार होता था और पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने और विवाह करने के पूर्व गुरु उसे कुछ उपयोगी शिक्षा और आशीर्वाद देता था। ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में यह माना जाता था कि उसे वेदों का सम्पूर्ण ज्ञान है; और यदि ब्रह्मचारी ब्राह्मण होता तो यह माना जाता था कि उसे वेद पढ़ाने की रीति भी ज्ञात है और वह सांसारिक जीवन के उपयुक्त सब विद्याएँ भी जानता है। उसे सेवा की आध्यात्मिक विभूतियों की जानकारी, सत्य के अनुगमन, संयम, शान्ति, पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन और यज्ञ तथा बलिदान के विधानों को पालन करने के योग्य समझते थे।

जिस शिक्षक में ऊँची आध्यात्मिक और मानसिक विभूतियों का विकास होता था और जिसे धार्मिक मन्त्रों का पूर्ण ज्ञान रहता था, उसे अपने शिष्य को अपनी जानकारी भर सच्चे हृदय से पढ़ाना पड़ता था।

अध्ययन के विषय—उन दिनों इन विषयों की शिक्षा दी जाती थी—चार वेद, छः वेदांग, छः दर्शन, इतिहास, पुराण, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद, आयुर्वेद, वास्तुवेद, स्मृतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, गणितशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, शिल्पशास्त्र और उस समय की प्रचलित और भी अन्य विद्याएँ।

कौन लोग पढ़ते थे—द्विजातियों के लिए अध्ययन अनिवार्य था और उनको कुछ काल विद्यार्थी जीवन में बिताना पड़ता था। किन्तु सब लोगों के लिए विद्या पढ़ना या गुरु रूप में दूसरों को शिक्षा देना अनिवार्य नहीं था। प्रत्येक वर्ण अपने जातीय व्यवसाय और आवश्यकता के अनुसार विषयों का ज्ञान प्राप्त करता था, यद्यपि प्रारम्भिक साधारण धार्मिक और मानसिक विषयों की

शिक्षा सब के लिए अनिवार्य थी। ब्राह्मण गुरु उन सब को भिन्न भिन्न विषयों की शिक्षा देते थे। कभी कभी हम यह भी देखते हैं, जैसा कि रामायण या छान्दोग्योपनिषत् में वर्णित है, किसी नगर या राज्य के सभी मनुष्य शिक्षित होते थे। किन्तु हम इसकी निश्चित सीमा नहीं जानते। शिक्षक प्रायः अपने पुत्रों और उन छात्रों को पढ़ाता था जो उसकी सेवा में आते थे। नियमतः जब तक अध्ययन समाप्त नहीं हो जाता था, शिष्य अपने गुरु के साथ रहता था। वह पीछे विशेष ज्ञान के लिए दूसरे गुरु के पास भी जा सकता था।

प्रत्येक गुरु अपने आश्रम में रहता था, जो चारो ओर से उसी की भूमि से घिरा रहता था। यदि वह विख्यात और कीर्तिशाली गुरु होता था, तो उसके यहाँ सब ओर से विद्यार्थी आते थे। किन्तु प्राचीन काल में यशस्वी गुरु किसी धार्मिक या साहित्यिक केन्द्र में इकट्ठे हो जाते थे, जो प्रसिद्ध शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे; जैसे, तक्षशिला, काशी, नालन्द और विक्रमशिला, जहाँ सभी विद्याएँ, सभी विषय और सभी शिल्प अपनी भिन्न भिन्न शाखाओं के सहित पढ़ाये जाते थे। शुक्राचार्य ३२ विद्याओं की चर्चा करते हैं। इन शिक्षा-केन्द्रों में देश के सभी विभागों से और यहाँ तक कि समीप के देशों, जैसे चीन इत्यादि से भी विद्यार्थी आते थे और उन्हें इन में निवास, भोजन, औषध और शिक्षा मिलती थी।

आय के मूल साधन—आय की प्राप्ति जनता या राज्य की ओर से अन्न, लकड़ी, भूमि और ग्राम-दान के रूप में होती थी; और कुछ अंश विद्यार्थियों के दान से भी आता था। छोटे आश्रम, पाठशाला या गुरुकुल में जिनका आधार केवल एक गुरु था, यदि शिष्य बीमार पड़ जाता था, तो गुरु की स्त्री उसका भोजन बनाती थी और उसकी सेवा करती थी। शिष्य उसे अपनी माता के तुल्य समझता था। उसका सम्बन्ध गुरु के परिवार से हो जाता था। अधिक शिक्षित शिष्य कम पढ़े हुए शिष्यों की पढ़ने में बराबर सहायता करते थे। गुरु शिष्य को तभी अपने गुरुकुल में प्रविष्ट करता था, जब वह किसी विशेष विषय के अध्ययन के योग्य समझा जाता था और उसी विषय में उसको शिक्षा दी जाती थी। उसका स्वभाव और आवश्यकता जानने का गुरु सदा प्रयत्न करता

था। शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी। निस्सन्देह विद्यार्थी को गुरु और उसके परिवार की सेवा करनी पड़ती थी, गुरु के लिए उसे गृहस्थों के यहाँ भिक्षाटन करना पड़ता था और अन्त में यथा शक्ति गुरु-दक्षिणा देनी पड़ती थी।

हमें प्रसिद्ध गुरुओं और उनके शिष्यों के नाम ज्ञात हैं; जैसे व्यास और उनके चार शिष्य जिन्होंने वेदों का अध्ययन किया था; शुक्राचार्य और कच, जिन्होंने संजीवनी विद्या की अभिप्राप्ति की थी; धौमेय और वेद; विश्वामित्र और राम लक्ष्मण जिन्होंने युद्ध की भिन्न भिन्न कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया था; वाल्मीकि और लवकुश, सन्दीपिनी और कृष्ण, कौत्स और वर्तन्तु, द्रोण और अर्जुन, बुद्ध और उनके शिष्य, विष्णुगुप्त कौटिल्य, और चन्द्रगुप्त मौर्य्य तथा पाटलीपुत्र के राजा सुदर्शन के लड़के। इसी प्रकार और भी सहस्रों गुरु-शिष्य हो गये हैं।

विश्वविद्यालय और शिक्षा संघ—इसी भाँति महान् शिक्षालयों और विश्वविद्यालयों के उल्लेख मिलते हैं जो आचार्यों और विद्यार्थियों के नियमित निवास स्थान थे। महाभारत में मालिनी नदी के तट पर बसे हुए कण्व के विश्व-विद्यालय की चर्चा है, जहाँ अनेक ऋषि वेद-मन्त्रों का गम्भीर गान करते थे। विद्यार्थी वेदांत, वेदांग, तर्क शास्त्र और दूसरी अनेक विद्याओं का अध्ययन करते थे। उनकी सम्मिलित ध्वनि, उनका सम्मिलित तर्क और उनकी सम्मिलित पुनरावृत्ति सुननेवालों को आनन्द-मग्न कर देती थी। तक्षशिला, काशी, नालन्द, विक्रमशिला, मिथिला और उज्जैनी के सभी प्राचीन विश्वविद्यालय उच्चतम शिक्षा के महान् केन्द्र थे, जहाँ सहस्रों विद्यार्थी यशस्वी आचार्यों से भिन्न भिन्न विद्याओं का सुव्यवस्थित नियम और संस्कार-पूर्वक अध्ययन करते थे।

वातावरण—नगर के कोलाहल से दूर, सुन्दर, विस्तृत और प्राकृतिक शोभा से युक्त शान्त स्थान में विद्वान्, स्वार्थत्यागी, आत्मसंयमी, शान्त, उदार और सरल शिक्षकों की अधीनता में विद्यार्थी पवित्र, धार्मिक और नियमित जीवन व्यतीत करता था।

अध्ययन की रीति—सर्वप्रथम गुरु जो कुछ कहता था और समझाता था, विद्यार्थी उसे ध्यान लगाकर सुनता था (गौतम १,४८)। वह उसकी पुनरावृत्ति करता था और उसे समझता था, उसे स्मरण और हृदयंगम करता था, बार बार प्रश्न करके उस पर तर्क करता था और अपने सन्देह व्यक्त करके, सब ओर से सन्तुष्ट होकर उसे सदैव के लिए स्वीकृत करता था। शिक्षक, प्रश्न या बात चीत की रीति से या कहानियों या उदाहरणों की रीति से अपना विषय समझा देता था। इन कहानियों, उदाहरणों या बात चीत के बाद आत्म-चिन्तन और एकाग्रता की तब तक आवश्यकता पड़ती थी, जब तक विषय स्पष्ट होकर हृदयंगम नहीं हो जाता था। शिष्य क्रमशः प्रत्येक विद्यार्थी के मानसिक विकास का पता लगाकर सन्तुष्ट होता था। प्रत्येक विद्यार्थी का व्यक्तिगत ध्यान रक्खा जाता था। विद्यार्थियों में आपस में तथा विद्यार्थियों और बाहरवालों या उनके गुरुओं में नियमित और वैज्ञानिक रूप में तर्क, वाद-विवाद और शास्त्रार्थ होता था। राजाओं और धनिकों द्वारा सार्वजनिक शास्त्रार्थ की व्यवस्था होती थी, जिसमें यशस्वी विद्वान् सम्मिलित होते थे; और कभी कभी विद्वान् पति और उसकी पत्नी भी सम्मिलित होती थी, जैसा कि जनक की सभा में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी दोनों शास्त्रार्थ में सम्मिलित हुए थे। महत्वाकांक्षी विद्वान् दिग्विजय की इच्छा से अपना सिद्धान्त सर्वमान्य कराने के लिए और अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए शास्त्रार्थ की चुनौती देते थे, जैसा कि स्वामी शंकराचार्य ने किया था। महायज्ञों और अन्य धार्मिक अवसरों पर निमन्त्रित ब्राह्मणों में शास्त्रार्थ होता था और योग्यतानुसार उन्हें पुरस्कार भी दिया जाता था।

स्त्री-शिक्षा—लड़कियों को पढ़ने लिखने और हिसाब रखने की साधारण शिक्षा, जो गृहस्थी के संचालन में आवश्यक होती थी, दी जाती थी। स्त्री के रूप में वह अपने पति के साथ यज्ञ की विधियों में सम्मिलित होती थी। किन्तु उसके जीवन के लिए ऊँची मानसिक, धार्मिक या व्यावसायिक शिक्षा आवश्यक नहीं समझी गई थी। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ स्त्रियाँ बहुत अधिक शिक्षित हो चुकी थीं, जैसे ब्रह्मवादिनी। किन्तु इस तरह के उदाहरण बहुत कम हैं। उनको विद्वान पिता के द्वारा कभी कभी विशेष रूप से साहित्यिक और दार्श-

निक शिक्षा मिल जाया करती थीं। ऐसी स्त्रियों के उदाहरण हैं—गार्गी, वाचक्नवी और अरुन्धती। कुछ स्त्रियों ने तो अपने पति से भी शास्त्रार्थ किया था। कतिपय क्षत्रिय स्त्रियाँ, जैसे द्रौपदी, विशेष रूप से शिक्षिता थीं। उनकी सारी शिक्षा उनके पिता के घर हुई थी।

स्त्री-शिक्षा की प्रणाली और उनके अध्ययन के विषयों की चर्चा वात्स्यायन ने की है। उनका सम्बन्ध विशेषतः पारिवारिक-विज्ञान से था, जैसे पढ़ना लिखना, हिसाब रखना, ललित कलाएँ, जैसे संगीत, नृत्य, अभिनय, चित्र लेखन इत्यादि। उन्हें विशेषतः वेदों की शिक्षा नहीं दी जाती थी। किन्तु वे घर पर वेद-पाठ सुन सकती थीं, और जहाँ तक होता था, स्मरण रखती थीं। मन्दिरों, त्योहारों और धार्मिक सम्मेलनों में वे पुराण, इतिहास और साहित्य की कथाएँ सुनती थीं। बालिकाओं के लिए पाठशालाएँ नहीं थीं; उनका पता नहीं चलता। जो कुछ वे पिता के घर पढ़ लेती थीं अथवा पति के घर में सुन लेती थीं, वही उनकी शिक्षा और उनका ज्ञान होता था। उनकी शिक्षा की कोई नियमित विधि या प्रणाली नहीं थी। पारिवारिक पाठशाला में माता-पिता, भाई, बहिन और अन्त में पति ही बारी बारी से स्त्री के शिक्षक बनते थे।

शूद्रों की शिक्षा—शूद्रों के लिए वेदों का अध्ययन अथवा पाठ वर्जित था। वेदों की पवित्रता के हित में उनकी असभ्य भाषा और उनका वन्य उच्चारण हानिकर समझा जाता था; किन्तु वे दूसरे प्रकार की मानसिक अथवा व्यावसायिक शिक्षाएँ, कथा कहनेवाले ब्राह्मणों की कथाओं से या तरह तरह की दूकानों में शिल्प सम्बन्धी कार्य करके, प्राप्त कर सकते थे।

यद्यपि शूद्रों के लिए वैदिक ज्ञान वर्जित था, तथापि वह आर्थिक दृष्टि से कुछ विशेष महत्व का नहीं था। उसका महत्व केवल धार्मिक था और कर्मकांड से सम्बन्ध रखता था। और क्षत्रिय, वैश्य तथा यहाँ तक कि सैनिक अथवा व्यावसायिक अभिरुचि के ब्राह्मण भी, जिनको ऐसी आज्ञा थी, वेदों का अध्ययन और पाठ नहीं करते थे।

विद्या के बड़े केन्द्र—काशी व्याकरण, दर्शन और अन्य सभी शास्त्रों के अध्ययन का केन्द्र समझी जाती थी। उज्जयिनी ज्योतिष शास्त्र के लिए, दक्षिण

वेद-पाठ और वेदान्त के लिए, बंगाल (नदिया) न्याय शास्त्र के लिए और नासिक तथा प्रतिष्ठान धर्म-शास्त्र के लिए प्रसिद्ध थे।

नैमिषारण्य के तपोवन में शौनक ऋषि की अध्यक्षता में भिन्न भिन्न विषयों पर बारह वर्षों के यज्ञ के अवसर पर विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान और दार्शनिक शास्त्रार्थ हुआ करते थे। स्वयं महाभारत सौति की व्याख्यान-माला में उसी प्रकार कहा गया था, जिस प्रकार वैशम्पायन ने जनमेजय के नाग-यज्ञ में भी कहा था। इसी भाँति विद्वान् ऋषियों के सम्मेलन बराबर हुआ करते थे।

प्रणाली की विशेषताएँ—तपोवन का धार्मिक, आध्यात्मिक और नैसर्गिक वातावरण, गुरु और शिष्य का व्यक्तिगत और पारिवारिक सम्बन्ध, विद्यार्थियों का आपस में व्यक्तिगत सम्बन्ध और आचरण तथा भक्ति और प्रेम का वह भाव जिसमें वे आपस में मिलते थे, प्राचीन शिक्षा की कुछ विशेषताएँ हैं। इसका चरम उद्देश्य था "सा विद्या या विमुक्तये" (वही ज्ञान है जो निर्वाण की ओर ले जाय)। ब्राह्मण के लिए यह अधिकांश में धार्मिक और दार्शनिक था, पुरोहित के लिए यह यज्ञ सम्बन्धी और अन्य जातियों के लिए कर्तव्य विषयक था, इसलिए प्रायः सब के लिए भिन्न भिन्न था। प्रार्थना, उपासना और यज्ञों की प्रधानता थी। क्षत्रिय और वैश्य अपनी व्यावसायिक विधियों और कलाओं में सांसारिक दृष्टिकोण और संस्कार का ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। सुव्यवस्थित नियमन और परिपूर्णता का धार्मिक भाव इसके उद्देश्य और प्रणाली पर प्रभाव डालता था। कवि, पुरोहित और दार्शनिक इसी प्रणाली के अनुसार बनते थे। दूसरे लोग जीवन के राजनीतिक और आर्थिक झमेलों में पड़े रहने के कारण अपनी अपनी जगहों में ही अपने विषयों का विशेष ज्ञान प्राप्त करते थे।

किन्तु वेद के अध्ययन का तात्पर्य केवल प्रार्थना या धर्म नहीं था। उसमें प्रकृति, कलाओं, कारखानों और युद्धों की भी विशेष चर्चा है। यात्राओं, कहानियों, मानवी चरित्रों, पशुओं, वर्णनों और छन्दःशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, व्याकरण-शास्त्र, गणितशास्त्र, दर्शनशास्त्र की और अन्य सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक बातें उसमें भरी पड़ी हैं। उनकी व्याख्या में ही एक प्रकार से विद्यार्थियों की मानसिक, वैज्ञानिक और व्यावसायिक शिक्षा हो जाती थी।

प्राचीन हिन्दू शिक्षा विशेषतः निश्चयात्मक या प्रामाणिक ढंग की थी। बाह्य वस्तुओं की उसमें प्रधानता थी। उसके अनुसार मनुष्य को अपनी स्वीकृति या विश्वास में स्वतन्त्र विचार की जगह हठ-वादिता से विशेष प्रभावित होना पड़ता था। इस लोक की अपेक्षा परलोक का भाव विशेष प्रबल होता था। उसमें कठोर नियम और सेवा के प्राबल्य से स्वतन्त्रता और व्यापक दृष्टि की कमी थी।

आधुनिक शिक्षा—आधुनिक शिक्षा व्यक्ति को अधिक से अधिक अवसर और सुभीता प्रदान करने का प्रयत्न कर रही है। केवल विश्वास की रूढ़ि पर यह मनुष्य को कोई बात स्वीकृत नहीं करने देती और उसके निरीक्षण तथा विचार पर उसे छोड़ देती है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक प्राणी का निरीक्षण और विचार ठीक या परिपूर्ण नहीं हो सकता ; किन्तु वह अपनी विचार-शक्ति का पता पा जाता है और इस भाँति उसके सामने उन्नति का मार्ग बराबर खुला रहता है। किन्तु कक्षा और व्याख्यान प्रणाली ने आधुनिक विद्यार्थी की वह स्वतन्त्रता छीन ली है ; क्योंकि इसमें निरन्तर व्याख्यान प्रणाली के कारण विद्यार्थी की वास्तविक पहुँच शिक्षक तक नहीं हो पाती। वह अपनी पुस्तकों पर आश्रित रहता है, जिनका वह प्रायः अध्ययन न करके उन्हें केवल रट लेता है, जिससे वह परीक्षा में उत्तीर्ण हो सके। विद्यार्थी के मस्तिष्क पर समय के परिमित होने का, जिसमें वह दूसरों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करता है, बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है ; और इस कारण अपने विषयों की प्रत्येक श्रेणी का ठीक अभिप्राय और उपयोग नहीं समझ सकता। तीव्र और मोटी बुद्धिवाले दोनों एक ही वातावरण में रख दिये जाते हैं, जो न तो पहले को उत्साहित करता है और न दूसरे की सहायता करता है।

बौद्ध प्रणाली

इसका स्वरूप—अपने विहार या संघ के चारो ओर के गाँवों में बौद्ध लोग शिक्षा का प्रचार करते थे। भिक्षुओं का उद्देश्य था सहानुभूतिपूर्ण जीवन व्यतीत करना और कोलाहल-पूर्ण जगत से निकल कर अपने शान्त विहार में

अपनी वासनाओं और आकांक्षाओं पर विजय प्राप्त करना। सभी जातियों के व्यक्ति संघ में प्रविष्ट हो कर भिक्षु बन सकते थे। गाँवों से आये हुए मनुष्यों को धार्मिक उपदेश देना और उनके बच्चों को निरन्तर पाठशाला में पढ़ाना भी उनका एक कर्तव्य था। वे धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार की शिक्षा देते थे। विद्यार्थी अपने शिक्षकों का सम्मान करते थे, उनकी आज्ञा का पालन करते थे, प्रातः और सायं उनका अभिवादन करते थे; और साथ ही उन्हें ऐसे छोटे काम भी करने पड़ते थे जैसे कपड़ा धोना, बर्तन माँजना, झा ु देना, उस (शिक्षक) की वस्तुओं को ठीक तरह से रखना, बीमारी में उनकी सेवा शुश्रूषा करना; और इसके बाद वे अपने पाठ के विषय में उससे प्रश्न करते थे। विद्यार्थी के साथ सहानुभूति का बरताव करना, उसे भली भाँति पढ़ाना और उसे गुणी, आज्ञाकारी और सुशील बनाना शिक्षक का कर्तव्य था। उसे पवित्र, नियमित और संयमी होना पड़ता था। उसे अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना पड़ता था।

बौद्ध पाठशालाएँ सभी जातियों के लिए खुली रहती थीं। शिक्षा निःशुल्क और प्राकृत भाषा में दी जाती थी। जिन विषयों की शिक्षा दी जाती थी, वे धार्मिक भी थे और लौकिक भी, जैसे कलाएँ, शिल्प, चिकित्सा इत्यादि। ऊँची शिक्षा संस्कृत और पाली में दी जाती थी। प्रत्येक विद्यार्थी का व्यक्तिशः ध्यान रक्खा जाता था। उसका व्यक्तिगत रूप से ऊँचे दर्जे में प्रवेश होता था। विद्यार्थी की योग्यता की परख के लिए सार्वजनिक तार्किक रहते थे।

बहुत से स्थानों में ऊँची शिक्षा दी जाती थी। राजाओं के द्वारा राज-सभाओं में बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनियों में बहुत से सार्वजनिक शास्त्रार्थ कराये जाते थे, जिनमें विद्वानों को पुरस्कार और पारितोषिक वितरण किया जाता था।

विश्व-विद्यालय—नालन्द का बौद्ध विश्वविद्यालय (३००—८५० ई०) और विक्रमशिला का बौद्ध विश्वविद्यालय (८००—१२०० ई०) दोनों बहुत प्रसिद्ध थे। इन्होंने सारे भारत में और समीप के देशों में, जैसे चीन, बरमा, तिब्बत, स्याम और जावा में भारतीय संस्कृति की रक्षा और उन्नति की। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हिन्दू शिक्षा-प्रणाली ने ज्ञान के सभी अंगों पर

ध्यान दिया और उनका विचार किया था। दर्शन, विज्ञान, कला और साहित्य में बहुत बड़ा मानसिक विकास हुआ। गद्य, पद्य, नाटक और साहित्य के अन्य विभिन्न विभाग विद्वानों और उपासकों से भरे पड़े थे। शब्द कोष और व्याकरण, गणित की अन्य शाखाएँ, आयुर्वेद और रसायन शास्त्र, ललित कलाएँ, शिल्प शास्त्र और अन्य कारीगरियाँ सभी उन्नति के मार्ग पर थीं और सब की अच्छी तरह से शिक्षा दी जाती थी।

तक्ष-शिला

ब्राह्मण विश्वविद्यालय (८०० वर्ष ईसा से पूर्व ६०० ई० तक)

ईसा से ८०० वर्ष पूर्व से तक्षशिला प्रसिद्ध विश्वविद्यालय हो चुका था। यह भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में गान्धार देश की राजधानी था। ब्राह्मण विद्याओं का यह प्रधान केन्द्र था। सभी जातियों और सभी देशों के विद्यार्थी यहाँ धार्मिक, लौकिक और व्यावसायिक आदि भिन्न भिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आते थे। यहाँ वेदों, अट्ठारह विद्याओं और शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। ज्ञान की प्रत्येक शाखा उस विषय के एक विशेषज्ञ आचार्य की अध्यक्षता में थी। यहीं वैयाकरण पाणिनि, प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ चाणक्य, यशस्वी वैद्य जीवक और अन्य अनेक महापुरुषों को शिक्षा मिली थी। वैद्यक शास्त्र और औषध विज्ञान के लिए यह बहुत प्रसिद्ध स्थान था। जीवक जो बुद्ध का वैद्य था, यहीं आत्रेय की अध्यक्षता में सात वर्षों तक औषध विज्ञान का अध्ययन करता रहा। तक्षशिला के चारो ओर पन्द्रह मील के घेरे की सभी वनस्पतियों, पौधों, लताओं और कन्द मूल के औषध विषयक उपयोग के विवरण देने में उसकी योग्यता की परीक्षा ली गई थी। जीवक ने चार दिनों तक उनकी परीक्षा की और अपने आयुर्वेद-आचार्य के सामने उसका फल यों रक्खा—"ऐसा कदाचित् ही कोई पौधा हो जिसका कोई न कोई औषध विषयक उपयोग न हो सकता हो।" जातकों में इस विश्वविद्यालय की बड़ी चर्चा हुई है। उनमें कहा गया है कि सभी ऊँची जातियों, सरदारों, ब्राह्मणों और व्यवसायियों के लड़के भारतीय कलाओं और विज्ञानों का अध्ययन करने के लिए और विशेषतः

आयुर्वेद तथा औषध विज्ञान के अध्ययन के लिए तक्षशिला में एकत्र होते थे। सेवा या गुरु-दक्षिणा के बदले में यहाँ शिक्षा दी जाती थी।

यहाँ पर यूनानी और भारतीय दार्शनिक मिले थे, उन्होंने एक दूसरे की प्रणाली को पसन्द किया था; एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ा था और एक ने दूसरे का अनुकरण किया था। कहीं कहीं इस बात को भी चर्चा मिलती है कि प्रारम्भ में मिस्र और बैबिलोनिया से भी इसका संसर्ग हुआ था। बैबलोनियावाले स्थल मार्ग से बराबर भारत आया करते थे। एरियन, स्ट्रैबो, टोलेमी, डियोनीसियस, प्लीनी, फाह्यान, ह्यूनत्साङ्ग और अन्य विदेशी इसे शिक्षा का महान् केन्द्र कहते हैं। अशोक के समय में, जो शासक और राजकुमार के रूप में यहाँ रहा था, यह बड़ी उन्नति पर था। नवीं शताब्दी के बाद हम इसके विषय में कुछ विशेष नहीं सुनते। इसका महत्व इससे पहले ही नष्ट हो चुका था।

नालन्द बौद्ध विश्वविद्यालय

(३०० ई० से ८५० ई० तक)

सर्व साधारण में सुभीते के अनुसार ऊँची और आरम्भिक शिक्षा के प्रचार को प्रोत्साहित करना बौद्ध प्रवाह की महान् सेवाओं में एक है। उनके विहार आस पास के देहातों और किसी अंश में सारे देश के लिए शिक्षा के केन्द्र थे। ईसाई संघों ने युरोप में शिक्षा के लिए जो काम किया, बौद्ध संघों ने भी शिक्षा के लिए भारत में वही काम किया। उन्होंने सब के लिए ज्ञान का भण्डार खोल दिया था। विदेशी विद्यार्थी चीन, तिब्बत, मध्य एशिया, बुखारा, कोरिया और अन्य देशों से आकर बौद्ध विहारों में भारतीय ज्ञान की श्रेष्ठ विभूति से लाभ उठाते थे।

गुप्त काल में, जो भारतीय साहित्य के विकास का स्वर्ण युग है, नालन्द का विश्वविद्यालय बौद्ध संस्कृति का महान् केन्द्र था। इस काल में बौद्ध धर्म की महायान शाखा भारत में उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रही थी। नालन्द, प्रारम्भ में, विहार में एक गाँव (आधुनिक बड़ा गाँव) था। प्रसिद्ध बौद्ध

विद्वान नागार्जुन (३०० ई०) और आर्यदेव (३२० ई०) जिन्होंने उस स्थान के विहार को प्रसिद्ध किया, वहाँ के आरम्भिक बड़े विद्वानों में थे। चीनी यात्री फाह्यान (३९९—४१४) ने चौथी शताब्दी में यहाँ की यात्रा की थी। उस समय यह विश्वविद्यालय अभी पूरा नहीं हो पाया था। फिर पीछे जब ह्युएनत्स्याङ्ग (६१९—६४५) और इत्सिंग (६७५—६८७) चीन के दो बड़े यात्रियों ने इसे देखा, तब यह उच्च कोटि की शिक्षा का एक महान् केन्द्र हो चुका था। उन्होंने यशस्वी आचार्यों की अध्यक्षता में संस्कृत और बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया। शीलभद्र ने ह्युएनत्स्याङ्ग को पन्द्रह महीने संस्कृत भाषा पढ़ाई थी।

यहाँ से बहुत से बौद्ध भिक्षु तिब्बत और चीन गये और वहाँ उन्होंने अपने ज्ञान, पवित्र जीवन और बौद्ध पुस्तकों के चीनी भाषा में अनुवाद करने के कारण बहुत यश और ख्याति प्राप्त की। उन्होंने उन देशों में अपने उत्साह और तत्परता के कारण बौद्ध धर्म का ज़ोरों से प्रचार किया। तिब्बत के राजाओं और चीन के सम्राटों ने यहाँ के विद्वानों को अपने देश में बौद्ध धर्म के प्रचार की सहायता के लिए निमन्त्रित किया। इस विश्वविद्यालय का स्थान अनुमान से बेलु वन माना जाता है, जो शिशुनाग के वंश के राजा बिम्बसार ने गौतम बुद्ध को दान किया था। ह्युएनत्स्यांग इसके विषय में कहता है—"वास्तव में यह परम दर्शनीय है"। इसमें बहुत से मन्दिर और विहार थे। व्याख्यानों के लिए अलग भवन थे। वहाँ स्तूप और अन्य पवित्र इमारतें थीं। वहाँ सहस्रों पवित्र विद्वान् और भक्त भिक्षु थे। शिक्षा के इस महान् केन्द्र में चारों ओर से विद्यार्थी आते थे। इसमें बड़े बड़े बौद्ध भिक्षु अध्यापक थे। वे बौद्ध धर्म और उसकी भिन्न भिन्न धार्मिक पुस्तकों की शिक्षा देते थे। वहाँ वेदों, उपनिषदों, भारतीय दर्शन की विभिन्न प्रणालियों और भिन्न भिन्न कलाओं का अध्ययन होता था।

उसके यशस्वी आचार्य धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामति, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र और शीलभद्र थे। वहाँ का अधिपति "कुलपति" कहलाता था। विद्यार्थियों की संख्या प्रायः १०,००० कही जाती है।

इत्सिंग नालन्द में दस वर्ष रहा था। संघ के नियमन और संचालन से वह बहुत सन्तुष्ट था। तीन हज़ार विद्यार्थी रात दिन वहीं निवास करते थे। इसका

व्यय उन दो सौ गाँवों की आमदनी से चलता था, जो भिन्न भिन्न राजाओं की ओर से इस विश्वविद्यालय को दान में मिले थे।

इसके तीन भिन्न भिन्न भवन थे, जिनके नाम रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरञ्जक थे। रत्नोदधि में नौ खंड थे, जहाँ पवित्र पुस्तकें और तान्त्रिक ग्रन्थ रक्खे थे। इसे कुछ ऐसे भिक्षुओं ने जला दिया, जिनका यहाँ किसी तरह अपमान हो गया था।

महाविद्यालय बीच में था और चारों ओर से आठ बड़े बड़े कमरों (हाल) से घिरा था। उसी के घेरे में वेधशालाएँ थीं। शिक्षक भी वहीं रहते थे।

शिक्षा धार्मिक और लौकिक, दोनों ही भाँति की दी जाती थी। बौद्ध धर्म के अठारह वर्गों के सिद्धान्तों का अध्ययन होता था। साथ ही व्याकरण, न्याय, चिकित्सा, दर्शन और अन्य विषयों का भी अध्ययन होता था।

शिक्षा पाली और संस्कृत दोनों प्रकार के ग्रन्थों से दी जाती थी। प्रत्येक विषय की शिक्षा उस विषय का यशस्वी आचार्य देता था। विद्यार्थी अपना सम्बन्ध एक अथवा कई आचार्यों से रखते थे। कुछ विषयों का तो वे विशेष ज्ञान प्राप्त करते थे और प्रारम्भिक अथवा सहायक विषयों का साधारण अध्ययन भी पर्याप्त होता था। कार बार सम्बन्धी पारिभाषिक विज्ञान वहाँ नहीं पढ़ाये जाते थे। पुराने ढंग से विद्यार्थी वहीं विद्यालय में रहते थे, अध्ययन करते थे और उस कठोर बौद्ध मर्यादा का पालन करते थे, जो जीवन के सभी सुखमय अंगों का बहिष्कार या परित्याग करती थी।

काशी

ई० पू० १००० से ब्राह्मण विद्या का बड़ा केन्द्र

महात्मा बुद्ध के जन्म के पहले से ही भारतवर्ष में जो सोलह बड़े राज्य या जानपद चले आते थे, उनमें से एक राज्य या जानपद काशी भी था और काशी नगरी उसी की राजधानी थी। उपनिषदों और सूत्रों में काशी के राजाओं के नाम काश्य और अजातशत्रु आदि आये हैं। अथर्व वेद में भी वर्णावती नदी का उल्लेख है, जिसका सम्बन्ध बाद की वाराणसी से लगाया जा सकता है।

रामायण, महाभारत और पुराणों आदि में काशी एक प्रसिद्ध राज्य कहा गया है और उनमें वहाँ के राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन का वर्णन है। प्रसिद्ध महर्षि वेदव्यास काशी की सुख्याति सुनकर वहाँ जाकर रहने लगे थे। बहुत से पंडितों ने भी उनका अनुकरण किया था। मैत्रेय नामक ऋषि भी वहाँ रहते थे, जिन्होंने लोगों को यह शिक्षा दी थी—"ब्राह्मणों के लिए ब्रह्म विद्या सब से बड़ा भांडार या कोष है। हिन्दुओं की वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त बहुत ही सुन्दर और लाभदायक है। दान करना बहुत ही अच्छा काम है।" (महाभारत १२,१२०) बहुत से बड़े बड़े राजाओं का भी उसमें उल्लेख है। जैन ग्रन्थों से भी काशी की प्राचीनता प्रमाणित होती है, जहाँ पार्श्वनाथ ने ई० पू० ८१७ के लगभग जन्म लिया था। आर्यरक्षित नामक जैन पहले ब्राह्मण था और उसने सारा ज्ञान काशी में ही प्राप्त किया था। बौद्ध जातकों तथा बौद्धों के अन्यान्य ग्रन्थों में काशी और उसके राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक जीवन का बहुत अच्छा और यथेष्ट वर्णन मिलता है। बुद्ध के समय में ही काशी की बहुत अधिक प्रसिद्धि थी। महात्मा बुद्ध ने धम्म चक्क (धर्मचक्र) के सम्बन्ध में अपना पहला उपदेश (ई० पू० ५८३) काशी में ही अपने पाँच शिष्यों को दिया था और वहीं वे अपने धर्म का प्रचार करते थे। वे वहाँ सत्य का साम्राज्य स्थापित करने के लिए गये थे और अपने चार श्रेष्ठ सत्यों तथा श्रेष्ठ अष्टांग मार्ग का वहीं उपदेश दिया था। उन्होंने वहाँ अपने अनुयायियों का एक विहार स्थापित किया था और बहुत से लोगों को अपने धर्म में दीक्षित किया था।

भगिनी निवेदिता का कथन है कि चार हज़ार वर्ष पूर्व वैदिक ऋषियों ने पहले पहल जिस स्थान पर पवित्र गंगा नदी के पूर्व सूर्य को उदित होते हुए देखा था और जहाँ उन्होंने ऋग्वेद के मन्त्रों का उच्चारण करते हुए उसका पूजन किया था, वहीं मन्दिरों की नगरी के रूप में काशी नगरी बसी थी। आगे चलकर वह शिव की पवित्र पुरी हो गई। मन्दिरों और भिन्न भिन्न धर्मों के मठों के आस पास बहुत से विद्वान् पंडितों और गुरुओं के आश्रम स्थापित हो गये और विद्या तथा ज्ञान की भिन्न भिन्न शाखाओं के विद्यालय बन गये। यद्यपि इस बात का उल्लेख मिलता है कि बहुत प्राचीन काल में काशी के विद्यार्थी बहुत अच्छे अच्छे गुरुओं से कुछ विशिष्ट शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला

जाया करते थे, तथापि काशी सदा से ब्राह्मण विद्या का सब से बड़ा केन्द्र रहा है। ब्राह्मण विद्या की उच्च शाखाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सदा से विद्यार्थी काशी में आते रहे हैं और संस्कृत विद्याओं तथा वेदान्त के ज्ञान और पांडित्य के लिए यह नगरी आज तक प्रसिद्ध रही है। इस समय भी धर्म, यज्ञ और रीति-व्यवहार आदि धार्मिक प्रश्नों के सम्बन्ध में यहीं की व्यवस्था अन्तिम और परम प्रामाणिक मानी जाती है और अब भी यह हिन्दू संस्कृति का बहुत बड़ा केन्द्र है। यहाँ अनेक प्रसिद्ध पंडितों की बहुत सी पाठशालाएँ हैं जिनमें विद्यार्थियों को भिन्न भिन्न शास्त्रों की शिक्षा दी जाती है। उन्हें बिलकुल मुफ्त शिक्षा दी जाती है और साथ ही अन्नसत्रों में मुफ़्त भोजन भी मिलता है। कुछ विद्यार्थियों को तो लोग मुफ़्त भोजन कराते हैं और कुछ भिक्षा माँग कर अपना निर्वाह करते हैं। यदि गुरु की दृष्टि में विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के योग्य होता था, तो उसे यहाँ रहकर शिक्षा प्राप्त करने में कोई कठिनता नहीं होती थी।

पिछले तीन हज़ार वर्षों में भारत में अनेक प्रकार की राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक क्रान्तियाँ हुईं; परन्तु इस बीच में विद्या, ज्ञान और शिक्षा सम्बन्धी इसकी ख्याति सदा अक्षुण्ण रही। इस बात में संसार का और कोई नगर काशी का मुक़ाबला नहीं कर सकता। आर्य लोग जब पहले पहल पूर्व में गंगा तट के मैदानों की ओर बढ़े, तब वे यहीं आकर बसे थे। भिन्न भिन्न प्रतिद्वन्द्वी शाखाओं में यहाँ सदा से बहुत सी दार्शनिक प्रतिद्वन्द्विताएँ होती रही हैं। शंकराचार्य तथा दूसरे विद्वानों ने यहीं शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करके अपनी कीर्त्ति का विस्तार किया था। औरंगजेब ने सन् १६६९ ई० में यहाँ का विश्वनाथ का मन्दिर नष्ट कर दिया था और यहाँ की बहुत सी पाठशालाओं आदि को मटिया मेट कर दिया था। इसी प्रकार और भी कई मुसलमान बादशाहों ने इस नगरी में अनेक प्रकार के अनर्थ किये थे। लेकिन फिर भी हमारे सारे इतिहास में इस नगरी की शिक्षा और धर्म सम्बन्धी प्रधानता, पवित्र गंगा नदी की भाँति, सदा ज्यों की त्यों बनी रही; और आजकल पाश्चात्य शिक्षा का इतना अधिक प्रभाव पड़ने पर भी उसकी प्रबलता और पवित्रता में कोई अन्तर नहीं आने पाया है। आजकल इस नई परिस्थिति में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय अपनी शिक्षा विषयक पुरानी सम्पत्ति की रक्षा और विस्तार का उद्योग कर रहा है।

राजकुमारों की शिक्षा का कौटिल्य द्वारा अंकित चित्र (१.५.)

"विनय दो प्रकार का होता है—एक कृतक या कृत्रिम और दूसरा स्वाभाविक। शिक्षा उसी व्यक्ति को योग्य बना सकती है जो शिक्षा और विनय का पात्र होता है। अपात्र को वह योग्य नहीं बना सकती। शास्त्रों का अध्ययन उन्हीं व्यक्तियों को योग्य बना सकता है जिनमें शुश्रूषा या आज्ञाकारिता, श्रवण, ग्रहण, धारणा, विवेक, ऊहापोह या तर्क वितर्क आदि की मानसिक शक्तियाँ होती हैं। जिन लोगों में ये शक्तियाँ नहीं होतीं, उन्हें शास्त्रों का अध्ययन योग्य नहीं बना सकता।"

"शास्त्रों का अध्ययन आचार्यों की देख-रेख में और उनके आदेशों के अनुसार होना चाहिए। मुंडन संस्कार हो जाने के उपरान्त विद्यार्थी को वर्णमाला और गणित की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। यज्ञोपवीत संस्कार हो जाने के उपरान्त उसे शिष्ट आचार्यों से वेदत्रयी और आन्वीक्षकी विद्या का अध्ययन करना चाहिए और राजकीय निरीक्षकों अथवा अध्यक्षों से वार्त्ता या अर्थशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए; और दंडनीति या राजनीति जाननेवाले और उसका व्यवहार करनेवाले वक्ताओं तथा प्रवक्ताओं से दण्डनीति या राजनीति की शिक्षा लेनी चाहिए।"

"उसे (राजकुमार को) सोलह वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिए। इसके उपरान्त उसे गोदान करके विवाह करना चाहिए।"

"विनय का ठीक ठीक पालन और वृद्धि करने के लिए उसे नित्य शास्त्रों के वृद्ध आचार्यों का सत्संग करना चाहिए; क्योंकि विनय केवल उन्हीं लोगों पर निर्भर है।"

"उसे सवेरे के समय हाथी, घोड़े, रथ और शस्त्र आदि का परिचालन या युद्ध सम्बन्धी विद्या सीखनी चाहिए और दोपहर के समय इतिहास सुनना चाहिए।"

"दिन के शेष समय और रात्रि में उसे नये पाठ पढ़ने चाहिएँ, पुराने

पाठों की पुनरावृत्ति करनी चाहिए और जो पाठ अच्छी तरह समझ में न आया हो, वह बार बार सुनना चाहिए ; क्योंकि सुनने से बुद्धि बढ़ती है, बुद्धि से सीखी हुई बात को काम में लाना आता है और इस व्यवहार से मनुष्य सामर्थ्ययुक्त होता है। और यही सामर्थ्य का लाभ विद्या का उद्देश्य है।"

वैश्य के ज्ञान के सम्बन्ध में मनुस्मृति (९. ३२९—३३) के वचन

"वैश्य को मणि, मोती, मूँगे, धातु, वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य तथा आभूषण आदि सब का मूल्य जानना चाहिए।"

"उसे सब चीज़ों के बोने की विधि, खेती के गुण-दोष और सब प्रकार की नाप-तौल का पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिए।"

"उसे यह जानना चाहिए कि कौन सी वस्तु अच्छी है, कौन सी निकम्मी है, किस देश में क्या लाभ है और किसमें क्या हानियाँ हैं, व्यापार की किन वस्तुओं में कितना लाभ और कितनी हानि होती है और पशुओं का पालन तथा वृद्धि किस प्रकार होती है।"

"उसे भृत्यों वा सेवकों के वेतन आदि का हिसाब, भिन्न भिन्न देशों के लोगों की भाषाएँ, माल रखने के ढंग और खरीदने तथा बेचने के नियमों का ज्ञान होना चाहिए।"

महावग्ग (१. २५. ८.) में, जो बौद्धों के विनयपिटक में है, विद्यार्थी के विनय के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

"उसे तड़के ठीक समय से उठना चाहिए और पादत्राण उतारकर और उत्तरीय वस्त्र या दुपट्टा इस प्रकार रखकर, जिसमें एक कन्धा ढक जाय, उपाध्याय के पास जाना चाहिए और उसे दातुन तथा कुल्ला करने को जल देना चाहिए। इसके उपरान्त उसे उपाध्याय के लिए आसन प्रस्तुत करना चाहिए। यदि खीर तैयार हो तो उसे पात्र माँजकर उसमें उपाध्याय को खीर देनी चाहिए। जब उपाध्याय खीर पी लें, तब वह उन्हें हाथ धोने के लिए जल दे, उनसे वह पात्र लेकर नीचे रख दे और उसे इस प्रकार अच्छी तरह माँजे जिसमें वह खराब न

हो और तब उसे रख दे। जब उपाध्याय उठ कर खड़े हों, तब वह उनका आसन उठाकर रख दे। यदि वह जगह गन्दी हो तो झाड़ू से साफ़ करे।" (S. B E. १३. १५४—५५).

चीनी यात्री इत्सिंग (सन् ६७१—६८५) गुरु और शिष्य के व्यवहार के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखता है—

"शिष्य नित्य तड़के उठकर दातुन करके अपने गुरु के पास जाय और उसे दातुन दे और उसके आसन के पास दातुन, अँगोछा और कुल्ला करने के लिए बरतन रख दे। इस प्रकार उसकी सेवा करने के अनन्तर वह पवित्र प्रतिमा की पूजा और मन्दिर की परिक्रमा करे। तब अपने गुरु के पास आकर अपना वस्त्र ऊपर उठाकर हाथ जोड़कर (सिर से पृथ्वी को) तीन बार स्पर्श करता हुआ और भूमि पर घुटनों के बल बैठकर दंडवत् करे।" फिर वह सिर झुकाकर और हाथ जोड़कर उनसे यह कहता हुआ प्रश्न करे—"मेरे उपाध्याय जी ध्यान दें या मेरे आचार्य जी ध्यान दें। मैं अब पूछता हूँ कि क्या मेरे उपाध्याय जी रात भर अच्छी तरह रहे? क्या उनका शरीर पूर्ण रूप से स्वस्थ रहा है? क्या वे अच्छे और सुखपूर्वक हैं? उन्हें भोजन भली भाँति पच जाता है न? क्या वे सवेरे के भोजन के लिए प्रस्तुत हैं?....." तब गुरु अपने स्वास्थ्य सम्बन्धी इन प्रश्नों का उत्तर देता है। इसके उपरान्त शिष्य अपने आस पास की कोठरियों में अपने से बड़ों को प्रणाम करने जाता है। तब वह धर्म-ग्रन्थ का कुछ अंश पढ़ता है; और जो कुछ पहले पढ़ा हुआ होता है, उस पर मनन करता है। वह दिन पर दिन नया ज्ञान प्राप्त करता है और बिना एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट किये हुए हर महीने प्राचीन विषयों की अधिक खोज करता है।"

"वह अपने उपाध्याय के पास रात के पहले पहर और पिछले पहर में जाता है। पहले उपाध्याय उसे आराम से बैठने की आज्ञा देता है। फिर वह त्रिपिटकों में से कुछ वाक्य आदि चुनकर ऐसे ढंग से उसे कुछ पाठ पढ़ाता है जो परिस्थितियों के अनुकूल होता है; और वह किसी तत्व या सिद्धान्त की बिना व्याख्या किये नहीं छोड़ता। वह अपने शिष्य के नैतिक आचरण पर ध्यान रखता है और उसके दोषों तथा अतिक्रमों के सम्बन्ध में उसे चेतावनी देता रहता है।

जब कभी वह अपने शिष्य को कोई दोष या अपराध करते हुए देखता है, तब वह उसे दूर करने के उपाय ढूँढ़ने और प्रायश्चित्त या पश्चात्ताप करने को बाध्य करता है। शिष्य अपने उपाध्याय का शरीर दबाता, उसके वस्त्र तह करके रखता या कभी कभी कोठरी और आँगन में झाड़ू देता है। वह जल की इस बात की परीक्षा करके कि कहीं उसमें कीड़े तो नहीं हैं, अपने गुरु को देता है। इस प्रकार उपाध्याय का जो कुछ काम होता है, वह सब करता है। अपने से बड़े का आदर सम्मान करने की यही रीति है। दूसरे पक्ष में शिष्य के रुग्न होने की अवस्था में उपाध्याय स्वयं उसकी सेवा शुश्रूषा करता, उसे सभी आवश्यक औषधें आदि लाकर देता और स्वयं अपने पुत्र के समान उसकी देख भाल करता है।"

हिन्दू शिक्षा का सामान्य स्वरूप

शिक्षा मानें इस जीवन और परलोक के जीवन की तैयारी समझी जाती थी। मनुष्य के जीवन के इन दोनें अंगों और आवश्यकताओं में शिक्षा के द्वारा सामंजस्य स्थापित होता था। परन्तु उसका परलोकवाला अंग अधिक महत्व का और प्रधान माना जाता था; और इस कारण इस लोक के जीवन के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों की कुछ उपेक्षा की जाती थी। यद्यपि चारों आश्रमों की व्यवस्था जीवन के इन सब अंगों पर समान रूप से ध्यान देने के लिए की गई थी, तथापि इस लोक से सम्बन्ध रखनेवाली बातों की कार्यतः शिक्षा देने की ओर कम ध्यान दिया जाता था।

जाति, कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों के कारण शिक्षा का स्वतन्त्र विस्तार बहुत कुछ परिमित हो गया था। इसके कारण लोगों की समाज के सम्बन्ध की भावना एक प्रकार से निश्चल या निर्जीव हो गई थी और उनके विचारों का कोई शुभ फल नहीं होता था। वे एक निश्चित तल से ऊपर नहीं उठ सकते थे। ब्राह्मण लोग इस लोक को छोड़कर सदा केवल परलोक की ही चिन्ता करने लगे; और वे लोग विचारों तथा समाज के नेता थे, इसलिए दूसरी श्रेणियों के लोगों पर भी उनके उदाहरण का प्रभाव पड़ा। इसके विपरीत जन साधारण अधिकांश में अपने ही हितों और स्वार्थों का ध्यान रखने लगे और उन्हें ऐसी

सर्वाङ्गपूर्ण संस्कृति की कोई चिन्ता न रह गई जो मनुष्य के व्यक्तित्व के भिन्न भिन्न अंगों का भली भाँति निर्वाह करती और उन्हें सबल बनाती।

सदा भूत काल पर ही दृष्टि रखी जाती थी। इसी लिए ज्ञान में किसी प्रकार की वृद्धि न हो सकी और शिक्षा बिलकुल एक ही ढंग की और साँचे में ढली हुई सी बनी रह गई।

फिर भी गुरु और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध उच्च, वास्तविक और व्यक्तिगत थे। गुरु के व्यक्तिगत उदाहरण और प्रभाव से शिष्य के व्यक्तित्व का बहुत अच्छा संघटन होता था। शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं के परिचालन, निर्वाह, नीति और उद्देश्यों में राज्य का किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होता था। वे संस्थाएँ राज्य से किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं होती थीं, बल्कि स्वयं राजा लोग उन्हें दान और वृत्ति आदि देकर उनके साथ सम्बद्ध होते थे।

नागरिक जीवन के दोषों का वहाँ अभाव होता था और शिक्षा सम्बन्धी संस्थाएँ जनाकीर्ण निवास-स्थानों से बहुत दूर हुआ करती थीं, जिससे उच्च कोटि के नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों और पूर्ण सुव्यवस्था तथा आत्म-संयम में बहुत बड़ी सहायता पहुँचती थी; और इन सब बातों से शिष्य को उस समय अपने सांसारिक जीवन में बहुत अधिक सहायता मिलती थी, जब वह अपने गुरु का आश्रम छोड़कर अपने घर लौटता था।

परन्तु यदि इस शिक्षा प्रणाली की सभी बातों पर ध्यान दिया जाय तो पता चलेगा कि इससे संस्कृति के भिन्न भिन्न अंगों और विचारों के भिन्न भिन्न रूपों का अच्छा विकास हुआ था और इसने बहुत दिनों तक शुद्ध ज्ञान की भिन्न भिन्न शाखाओं के सम्बन्ध में भारत को और और जातियों से बहुत आगे रखा था।

मुसलमानों की शिक्षा

मकतब और मदरसा—मुसलमानों की शिक्षा-प्रणाली विशेष कर धार्मिक तथा संस्कृति सम्बन्धी है। उसमें दो संस्थाएँ हैं—एक मकतब और दूसरा मदरसा। मकतब प्रारम्भिक विद्यालय था जो मसजिद से मिला रहता था। वहाँ इसलिए कुरान कंठस्थ कराया जाता था जिसमें विद्यार्थियों को उपासना, ध्यान

तथा दूसरे धार्मिक आदेशों और कर्तव्यों का पालन करने में सहायता मिले। यह माना जाता था कि सब मुसलमानों के ही लड़के उसमें उपस्थित रहते हैं। कुरान के अतिरिक्त पढ़ने लिखने एवं साधारण गणित की भी शिक्षा दी जाती थी। उनको पैग़म्बर की कथा, अनेक फ़क़ीरों के चरित्र तथा कवियों की चुनी हुई कविताएँ पढ़ाई जाती थीं। मदरसा उच्च शिक्षा का स्थान था। वहाँ व्याकरण, अलंकार, तर्कशास्त्र, न्याय, मुसलमानी व्यवहार तथा आचार, ज्योतिष शास्त्र, तत्वज्ञान तथा अध्यात्म विद्या सिखाई जाती थी। क्रमशः ज्ञान प्राप्त करना उनकी शिक्षा प्रणाली की एक बड़ी विशेषता थी।

राजा तथा अमीर, शिक्षा के संरक्षक—मुसलमान बादशाह केवल मुसलमानी शिक्षा के संरक्षक थे। वे मसजिदें और मदरसे बनाने में सहायता देते थे, मुसलमान विद्यार्थियों तथा मुल्लाओं को धन या जागीर देकर उत्साहित करते थे और उनको पेंशन तथा वृत्ति भी देते थे। वे हिन्दुओं को उनकी शिक्षा में सहायता नहीं देते थे। उलटे हिन्दू पाठशालाओं, विद्यालयों, मंदिरों, विश्व-विद्यालयों तथा पुस्तकालयों को यह कह कर नष्ट करते थे कि ये झूठी तथा हानिकारक विद्या के स्थान हैं।

कई मुसलमान बादशाह भारत के उत्तर तथा दक्षिण प्रदेशों में मुसलमानी विद्या तथा शिक्षा में अपने उत्साह के लिए प्रसिद्ध थे। कई क़स्बे विद्या तथा साहित्य के प्रधान स्थान बन गये; जैसे दिल्ली, आगरा, बदायूँ, जौनपुर, मुलतान आदि। अमीर लोग भी विद्या का प्रचार तथा संरक्षण करते थे। उनके यहाँ विद्वान लोग रहते थे जो उन्हीं के घरों में उनके लड़कों के साथ साथ दूसरे लड़कों को भी पढ़ाते थे।

पाठ्य विषय—इस तरह राजाओं और अमीरों के संरक्षण और धार्मिक उत्साह ने मुसलमानी शिक्षा का दीपक प्रज्वलित रखा और इतिहास, कविता, तर्क शास्त्र, दर्शन और धर्म शास्त्र की उन्नति में सहायता की। अकबर ने चित्रकारी, गान विद्या, सुन्दर लेख और दूसरी कलाओं तथा विज्ञानों को प्रोत्साहन दिया। वह जनता की शिक्षा का बहुत ध्यान रखता था। हर एक विद्यार्थी को पाँच बातें सीखनी पड़ती थीं। अक्षरों का ज्ञान, शब्दार्थ, मिसरा, गद्य और पहले के

पढ़े हुए पाठ। पीछे उसको आध्यात्मिक पुस्तकें, हिसाब, कृषि शास्त्र, ज्योतिष आदि पढ़ना पड़ता था। इस बात का ध्यान रखा जाता था कि वह प्रत्येक विषय को स्वयं समझे। अकबर ने हिन्दू ज्ञान के प्रचार में बाधा नहीं दी थी। उसने बड़े बड़े विद्यालयों और पुस्तकालयों की स्थापना की थी और शिक्षा का अच्छी तरह प्रचार किया था।

इसके दोष—लेकिन मुसलमानों की शिक्षा प्रणाली तथा शिक्षा के विषयों में बहुत सी बातों की कमी थी। उनमें ज्ञान के प्रति उदार भाव नहीं था। अपने धार्मिक स्वरूप एवं संकीर्ण क्षेत्र के कारण उनको संसार का इतिहास तथा भूगोल, दूसरी भाषाएँ तथा दूसरी जातियों के जीवन, धर्म, राजनीति तथा तर्क शास्त्र आदि विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करने का कम अवसर मिलता था। उन लोगों में एक प्रकार का अन्ध विश्वास और कट्टरपन था जो उन्नति करनेवाली इच्छाओं तथा प्रवृत्ति का नाश कर देता था। मानसिक शक्ति में तर्क या विचार का जो स्थान है, उसका महत्व नहीं समझा जाता था; और इसी लिए उनमें उन आदर्शों तथा अभ्यासों का, जो मनुष्य की उन्नति और बड़प्पन के अनुकूल थीं, विकास नहीं हुआ।

मध्य युग में उसका महत्व—निस्सन्देह उस समय स्वतंत्र खोज और ज्ञान के लिए कुछ विख्यात् विद्वान थे; जैसे अलबरूनी और अब्बुलफज़ल। केवल दो ही का उल्लेख करना बहुत है, जिनकी विस्तृत विद्या तथा उदार दृष्टि हर एक जाति या राष्ट्र के लिए गौरव की बात होती। लेकिन ऐसे लोगों ने प्रचलित संकीर्ण प्रणाली के बाहर निकल कर ही उन्नति की थी। वे लोग सूफ़ी आदर्श में पले थे। आदि अरब लोग भी ज्ञान के प्रति प्रबल आकांक्षा प्रकट करते थे और उन्होंने दूसरे राष्ट्रों के भूगोल, इतिहास, दर्शन शास्त्र और साहित्य के ज्ञान की उन्नति की थी। वे अपने साथ युरोप के मध्य युग में स्पेन होते हुए समस्त युरोप तक अपना यह ज्ञान लेते गये थे।

अँगरेज़ों के आने के पूर्व प्रारम्भिक शिक्षा प्रणाली

अँगरेज़ों के आने के पूर्व प्रारम्भिक शिक्षाप्रणाली—अँगरेज़ों के भारतवर्ष में आने के पूर्व लोगों को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नगरों एवं

ग्रामों की पाठशालाओं और मकतबों में मिलता था, जहाँ पढ़ना, लिखना, गणित और धर्म का तत्व सिखलाया जाता था। हर एक ऐसी पाठशाला में एक अध्यापक और दस अथवा बीस छात्र रहते थे। वे प्रातःकाल तरुछाया में, घर के बरामदों में अथवा मंदिर में एकत्र होते थे। वहाँ पर नियमित शुल्क नहीं लिया जाता था, पर प्रति मास कुछ ऐसी वस्तुएँ, जिनका मूल्य लगभग चार या पाँच रुपये होता था, अध्यापक को भेंट की जाती थीं। उनको बहुधा ग्राम की उपज में से कुछ हिस्सा मिलता था। पाठशाला हर एक जाति, यहाँ तक कि अस्पृश्य के लिए भी, खुली रहती थी। बालक लगभग ५ वर्ष की अवस्था में अध्ययन करना प्रारम्भ करते थे और १६ वर्ष की अवस्था तक शिक्षा पाते थे। शिक्षा का उद्देश्य जीवन के साधारण कार्यों में सहायता देना था। रुपये, पैसे और वस्तुओं का हिसाब रखना विशेष रूप से सिखलाया जाता था। उस समय पाठ्य पुस्तक प्रायः नहीं थीं। अध्ययन अथवा रामायण आदि ग्रन्थों की कथाओं, धार्मिक भजनों एवं नैतिक पद्यों के द्वारा छात्रों को धार्मिक और नैतिक शिक्षा मिलती थी। हर एक शिष्य को अलग अलग शिक्षा दी जाती थी। बड़ी कक्षाओं में प्राचीन हिन्दू प्रणाली का प्रयोग किया जाता था जिसमें उच्च कक्षा के छात्र निम्न कक्षा के विद्यार्थियों को सहायता देते थे।

साधारणतः समस्त भारतवर्ष में इस प्रणाली की अनेक बातें पाई जाती थीं। ऐसी शिक्षा जीवन की आवश्यकता होने के कारण समस्त देश में विस्तृत रूप से प्रचलित थी। इन सब विद्या-मन्दिरों के सिवा धनाढ्य पुरुषों के घर में भी शिक्षा दी जाती थी, जहाँ बाहर के कुछ छात्र भी अध्ययन के लिए आ सकते थे। अनुमान किया जाता है कि पाठशाला जाने योग्य छात्रों में से बीस प्रति शत इन पाठशालाओं में जाते थे।

अँगरेज़ जाति के शासन-काल की प्रारम्भिक शिक्षा प्रणाली—अँगरेज़ों के शासन-काल में भारतवर्ष में प्रारम्भिक शिक्षा की बहुत उन्नति नहीं हुई। यहाँ की आबादी के केवल ६ या ७ प्रति शत शिक्षित बतलाये जाते हैं। इस राज्य ने लोगों को एक निश्चित परिमाण तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के विषय में अपना कर्तव्य त्याग दिया है।

भारत सरकार एवं प्रांतीय सरकारों के सुरक्षित विभाग उचित से अधिक राज-कर ले लेते हैं, इसलिए शिक्षा विभाग के नवीन मन्त्री भी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कर सके हैं। प्रारम्भिक शिक्षा की भावी उन्नति सरकार के उत्कट प्रयत्नों पर ही निर्भर है। उसकी उदासीनता अवश्य दूर होनी चाहिए और जापान की तरह इस देश में भी सरकार को शिक्षा प्रचार के लिए, जहाँ तक हो सके, अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।

आधुनिक शिक्षा

शिक्षा की नई शक्तियाँ और साधन—भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना के साथ साथ शिक्षा सम्बन्धी नवीन भावनाएँ और नवीन शक्तियाँ भी आईं। पुरानी शिक्षा प्रणाली को फिर से नया स्वरूप देने के लिए नये साधन, नये सिद्धान्त, नये प्रकार और नये उद्देश्य आये। ब्रिटिश शासन की आवश्यकताओं, ईसाई पादरियों के उद्देश्यों और प्रयत्नों, नवीन संस्कृत और वैज्ञानिक शक्तियों की भारतवासियों द्वारा अंगीकृति और प्राचीन तथा पुनरुज्जीवित तत्वों तथा प्रणालियों के विरोध और अस्तित्व के कारण लोगों में ऐसी जाग्रति हुई जिसने शिक्षा सम्बन्धी विषयों में उनके समक्ष एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया।

ब्रिटिश शासक; उनकी आवश्यकताएँ और प्रयत्न—ब्रिटिश शासकों ने पढ़े लिखे और समझदार लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने और उन्हें सरकारी नौकरी में लगाने का विचार किया। उन्होंने ऐसे लोगों को अपने संरक्षण में लिया और उनकी शिक्षा पुनरुज्जीवित करके उन्हें अपने शासन की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया। विवादग्रस्त विषयों और मुकदमों आदि में जनता के व्यक्तिगत कानूनों आदि के सम्बन्ध में निर्णय करने, उनकी व्याख्या करने और उनका प्रयोग करने के लिए कानूनी अदालतों में पंडितों और मौलवियों की आवश्यकता हुई। जब तक ऐसे वर्गों के लोग नियुक्त न किये जाते और उन्हें काम करना न सिखलाया जाता, तब तक शासन का कार्य किफायत से नहीं हो सकता था। वह राजनीतिक आवश्यकता ही थी जिसने सरकार को

शिक्षा का काम अपने हाथ में लेने के लिए विवश किया था। शासन कार्यों के हित या सुभीते के विचार से अँगरेज़ी शिक्षा का प्रचार और फिर उनके द्वारा उसी उक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए इंजीनियरी, विज्ञान, चिकित्सा आदि के आरम्भिक ज्ञान का प्रसार भी आवश्यक था। सन् १७८२ में कलकत्ते में वारेन हेस्टिंग्स ने मुसलमानों के लिए एक मदरसा स्थापित किया। सन् १७९१ में बनारस में एक हिन्दू कालेज की स्थापना की गई। सन् १८१३ वाले चार्टर एक्ट के अनुसार देशी शिक्षा और पश्चिमी विज्ञानों को प्रोत्साहित करने के लिए कम्पनी एक लाख रुपये व्यय करने के लिए बाध्य हुई। परन्तु तब तक शिक्षा के उद्देश्य स्थिर नहीं हुए थे और ये सब फुटकर प्रयत्न थे।

ब्रिटिश शासकों के उद्देश्य—उस समय यह प्रश्न और विवाद उपस्थित हुआ था कि पौर्वात्य ज्ञानों और विद्याओं की शिक्षा दी जाय अथवा पाश्चात्य ज्ञानों और विद्याओं की। दोनों पक्षों के अच्छे अच्छे और योग्य समर्थक थे; और दोनों ही पक्षों की अनेक बातें मिथ्या और भ्रमात्मक थीं। उस समय मेकाले ने अपना प्रसिद्ध विवरण प्रस्तुत किया था, जिसकी कुछ बातें बहुत ही भद्दी और बुरी थीं। उसी विवरण में यह निर्णय किया गया था कि भारतवासियों को पाश्चात्य विद्याओं की शिक्षा दी जाय; और उसी समय से पौर्वात्य संस्कृति मानों पीछे ढकेल दी गई। उस समय सरकार केवल इसी उद्देश्य से शिक्षा का प्रचार करना चाहती थी जिसमें उसे दफ़्तरों में काम करनेवाले मुन्शी और कर्मचारी आदि मिल सकें, जो शासन कार्य को दृढ़ करने और सुचारु रूप से परिचालित करने में अच्छी सहायता कर सकें। अदालतों की भाषा अँगरेज़ी रखी गई। अँगरेज़ अफ़सर इस बात का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता चाहते थे कि इस देश के लोगों की इच्छाएँ और आवश्यकताएँ क्या हैं, उनमें कितनी बुद्धि है अथवा वे लोग अपने मन में क्या समझते और करते हैं। साधारण लोगों में शिक्षा और ज्ञान का प्रचार करने का उन्हें कोई ध्यान नहीं था। उनका उद्देश्य शुद्ध राजनीतिक था।

ईसाई पादरियों का उद्देश्य—जो ईसाई पादरी भारतवासियों को अपने धर्म में दीक्षित करना और उन नव-दीक्षित लोगों में शिक्षा का प्रचार करना चाहते थे, वे धार्मिक उद्देश्यों से प्रवृत्त होकर क्षेत्र में आये थे। पाश्चात्य शिक्षा

के वही सब से पहले प्रचारक थे और उन्होंने उच्च जातियों के नवयुवकों के मन में दुबधा उत्पन्न कर दी थी। प्राचीन व्यवस्था के सम्बन्ध में उन नवयुवकों के मन में जो आदर भाव था, वह उन लोगों ने नष्ट कर दिया था; और पाश्चात्य आगन्तुकों ने जिस नई व्यवस्था, नये जीवन और नये धर्म का प्रचार किया था, उसके प्रति उनमें चाह और प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी थी। इस देश के धार्मिक तथा सामाजिक व्यवहारों और संस्थाओं पर ईसाई पादरी प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण करते थे और उन्हें छल, अत्याचार तथा मिथ्या विश्वास कहते थे। वे लौकिक या सांसारिक शिक्षा देते थे और नई शासन व्यवस्था के सामने उन्होंने लोगों के मन में पुरानी शासन व्यवस्था के प्रति असन्तोष उत्पन्न कर दिया था। उन्होंने नये और उपयोगी पाश्चात्य विज्ञान तथा राजनीतिक ज्ञान का ईसाई धर्म के सिद्धान्तों और उपदेशों के साथ अयोग्य और मिथ्या रूप से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। राजनीतिक अधिकार भी ईसाइयों के ही हाथ में था, इसलिए उनके पादरियों को अपने प्रयत्नों में बहुत से सुभीते मिल गये। ज्यों ज्यों पादरी लोग बढ़ते और फैलते गये, त्यों त्यों भारत में ईसाई शासन की जड़ मज़बूत होती गई; और इसलिए शासक लोग उनका स्वागत और सत्कार करते गये। पादरी लोग अपने काम बहुत ही मनोयोग, परिश्रम तथा दूरदर्शितापूर्वक करते थे। देश के भिन्न भिन्न भागों में छोटी से छोटी जातियों तक में उन्होंने स्कूल, कालेज, अस्पताल, अनाथालय, दवाखाने और ईसाई संस्थाएँ स्थापित कीं। युरोप तथा अमेरिका के राज्य धन से उनकी यथेष्ट सहायता करते थे। उन्होंने देशी भाषाओं में शिक्षा देने और इस देश के लोगों की भाषाओं में अपने पवित्र ग्रन्थ प्रकाशित करने के प्रयोग करके देखे। सब से पहले उन्हीं लोगों ने देशी भाषाओं के छापेखाने और छपाई का काम आरम्भ किया, सभी जातियों के लोगों के लिए अपनी बहुत सी संस्थाएँ स्थापित करके छोटी जातियों के लोगों को शिक्षा दी और इस प्रकार जीवन के नये गुण और महत्व या उसके सम्बन्ध में एक नवीन स्वरूप सब लोगों के समक्ष उपस्थित करके उनमें जाग्रति उत्पन्न की और उनके पुराने भयंकर विचारों में परिवर्त्तन किया। जीवन, धर्म तथा समाज सम्बन्धी अपने नवीन विचारों और स्वयं अपने सद्गुणपूर्ण उदाहरणों आदि के द्वारा और नवदीक्षित ईसाइयों की अवस्था में बहुत कुछ सुधार

करके और भविष्य के लिए उन्हें बहुत कुछ आशाएँ दिलाकर उन्होंने सहज में बहुत से लोगों को ईसाई बना लिया, जिसके कारण सर्व साधारण की मानसिक अवस्था और शिक्षा में बहुत बड़ा परिवर्त्तन हो गया। बंगाल के ब्रिटिश इतिहास के आरम्भिक समय में श्रीरामपुर के कैरे, डफ तथा और बहुत से प्रसिद्ध ईसाई पादरी हो गये हैं। उन्होंने कई स्कूल स्थापित किये थे और अपने धर्म का अच्छा प्रचार किया था। सन् १८३० में राजा राममोहन राय की सहायता से डाक्टर डफ ने अँगरेज़ी भाषा के द्वारा साहित्य, विज्ञान और धर्म की शिक्षा देने के लिए एक स्कूल खोला। पादरियों ने भी पाश्चात्य शिक्षा-प्रचार के समर्थकों का पक्ष लिया और वे पाश्चात्य ज्ञान तथा संस्कृति के प्रचार पर जोर देने लगे। सन् १८२४ में बम्बई प्रान्त में शिक्षा के सम्बन्ध में एलिफिन्स्टन साहब ने अपना जो विवरण या सूचना प्रस्तुत की थी, उसमें भी उन्होंने पाश्चात्य विज्ञान के प्रचार का समर्थन किया था; पर फिर भी वे यह नहीं चाहते थे कि भारतीय साहित्य की उपेक्षा की जाय। शिक्षा प्रचार के लिए पेशवाओं ने जो दान दिया था, उससे सन् १८२१ में डेकन कालेज की स्थापना हुई।

बंगाल के आरम्भिक भारतीय कार्यकर्त्ता—राजा राममोहन राय ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने केवल ज्ञान के विस्तार की वास्तविक कामना से भारत में पाश्चात्य विद्याओं का प्रचार आरम्भ किया था। वे कई भाषाओं के बहुत अच्छे ज्ञाता और बड़े विद्वान् थे। उस समय हिन्दुओं के सामाजिक और धार्मिक व्यवहारों और रीतियों आदि पर जो आक्रमण या आक्षेप होते थे, और उस सम्बन्ध में जो विवाद चल रहे थे, उनमें उन्होंने योग दिया था। वे शुद्ध हृदय से यह चाहते थे कि इस समय हिन्दुओं में जो सामाजिक, धार्मिक और शिक्षा सम्बन्धी प्रणालियाँ प्रचलित हैं, उनमें से भिन्न भिन्न दोष निकल जायँ और वे शुद्ध हो जायँ। उन्होंने खूब अच्छी तरह यह समझ लिया था कि इस समय क्या क्या काम करने की आवश्यकता है और युरोपवालों के जो लोकोपयोगी विचार तथा विश्वास आदि हैं, उनसे क्या क्या लाभ हैं। वे अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा के पक्ष में थे; और हिन्दुओं के बालकों को युरोप तथा एशिया की भाषाओं तथा विज्ञानों की शिक्षा देने के लिए उन्हीं की प्रेरणा से सन् १८१७ में कलकत्ते में हिन्दू कालेज खुला था। उस कालेज ने कई ऐसे आदमी तैयार किये

थे जो आगे चलकर बंगाल के अच्छे समाज-सुधारक हुए थे। सन् १८२४ में वह कालेज कलकत्ते के प्रेसिडेन्सी कालेज में मिला दिया गया था।

बम्बई में—सन् १८२२ में नाना शंकर शेठ सरीखे नेताओं की प्रेरणा से बम्बई एजूकेशन सोसाइटी ने बम्बई में नेटिव स्कूल बुक्स एंड स्कूल कमेटी (Native School Books & School Committee) की स्थापना की। इसका उद्देश्य यह था कि स्कूलों में पढ़ाई जाने के योग्य अच्छी अच्छी पाठ्य पुस्तकें प्रस्तुत की जायँ और लोगों के स्वेच्छापूर्वक दिये हुए चन्दों की सहायता से देशी स्कूलों की स्थापना और सुधार किया जाय। सन् १८२० में एल्फिन्स्टन साहब की सरकार ने उसके लिए कुछ वार्षिक सहायता देना स्वीकृत किया। एल्फिन्स्टन साहब बम्बई के गवर्नर थे। सन् १८२७ में सर्व साधारण से चन्दे लेकर एल्फिन्स्टन फंड नामक एक निधि स्थापित की गई और उन्हीं गवर्नर साहब की स्मृति में अङ्गरेज़ी भाषा और युरोप की कलाओं, विज्ञानों तथा साहित्य की शिक्षा देने के लिए दो एल्फिन्स्टन प्रोफेसरियाँ स्थापित की गईं। सरकार ने भी उसकी सहायता के लिए प्रति वर्ष ४४००० रुपये देना स्वीकृत किया। सन् १८३२ में उसी ने बम्बई के एल्फिन्स्टन कालेज का रूप धारण कर लिया।

मद्रास में—मद्रास में अठारहवीं शताब्दी में पचैयप्पा ने जो बहुत बड़ी रक़म दान की थी, वह उस प्रेसिडेन्सी के भिन्न भिन्न भागों में शिक्षा सम्बन्धी संस्थाएँ स्थापित करने में लगाई गई; और अंगरेजी साहित्य तथा विज्ञान की प्रारम्भिक शाखाओं की शिक्षा देने के लिए सन् १८४२ में मद्रास नगर में एक स्कूल स्थापित किया गया।

सर्व साधारण की प्रेरणा से आरम्भ में जो प्रयत्न हुए थे, उनमें विदेशी भाषाओं की शिक्षा की उपेक्षा नहीं की गई थी। शिक्षा क्रम में बँगला, मराठी, तामिल और तेलगू को भी स्थान दिया गया था। नेताओं ने प्राचीन ज्ञान की भी आवश्यकता समझी थी और नवीन ज्ञान की उपयोगिता भी। भारतीय शिक्षा की प्रणालियाँ और उद्देश्य उन्होंने बहुत ही ठीक मार्ग पर चल कर निश्चित किये थे। पर आगे चल कर सभी बातों में बहुत अधिक अँगरेज़ीपन लाया

गया और सरकारी अफ़सरों का भी उन पर अधिकार बढ़ता गया, जिससे शिक्षा की व्यवस्था सम न रह सकी। आगे चल कर जो नई सरकारी योजना प्रस्तुत हुई, उसने शिक्षा की समस्त व्यवस्था की और फलतः देशी भाषा की शिक्षा की बहुत ही थोड़ी सहायता की और उन पर बहुत ही कम जोर दिया।

पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विद्याओं के सम्बन्ध में जो विवाद खड़ा हुआ था, वह सन् १८२३ से १८३५ तक अर्थात् बारह वर्ष तक चलता रहा; और अन्त में लार्ड विलियम बेंटिंक की अधीनस्थ भारत सरकार ने उस विवाद का निर्णय पाश्चात्य विद्याओं के पक्ष में किया।

नई शिक्षा का प्रभाव—इस नई शिक्षा का यह प्रभाव पड़ा कि लोग नये विचारों तथा संस्थाओं के प्रशंसक और भक्त बन गये और पुराने विचारों तथा संस्थाओं से असन्तुष्ट होने लगे। इस नई शिक्षा ने लोगों का मन राजनीतिक स्वतन्त्रता से हटा दिया और उन्हें सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में विद्रोही बना दिया। वे लोग अंगरेज़ी आदर्शों तथा ढंगों का अनुकरण करने लगे। परन्तु उसका एक अच्छा प्रभाव भी अवश्य हुआ। भिन्न भिन्न परस्पर विरोधी विचारों और रीति-रवाजों में फँसे हुए भारतवासियों के मन इस शिक्षा से कुछ ठिकाने आ गये और वे युक्ति तथा बुद्धि की सहायता से सब बातों पर विचार करना सीखने लगे। पहले लोग सभी भली बुरी बातों पर सहज में विश्वास कर लिया करते थे और उनके मस्तिष्क तक युक्ति, उपयोगिता या उन्नति का कुछ भी प्रकाश नहीं पहुँचने पाता था। परन्तु अब उनके उस प्रकार के विश्वास की जड़ हिल गई थी और कुछ बड़े बड़े लोगों के मन अपनी प्राचीन बातों का सिंहावलोकन करने, वर्तमान का महत्व समझने और भविष्य की कल्पना करने के लिए स्वतन्त्र हो गये थे। उस समय भारत के लिए इस बात की बहुत अधिक आवश्यकता थी कि उसकी सब बातों का फिर से उद्धार हो, उनमें सुधार किये जायँ और उनका पुनर्घटन किया जाय। यदि केवल पुरानी व्यवस्था का ही रोना रोया जाता, तो सब बातें जहाँ की तहाँ रुक जातीं या सड़ कर नष्ट होने लगतीं। केवल नवीन व्यवस्था का गान ही लोगों में नवीन जीवन का संचार कर सकता था, वही उनका वैभव और कीर्त्ति फिर से स्थापित कर सकता था और नये आधार पर वही उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान कर सकता था।

दो प्रकार के अधिकारी—अधिकारियों में दो प्रकार के विचारवाले लोग थे। जिन लोगों को अपने शासन की उत्तमता और श्रेष्ठता पर विश्वास था, वे नई शिक्षा और उसके प्रसार की हिमायत करते थे। पर जो लोग यह जानते थे कि हमारे शासन में क्या अन्याय अथवा अनौचित्य है और राजनीतिक दृष्टि से उसमें क्या त्रुटियाँ हैं, वे कहते थे कि या तो लोगों को अज्ञान ही रहने दिया जाय और या उसी पुरानी व्यवस्था को प्रचलित रहने दिया जाय जो लोगों को अपने पुराने ढर्रे पर रखती थी।

१. अँगरेज़ी ढंग सम्बन्धी नीति—शासन सम्बन्धी आवश्यकताओं के कारण सन् १८३५ में इस बात पर बहुत ज़ोर दिया जाने लगा कि शिक्षा बिलकुल अंगरेज़ी में हो और अंगरेज़ी ढंग पर ही दी जाय। अंगरेज़ी सरकारी भाषा बना दी गई और लार्ड हार्डिंज के सन् १८४४ वाले निश्चय के अनुसार केवल अंगरेज़ी जाननेवाले उम्मेदवार ही सरकारी नौकरियों के लिए चुने जाने लगे। उच्च कोटि की शिक्षा अथवा देशी भाषाओं की उन्नति को कोई वास्तविक प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। ज्ञान के रस रसकर फैलने का सिद्धान्त ग्रहण किया गया। इस सिद्धान्त का यही आशय था कि केवल कुछ थोड़े से आदमियों को अंगरेज़ी भाषा के द्वारा शिक्षा दी जाय, और सर्वसाधारण में देशी भाषाओं के द्वारा अंगरेज़ी भाव फैलाने का काम उन्हीं लोगों पर छोड़ दिया जाय। इस प्रकार अंगरेज़ी विचार थोड़े से लोगों में से निकल कर धीरे धीरे रस रसकर आप ही सब लोगों तक पहुँच जायँगे।

रसने का सिद्धान्त

इस नई शिक्षा के फल पहले पहल बंगाल में देखने में आये थे। वहाँ के लोग अपने रंग ढंग और विचारों में अंगरेज़ीपन के समर्थक और भारतीयता के विरोधी हो गये थे और सरकारी नौकरियाँ पाने के लिए बहुत उत्सुक हो रहे थे। जब यह अवस्था उत्पन्न हुई, तब नई शिक्षा प्रणाली के मि० ट्रेवेलियन सरीखे समर्थक यह कहने लगे कि अंगरेज़ी साहित्य का मूल भाव अंगरेज़ी सम्बन्ध के अनुकूल होगा; क्योंकि हम्हीं लोगों के ढंग की शिक्षा पाने, हमारे ही उद्देश्य के साधन में अपना हित समझने और हमारे सरीखे कार्यों में ही लगे रहने के कारण लोग हिन्दू होने की अपेक्षा अधिक अंगरेज़ हो गये हैं। (सन् १८५३)

इस प्रकार जब यह देखने में आया कि पौर्वात्य शिक्षा का प्रचार और भारतीय भाषाओं की उन्नति करने से लोगों के मन में अनुदारता या संकीर्णता और विद्रोह का भाव आ जायगा, तब बेंटिंक आदि कुछ लोगों ने अंगरेज़ी भाषा के द्वारा युरोपीय साहित्य और विज्ञान की उन्नति तथा प्रचार करने का समर्थन किया और आज्ञा दे दी कि शिक्षा विभाग का सारा धन केवल इसी के लिए व्यय किया जाय। मेकाले ने लिखा था—"हम लोगों को यथा साध्य एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए जो हम लोगों और हमारे द्वारा शासित करोड़ों आदमियों के मध्य में दुभाषियों का काम कर सके—ऐसे लोगों का एक वर्ग उत्पन्न करना चाहिए जो रक्त और वर्ण के विचार से तो भारतीय हों, पर अपनी रुचि, विचारों, बातों और बुद्धि के विचार से अंगरेज़ हों।" इसका परिणाम यह सोचा गया था कि शिक्षित लोगों में और उनके प्रभाव से सर्व साधारण में भी ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति के भाव उत्पन्न होंगे और वे क़ानून द्वारा संघटित सरकार के प्रशंसक और भक्त बन जायँगे।

२. शिक्षा को सरकारी बनाने की नीति; १८५४ का खरीता—

सन् १८५४ तक न तो उच्च कोटि की और न निम्न कोटि की शिक्षा के सम्बन्ध में किसी अच्छी व्यवस्था या सिद्धान्त का विकास हुआ था। अफ़सरों में आपस में तर्क वितर्क चल रहा था। जनता में से कुछ अच्छे और नेता लोग ही कुछ आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे और शिक्षा का मार्ग निर्धारित करने के लिए एक उपयुक्त प्रणाली और सिद्धान्तों का स्वरूप प्रस्तुत कर रहे थे। सर चार्ल्स वुड ने सन् १८५४ में एक ख़रीता तैयार किया था जिसमें कुछ उद्देश्य निश्चित किये गये थे। इन उद्देश्यों का मुख्य आशय यह था कि उपयोगी ज्ञान के सार्वजनिक प्रचार से जो बहुत बड़े बड़े नैतिक तथा भौतिक लाभ और सुख होते हैं, उनसे भारतवर्ष के निवासियों को लाभान्वित तथा सुखी किया जाय। परन्तु उस समय शिक्षा के जो उद्देश्य आदि थे और आरम्भ में शिक्षा के जो ढंग रखे गये थे या उनके सम्बन्ध में जो वाद विवाद हुए थे, उनमें शिक्षा का यह उद्देश्य कभी मान्य नहीं किया गया था कि भारत को पढ़ा लिखाकर स्वराज्य के योग्य बनाया जायगा। हाँ मनरो और मेकाले ने यह शुभ आशा प्रकट की थी कि भारत में अंगरेज़ी शासन और शिक्षा का अप्रत्यक्ष रूप से यह फल हो सकता है कि

भारतवासी स्वराज्य माँगने लगें। परन्तु उस समय की योजनाओं या सूचनाओं में न तो कभी इस बात की इच्छा प्रकट की गई थी और न यह उद्देश्य ही रखा गया था।

भारतवासियों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और नैतिक उन्नति करने का कोई शुभ नैतिक उद्देश्य नहीं था। वह केवल ऐसी शुद्ध लौकिक शिक्षा थी जो लोगों को सरकारी नौकरी के योग्य बना सकती थी और न्याय की व्यवस्था तथा चिकित्सा सम्बन्धी सहायता के लिए लोगों को कुछ पश्चिमी पेशों में लगा सकती थी। विज्ञान और शिल्प सम्बन्धी ज्ञान और शिक्षा की उपेक्षा की गई थी।

सन् १८५४ के बाद जिस प्रणाली का विकास हुआ, उसमें सब स्कूल, कालेज और परीक्षाएँ सरकारी नियन्त्रण में आ गई थीं। अब सरकारी कर्मचारी ही इन सब का निरीक्षण करते हैं और उनसे अपने शिक्षा सम्बन्धी नियमों का पालन कराते हैं; और ये सब नियम सरकारी सहायता, मान्यता, पाठ्य क्रम, पाठ्य पुस्तकों, आवश्यक सामग्री, नियुक्तियों और संघटन के सम्बन्ध में होते हैं।

सरकार ने अपने नियन्त्रण में विश्वविद्यालय स्थापित किये हैं और वही उनकी नीति तथा विकास का परिचालन करती है। कालेजों का सारा प्रबन्ध या तो सरकार के हाथ में है; और या कुछ ऐसे कालेज हैं जिन्हें सरकार अंशतः मान्य करती और कुछ विशेष बन्धनों में रखकर जिनकी सहायता करती है।

इस नीति के फल—स्कूलों की भी यही अवस्था है। इस प्रकार भारत में शिक्षा के विकास का जो समस्त इतिहास है, उसमें दो ही बातें मुख्य रूप से देखने में आती हैं। एक तो यह है कि शिक्षा बिलकुल अंगरेज़ी कर दी गई है और दूसरे यह कि उसे सरकार ने पूरी तरह से अपने हाथ में कर रखा है। ये बातें बहुत भयंकर प्रमाणित हुई हैं और इनसे लोगों के व्यक्तिगत प्रयत्नों तथा शिक्षा सम्बन्धी बातों की स्वतन्त्रता में बहुत बाधा पहुँची है। उसका बहुत अधिक केन्द्रीकरण हुआ है। उस पर नियन्त्रण की मात्रा भी बहुत बढ़ गई है और स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में एक विलक्षण प्रकार का सरकारीपन आ गया है और वहाँ शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में वह व्यक्तिगत सम्बन्ध और विश्वास नहीं उत्पन्न होने पाया

है, जो उत्पादक मनों की स्वतन्त्र और पूर्ण अभिव्यक्ति का विकास करता है। धर्म की उपेक्षा होने के कारण कोई प्रतिबन्धक, चरित्र बनानेवाली और नैतिक शक्ति नहीं रह गई है। सारी शिक्षा केवल अँगरेज़ी के ही द्वारा दी जाती है। इससे केवल मौलिकता ही नहीं रुक गई है, बल्कि सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रचार होने में और उनकी मातृभाषाओं तथा साहित्यों की उन्नति होने में भी बहुत बाधा हुई है। इस प्रणाली ने लोगों के सामने कोई ऐसा क्षेत्र नहीं रखा है जिसमें उनके विचारों और भावों का स्वाभाविक रूप से विकास और प्रसार हो सके। पहले यह समझा गया था कि पढ़े लिखे लोगों में से ज्ञान रस रस कर सर्वसाधारण तक पहुँचेगा। परन्तु यह विचार बहुत ही संकीर्ण था। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यह है कि मनुष्य का व्यक्तित्व सीधे उसके अन्तर से उद्भूत किया जाय। पर इस उद्देश्य की उपेक्षा की गई थी। नये शिक्षित लोगों और सर्वसाधारण में बहुत ही थोड़ा मानसिक सम्बन्ध था। स्वयं शिक्षा भी अधिकांश में केवल पुस्तकों की थी, तनिक भी व्यवहारिक नहीं थी और उसका सारा आधार बहुत अधिक रटाई पर ही था। किसी विषय की विशिष्ट रूप से शिक्षा नहीं दी जाती; और जिन विषयों का अध्ययन होता है, स्वयं वे विषय भी न तो जीवन की भिन्न भिन्न आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखते हैं और न उनसे उन आवश्यकताओं की पूर्ति ही होती है। तात्पर्य यह कि यह शिक्षा केवल विदेशी सरकार की आवश्यकताओं का ही ध्यान रखती है और एक उन्नतिशील राष्ट्र की स्थायी आवश्यकताओं की ओर उसका कुछ भी ध्यान नहीं है।

मनुष्य की जो शक्ति नवीन बातों की सृष्टि करती है, उसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। हाँ केवल नकल करनेवाले लोग तैयार हो गये हैं। परन्तु इस प्रकार के लोग सदा दूसरों के आश्रित रहते हैं और बिना किसी विरोध के हर काम करने और बात मानने को तैयार हो जाते हैं। ऐसे लोग राष्ट्र का निर्माण करने में कुछ भी सहायता नहीं दे सकते। लोगों तक स्वतंत्रता और प्रजातन्त्र के विचार अप्रत्यक्ष रीति से पहुँचे हैं; क्योंकि इस समय संसार का सारा वातावरण ही ऐसा हो रहा है। यह परिस्थिति भिन्न भिन्न देशों के स्वतंत्र समाचारपत्रों और अच्छे अच्छे व्यक्तियों ने उत्पन्न की है; और इस देश के

बड़े बड़े पुरुषों ने कोमल अथवा कठोर दमन का कष्ट भोगकर भी स्वतन्त्रता के लिए युद्ध आरम्भ किया और अब तक उसे प्रचलित रखा है। परन्तु आजकल शिक्षा की जो प्रणाली प्रचलित है, वह साहस, स्वतन्त्र विचार, मौलिकता और स्वतन्त्रता आदि की न तो सृष्टि करती है और न उन्हें विकसित होने का अवकाश देती है। हाँ इस देश में कुछ राष्ट्रीय आन्दोलन और संस्थाएँ आदि तथा कुछ दूसरी ऐसी शक्तियाँ हैं जिन्होंने इन सद्गुणों को बनाये रखा है और प्रोत्साहन दिया है।

सार्वजनिक शिक्षा की उपेक्षा—सर्वसाधारण के लिए अनिवार्य और निःशुल्क आरम्भिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है और न स्त्रियों के शिक्षा के लिए ही कोई ख़ास सुभीता उत्पन्न किया गया है। पद-दलित जातियों की शिक्षा का भी कोई प्रबन्ध नहीं है।

वुड के सन् १८५४ वाले खरीते में यह बात मान ली गई थी कि सरकार का कर्त्तव्य देश के समस्त निवासियों को शिक्षित बनाना है। उसमें यह प्रस्ताव किया गया था कि शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए एक स्वतन्त्र विभाग स्थापित किया जाय, प्रेसिडेन्सी नगरों (अर्थात् कलकत्ते, बम्बई और मद्रास) में विश्वविद्यालय स्थापित किये जायँ, समस्त जातियों और वर्गों के लोगों की शिक्षा के लिए स्कूल और कालिज स्थापित किये जायँ, इस समय जितने सरकारी कालेज और हाई स्कूल हैं, वे जारी रखे जायँ और उनकी संख्या बढ़ाई जाय, नये मिडिल स्कूल स्थापित किये जायँ, प्रारम्भिक शिक्षा का प्रचार करने के लिए वर्नाक्युलर स्कूलों की वृद्धि पर और अधिक ध्यान दिया जाय और प्राइवेट स्कूलों को सरकार की ओर से आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की जाय।

इसकी उन्नति—यह कहा गया था कि निम्न कक्षाओं में देशी भाषाओं के द्वारा शिक्षा दी जाय और उच्च कक्षाओं में अङ्गरेज़ी भाषा के द्वारा। यह भी मान लिया गया था कि स्त्रियों को भी शिक्षा देना आवश्यक है। सरकार उसका समर्थन और सहायता करेगी। सार्वजनिक शिक्षा के विभाग स्थापित किये गये और आरम्भिक तथा परवर्त्ती (Secondary) शिक्षा को प्रोत्साहित करने

के लिए उसमें बहुत से कर्मचारी नियुक्त किये गये। सन् १८५७ में बम्बई, कलकत्ता और मदरास के विश्वविद्यालय स्थापित किये गये और सन् १८८२ में पञ्जाब का तथा १८८७ में प्रयाग का विश्वविद्यालय बना। १८८२ में प्रायः साढ़े बाईस लाख विद्यार्थी शिक्षा पा रहे थे।

पुराने विश्वविद्यालय

शिक्षा का सरकार द्वारा मान्य, उद्देश्य और क्षेत्र कितना ही संकुचित क्यों न हो, परन्तु जन साधारण ने प्राप्त अवसरों से पूरा पूरा लाभ उठाया था। सन् १८८२ में शिक्षा सम्बन्धी बातों की जाँच करने के लिए एक एजूकेशन कमीशन (Education Commission) बैठा था जिसके प्रधान सर विलियम हन्टर थे। उसने इस बात पर ज़ोर दिया था कि सरकार आरम्भिक शिक्षा का काम अपने हाथ में ले और प्राइवेट स्कूलों को सहायता देने की प्रणाली का अनुसरण करते हुए उच्च शिक्षा सम्बन्धी लोगों के निजी प्रयत्नों में उन्हें प्रोत्साहित करे। सन् १९०१ में लार्ड कर्जन ने युनिवर्सिटी कमीशन (University Commission) नियत किया और उस कमीशन की सिफारिश के अनुसार सन् १९०४ में युनिवर्सिटी एक्ट (University Act) पास हुआ। उसने विश्वविद्यालयों पर सरकार का शासन और भी दृढ़ कर दिया और साथ ही स्कूलों और कालेजों पर विश्वविद्यालयों का निबन्त्रण भी और बढ़ा दिया। सारी शिक्षा सरकारी अफसरों के अधिकार में चली गई और उनके पूर्ण रूप से सरकारी विभाग बन गये। शिक्षा देने के प्रत्येक कार्य, सरकार की स्वीकृति से प्रोफेसरों और व्याख्याताओं (Lecturer) की नियुक्ति और प्रयोगशालाओं तथा अद्भुत पदार्थ संग्रहालयों आदि की स्थापना और वृद्धि का अधिकार विश्वविद्यालयों को दे दिया गया। विश्वविद्यालयों की देशों या प्रान्तों के विचार से सीमाएँ और क्षेत्र निश्चित कर दिये गये। स्कूलों और कालेजों आदि को मान्य और विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध करने के लिए शर्तें और नियम बना दिये गये। विश्वविद्यालय द्वारा कालेजों के निरीक्षण की प्रथा चली। सिनेट और सिंडिकेट के सदस्यों की संख्या निश्चित हुई और सरकार द्वारा नियुक्त सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई। पहले लोग सिनेट के आजीवन सदस्य रहा करते थे; पर अब उसके स्थान पर उनका कार्य-काल पाँच वर्ष नियत किया गया।

विश्वविद्यालय केवल कालेजों को सम्बद्ध करनेवाले (Affiliating University) हो गये और यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक विश्वविद्यालय की जो अधिकार-सीमा निश्चित है, उसके अन्दर जितने कालेज हों, उन सब को वह अपने साथ सम्बद्ध कर सकता है।

शिक्षा की बढ़ती हुई आवश्यकताओं का विचार करके सन् १९११ में गवर्नर जनरल की कौंसिल में एक नया शिक्षा सदस्य नियुक्त किया गया।

नये विश्वविद्यालय—भिन्न भिन्न प्रान्त और हिन्दू तथा मुसलमान भी अपने अपने विश्वविद्यालय स्थापित करना चाहते थे और उनकी माँग बढ़ रही थी। अतः सरकारी एक्टों के अनुसार पटना, लखनऊ, रंगून, ढाका, दिल्ली, नागपुर, आगरा, बनारस और अलीगढ़ तथा मैसूर और हैदराबाद में भी नये विश्वविद्यालय बने। इस समय लोग चाहते हैं कि प्रान्तों का विभाग उनमें बोली जानेवाली भाषाओं के अनुसार हो; इसलिए आन्ध्र देश में भी एक विश्वविद्यालय स्थापित हुआ है। गुजरात, कर्नाटक, महाराष्ट्र, सिन्ध, राजपूताना, तामिल देश तथा अन्यान्य केन्द्रों में भी वहाँ के लोग विश्वविद्यालय स्थापित कराना चाहते हैं।

पहले केवल कालेजों को सम्बद्ध करने और परीक्षाएँ लेनेवाले विश्वविद्यालय हुआ करते थे; पर अब जो नये ढंग के विश्वविद्यालय बने हैं, वे विद्यार्थियों को अपने यहाँ रखकर शिक्षा देनेवाले हैं और आजकल इसी ढंग के विश्वविद्यालय अधिक हैं। ढाका, प्रयाग, लखनऊ, बनारस और अलीगढ़ के विश्वविद्यालय इस नये ढंग के उदाहरण हैं; और बम्बई, कलकत्ता, मदरास, नागपुर, आगरा, लाहौर तथा दूसरे स्थानों के विश्वविद्यालय उसी पुराने ढंग के हैं। पुराने विश्वविद्यालय अधिकांश में सरकारी अधिकारियों के हाथ में हैं और नये विश्वविद्यालय अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र और जनता के हाथ में हैं।

कलकत्ता युनिवर्सिटी कमीशन—सन् १९१७ में कलकत्ता युनिवर्सिटी कमीशन (Calcutta University Commission) नियुक्त हुआ था। उसकी रिपोर्ट सन् १९१९ में प्रकाशित हुई थी। सर माइकेल सैडलर उसके प्रधान थे। उस कमीशन ने सिफारिश की थी कि बंगाल में उच्च शिक्षा का

फिर से संघटन किया जाय। यह भी सिफारिश की गई थी कि विश्वविद्यालय से अलग सेकेंडरी स्कूल एंड इन्टरमीडियट कालेज बोर्ड (Secondary School and Intermediate College Board) स्थापित किया जाय जो सेकेंडरी और इन्टरमीडियट शिक्षा का प्रबन्ध करे। सैडलर कमेटी की सिफारिशों के अनुसार पुराने विश्वविद्यालयों के संघटन में कुछ सुधार किया जा रहा है। नये विश्वविद्यालय ढाके के विश्वविद्यालय के ही ढंग पर बने हैं और उनमें विद्यार्थी लोग रहकर शिक्षा प्राप्त करते हैं।

मन्त्रीगण और शिक्षा—सन् १९१९ के सुधारों के अनुसार अब शिक्षा विभाग की व्यवस्था मंत्रियों या मिनिस्टरों के हाथ में हो गई है। वे व्यवस्थापिका सभाओं के प्रति उत्तरदायी होते हैं। परन्तु एक तो धन का अभाव है और दूसरे नये कर लगाने के लिए कौंसिल से पूरी पूरी सहायता नहीं मिलती; इसलिए शिल्प सम्बन्धी निम्न अथवा उच्च शिक्षा या पेशों और साहित्य की शिक्षा की योजनाओं आदि का काम जितना आगे बढ़ना चाहिए, उतना आगे नहीं बढ़ता।

९-राष्ट्रीय शिक्षा

सर्व साधारण की शिक्षा सम्बन्धी जो आवश्यकताएँ थीं, वे पूरी नहीं हुईं। राजकीय प्रणाली से उनका काम नहीं चला और उस प्रणाली में बहुत बड़े बड़े दोष भी थे। इन सब कारणों से लोगों के सामने राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या उपस्थित हुई। इन प्रणालियों को प्रचलित करनेवाले लोगों के आदर्शों और विचारों के भेद के अनुसार ही उन योजनाओं तथा सिद्धान्तों में भी अन्तर दिखलाई देते हैं, जिनका राष्ट्रीय शिक्षा की प्रणालियों के सम्बन्ध में प्रस्ताव और पालन किया जाता है।

भिन्न भिन्न विचार और उनके प्रवर्त्तक—कुछ लोग तो गुरुकुलों और आश्रमोंवाली पुरानी प्रणाली का पुनरुद्धार करना चाहते थे; और इस प्रकार का एक मुख्य गुरुकुल स्वामी श्रद्धानन्द जी का स्थापित किया हुआ हरद्वार में है। कुछ लोग यह चाहते थे कि शिक्षा में पड़नेवाला व्यय कम कर

दिया जाय और उसकी सारी व्यवस्था अपने हाथ में रखी जाय। पर साथ ही वे लोग यह भी मानते थे कि सरकार से अपने विद्यालयों को मान्य और सम्बद्ध करा लिया जाय, उससे आर्थिक सहायता ली जाय और उसके नियमों आदि का पालन किया जाय, पर सरकारी पाठ्यक्रम न रखा जाय। इस प्रकार की संस्थाओं में पूने की डेकन एजूकेशन सोसाइटी (Deccan Education Society) है। कुछ लोग ऐसे भी थे जो सभी विषयों में सरकारी सम्बन्ध और नियन्त्रण से अलग तथा स्वतन्त्र रहना चाहते थे और प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों के ही उच्च आदर्शों तथा प्रणालियों के आधार पर एक नवीन प्रणाली इस उद्देश्य से प्रचलित करना चाहते थे जिसमें आजकल की भारतीय आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। इस कोटि में बंगाल और महाराष्ट्र के राष्ट्रीय शिक्षा के आन्दोलन आते हैं। आगे चलकर असहयोग के दिनों में भी इसी प्रकार के आन्दोलन उठे थे, जिनके फल स्वरूप गुजरात, महाराष्ट्र, युक्त प्रान्त, बिहार और बंगाल में प्रान्तीय भाषाओं के आधार पर विद्यापीठ या विश्वविद्यालय स्थापित हुए थे और सारे भारत में भिन्न भिन्न स्थानों में कालेज और स्कूल खुले थे। डा० एनी बेसेन्ट का राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी आन्दोलन भी इसी प्रकार का था।

इसके सिवा कुछ ऐसे स्कूल और कालेज भी हैं जो ब्रह्म समाज, आर्य समाज और थियासोफिकल सोसाइटी सरीखे सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों के कारण और उनके सम्बन्ध में स्थापित हुए हैं। वे अपनी संस्थाओं में अपने अपने समाज के विचारों का प्रचार और प्रवर्त्तन करते हैं; परन्तु परीक्षा, पाठ्यक्रम और आर्थिक सहायता आदि के लिए उन्हें सम्बद्ध करा के सरकारी प्रणाली के साथ पूरा पूरा सम्बन्ध रखते हैं।

इसके उपरान्त भिन्न भिन्न धर्मों के नेताओं द्वारा स्थापित संस्थाएँ आती हैं. जैसे सर सैयद् अहमद् द्वारा स्थापित अलीगढ़ कालेज (जो अब मुस्लिम युनीवर्सिटी बन गया है) और पण्डित मदनमोहन मालवीय द्वारा स्थापित काशी का हिन्दू विश्वविद्यालय। ये संस्थाएँ मुसलमानों और हिन्दुओं की संस्कृति सम्बंधी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए बनी हैं। इसी प्रकार का सिक्खों का (अमृतसरवाला) खालसा कालेज भी है। इन सब ने सरकार के

साथ अपना सम्बंध रखा है और इनका संघटन इनके एक्टों के अनुसार हुआ है। इनके कामों में सरकार का कुछ अंशों में हस्तक्षेप या अधिकार रहता है। डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर का विश्व भारती नामक विश्वविद्यालय राष्ट्रीय होने की अपेक्षा अधिक सार्वभौमिक है और वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। सरकार का उस पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं है। उसके आदर्श केवल लोकोपकार से सम्बंध रखते हैं।

इनकी मुख्य विशेषताएँ—ये सभी संस्थाएँ और इनसे कम प्रसिद्ध संस्थाएँ अपने आपको राष्ट्रीय कहती हैं। इन्होंने भारतीय शिक्षा की उन्नति के लिए जो अच्छे काम किये हैं, उनमें से मुख्य ये हैं—

(१) सरकारी शासन और नियन्त्रण से मुक्त होना चाहिए; क्योंकि उससे केवल एक विशेष प्रकार के राजनीतिक भावों और विचारों का विकास होता है; और इसी लिए उसके द्वारा मनुष्य के नैतिक व्यक्तित्व का पतन या ह्रास होता है।

(२) यह बात मान ली जाय कि स्कूलों और कालेजों में धार्मिक भावों तथा नैतिक बातों की भी शिक्षा देने की आवश्यकता है।

(३) जीवन के देशहितैषिता सम्बंधी जो भाव और आदर्श हैं, उनका निर्वाह किया जाय जिससे लोगों में सेवा और स्वार्थत्याग के गुण उत्पन्न हों।

(४) भारतीय सर्वश्रेष्ठ संस्कृति पर ज़ोर दिया जाय और आजकल जो सर्वोच्च राजनीतिक तथा सामाजिक आदर्श माने जाते हैं, वे गृहीत हों।

(५) विद्यार्थियों के शरीर की गठन अच्छी बनाने का ध्यान रखा जाय, उन्हें अपने मन और विचारों को वश में रखना सिखाया जाय और शारीरिक व्यायाम अनिवार्य तथा आवश्यक कर दिया जाय।

(६) शिक्षा मातृभाषा के द्वारा दी जाया करे और उच्च कोटि के सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक कार्यों के लिए देशी भाषाओं की उन्नति की जाय।

(७) पेशों और शिल्पों की शिक्षा आवश्यक मान ली जाय जिसमें जनता के आर्थिक कल्याण के लिए भिन्न भिन्न कलाओं और शिल्पों में लोग अच्छी तरह लग सकें।

(८) पक्के ब्रह्मचर्य, सादे वस्त्र और भोजन, स्वास्थ्य-रक्षा, स्वच्छता और मन, वचन तथा कर्म को वश में रखने पर जोर दिया जाय।

उक्त संस्थाओं में यही सब भाव देखने में आते हैं और इन्हीं के अनुसार काम होता है; इसलिए उनसे भारतीय साहित्यों और भाषाओं की उन्नति तथा वृद्धि होने में सहायता मिली है; और इन संस्थाओं ने कुछ ऐसे मनुष्य उत्पन्न किये हैं जो दृढ़, स्वतन्त्र, स्वार्थत्यागी और कुछ नई बातें तथा मार्ग निकालने-वाले हैं। इन संस्थाओं के कारण उन लोगों के मन में स्वयं अपनी संस्कृति और अपनी योग्यताओं पर विश्वास उत्पन्न हुआ है और उनसे देश के राज-नीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक पुनरुद्धार के आन्दोलनों में सहायता मिली है। जो राजकीय प्रणाली शिक्षा को बिलकुल अङ्गरेज़ी ढङ्ग पर लाना चाहती है, उस पर सरकारी अफ़सरों का नियन्त्रण बढ़ाना चाहती है और अपनी दृष्टि संकुचित रखती है, उस पर भी अप्रत्यक्ष रूप से इसका बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। शिक्षा के सम्बन्ध में जो नये और आवश्यक विचार हैं, उनकी परीक्षा और विकास करने के लिए राष्ट्रीय शिक्षा के आन्दोलन का बहुत कुछ महत्व है। यदि यह आन्दोलन न होता और इसका ज़ोर न पड़ता, तो भारतीय शिक्षा को बहुत कुछ हानि उठानी पड़ती।

सन् १९२१ में समस्त ब्रिटिश भारत की आबादी २४ करोड़ ७० लाख थी और इसमें से केवल २ करोड़ २६ लाख आदमी पढ़े लिखे थे। इनमें से १ करोड़ ९८ लाख पुरुष और २० लाख ८० हज़ार स्त्रियाँ थीं। सन् १९२६ में १ करोड़ ५१ लाख विद्यार्थी किसी न किसी प्रकार की शिक्षा पाते थे। सारी आबादी को देखते हुए इसका अनुपात प्रति सैकड़े ४·२५ पड़ता है। ७८ लाख विद्यार्थी प्राइमरी स्कूलों में, १७ लाख २० हज़ार सेकेन्डरी स्कूलों में, २ लाख ९० हज़ार स्पेशल स्कूलों में, ८० हज़ार विश्वविद्यालयों में और ६२ लाख विद्यार्थी ऐसी संस्थाओं में शिक्षा पाते थे जो सरकार द्वारा मान्य और सम्बद्ध (Affilliated) नहीं थीं। प्राइमरी स्कूलों के बहुत ही थोड़े विद्यार्थी सेकेन्डरी स्कूलों में जाते हैं। प्राइमरी स्कूल छोड़ते समय ही वे सब कुछ पढ़ा लिखा भूल जाते हैं। इसलिए सर्वसाधारण में पढ़े लिखे लोगों की संख्या बहुत ही थोड़ी, प्रायः नहीं के समान है।

सन् १६२६ में १८३१६४ प्राइमरी स्कूल, १०८३७ सेकेन्डरी स्कूल और ३०३ कालेज थे। उस वर्ष कालेजों में ८७ हज़ार ६ सौ विद्यार्थी थे जिनमें से ७० हज़ार तो आर्ट और साइन्स के कालेजों में थे और ८ हज़ार से ऊपर क़ानून पढ़ रहे थे। केवल ६ हज़ार ५ सौ विद्यार्थी ऐसे थे जो डाक्टरी, इंजीनियरी, व्यापार और अध्यापन की शिक्षा पा रहे थे; ६४१ विद्यार्थी कृषि विद्या सीख रहे थे और केवल ११६ आदमी महकमा जंगलात का काम और २७२ आदमी पशु-चिकित्सा सम्बन्धी विज्ञान सीख रहे थे। कालेजों में पुरुष विद्यार्थी ८६१७७ और स्त्रियाँ १४१२ थीं। १४ लाख बालिकाएँ प्राइमरी स्कूलों में और १ लाख ७४ हज़ार सेकेन्डरी विद्यालयों में थीं।

प्रति १३ हिन्दुओं में केवल एक आदमी पढ़ा लिखा है। पुरुषों में शिक्षितों का अनुपात प्रति ८ में एक और स्त्रियों में प्रति ६३ में एक है। प्रति ११ मुसलमान पुरुषों में एक पुरुष और ११६ स्त्रियों में एक स्त्री ऐसी है जो पढ़ लिख सकती है।

आठवाँ परिच्छेद

ज्ञानमय जीवन

यह अधिकांश में हिन्दू प्रतिभा का विकास है—भारत का ज्ञानात्मक जीवन अधिकांश में हिन्दू प्रतिभा की अभिव्यक्ति है। इंडो-आर्यन् या भारतीय आर्यों ने हिन्दू ज्ञानमय संस्कृति की सृष्टि की थी। यद्यपि उसमें कुछ सहायक स्रोत या शाखाएँ भी मिली हुई हैं, परन्तु जिस मुख्य प्रवाह ने भारत में अपने इतिहास का मार्ग प्रस्तुत किया है, वह आर्य या हिन्दू मन या मस्तिष्क से ही निकला है। बाहर से आकर उसमें जो गौण तत्व और प्रभाव सम्मिलित हुए, वे मुसलमानों और युरोपियनों के सम्बन्ध से उद्भूत हैं। साधारणतः किसी समाज या जाति के ज्ञानमय जीवन की अभिव्यक्ति उसके साहित्य के भिन्न भिन्न रूपों और ज्ञान सम्बन्धी संस्थाओं के कार्यों और अवस्थाओं में होती है। साहित्य के अनेक रूप होते हैं; जैसे काव्य, गद्य, दर्शन, इतिहास, समाज तथा शिल्प सम्बन्धी शास्त्र और धार्मिक विवेचन या मीमांसाएँ आदि। साहित्य के नइ विभिन्न रूपों में मनुष्य के मन का ऐसा प्रतिबिम्ब होता है जो ज्ञान तथा मनोविकारों के समस्त बल तथा विलक्षणताओं से युक्त होता है। भारतीय मानसिक बल ने अपनी इन सब बातों का परिचय हमें अपने निजी और स्वतन्त्र ढंग से दिया है। भारत का आरम्भिक साहित्य अपने पुराने पारिभाषिक शब्दों में वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, वेदांगों, षड्दर्शनों, अर्थशास्त्रों, शिल्पशास्त्रों, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, काव्यों, चरित्रों, नाटकों तथा अन्य ग्रन्थों में विभक्त किया जा सकता है।

वेदों में, जिनमें मन्त्र और ब्राह्मण दोनों सम्मिलित हैं, धर्म, प्रार्थना और यज्ञ सम्बन्धी अङ्ग हैं और उनमें पद्य तथा गद्य में साहित्यिक दृष्टि से बहुमूल्य वचन आदि हैं। साथ ही उनमें अनेक ऐतिहासिक, धर्मशास्त्र सम्बन्धी या कानूनी, दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विषय, विचार तथा

सिद्धान्त आदि भी हैं। उपनिषदों में जो वेदान्त है, वह शुद्ध दर्शन या तत्व ज्ञान है और भारतीय मानसिक बल तथा विवेक की सर्वश्रेष्ठ आरम्भिक अभिव्यक्ति है। उनमें जो विचार दिये गये हैं, वे एक मात्र सर्वोच्च वैदिक सत्य का अस्तित्व और संसार तथा मनुष्य के साथ उसके सम्बन्ध सूचित करते हैं। वैदिक और वेदान्त का साहित्य बहुत विशाल है और ईसा से २००० वर्ष पूर्व उसकी सृष्टि हुई थी; और तब से बहुत दिनों तक उसकी बराबर वृद्धि होती रही थी। उनमें भारतीय मानसिक बल और मनोभावों की महत्ता, गम्भीरता और तीव्रता पूर्ण रूप से प्रकट होती है।

वेदों का अध्ययन करने के लिए कुछ नये शास्त्रों की सृष्टि हुई जो छः वेदांगों के नाम से प्रसिद्ध हैं और जो शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष हैं। पीछे से बड़े बड़े विद्वानों ने स्वतन्त्र रूप से इन सहायक शास्त्रों का फिर से विवेचन किया और उनके अनुयायियों या शिष्यों ने उन्हें और भी विकसित किया। पाणिनि के पांडित्यपूर्ण विवेचन से व्याकरण शास्त्र अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया और तब कात्यायन तथा पतंजलि सरीखे परवर्त्ती वैयाकरणों ने उस पर भाष्य आदि प्रस्तुत करके उसकी पूर्णता का निर्वाह किया। निरुक्त, ज्योतिष तथा छन्दः शास्त्र पर भी इसी प्रकार के भाष्य या टीकाएँ आदि हैं। गणित और ज्योतिष में आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर और भास्कराचार्य, कोषों में अमरसिंह, शाश्वत और हेमचन्द्र, काव्य में भरत, दंडी और मम्मट और छन्द शास्त्र में पिंगल तथा और बहुत से लोग प्रसिद्ध हो गये हैं जिन्होंने इन शास्त्रों और विज्ञानों के साहित्य में बहुत कुछ काम किया है। सनातन दर्शन शास्त्र में छः दर्शन हैं, जिनके नाम सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा हैं। सनातन धर्म के विरुद्ध और नास्तिक मत के दर्शन चार्वाक, बुद्ध और जिन के हैं। भक्ति मार्ग में वैष्णवों, शैवों, शाक्तों और बहुत से छोटे छोटे सम्प्रदायों ने बहुत कुछ काम किया है; और इस प्रकार सब लोगों ने इस लोक तथा परलोक से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओं का बहुत अच्छा विवेचन करके भारतीय ज्ञान क्षेत्र में अपनी कर्मण्यता से एक अच्छी कीर्त्ति स्थायी कर दी है। शंकर, रामानुज, मध्व तथा वल्लभ आदि बड़े बड़े आचार्यों और महात्माओं ने अध्यात्म विद्या का बहुत अच्छा विकास किया है और उनके विवेचन इस बात

का बहुत अच्छा प्रमाण हैं कि भारतवासियों का ज्ञान बहुत ही उच्च कोटि का था और उसमें शुद्धता, स्पष्टता, तीव्रता, तात्विक दृष्टि और कल्पना आदि सभी अच्छे अच्छे अंग थे। हमारे यहाँ बहुत से ऐसे भाष्यकार और टीकाकार आदि भी हो गये हैं जिन्होंने अपने भाष्यों और टीकाओं में यह दिखला दिया है कि भारतवासियों में उच्च कोटि की बुद्धि और ज्ञान था।

इतिहास—भारतवासियों ने अपनी जाति के पुराने बड़े बड़े कार्यों और स्मरणीय बातों का इतिहास लिखने में भी उपेक्षा नहीं की थी। रामायण, महाभारत, अठारहों पुराण, उपपुराण, भिन्न भिन्न कथाएँ, आख्यान, इतिवृत्त, कुलवृत्त, चरित और जातकों तथा राजतरंगिणी सरीखे बहुत से ऐसे ग्रन्थ हैं जिनसे भारतवर्ष के इतिहास के आरम्भिक समय की बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री मिल सकती है। इन ऐतिहासिक तथा अर्द्ध-ऐतिहासिक ग्रन्थों में एक बड़ी कमी यह है कि इनमें कोई ठीक और निश्चित काल-क्रम नहीं है, जिसके कारण इनका ऐतिहासिक महत्व बहुत कुछ कम हो जाता है। इनमें एक और बड़ी त्रुटि यह है कि ये ऐतिहासिक ढंग की अपेक्षा अधिकतर नैतिक, धार्मिक और शिक्षा के ढंग से लिखी गई हैं। इनमें से बहुत से ग्रन्थ साहित्य, काव्य और गद्य आदि की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट हैं और इन्हीं दृष्टियों से उनका अध्ययन किया जाता है। उनमें से कुछ के और विशेषतः रामायण तथा महाभारत के बाद में भारत की भिन्न भिन्न भाषाओं में अनुवाद हो गये हैं या उनके आधार पर अनेक ग्रन्थ बन गये हैं और वे उन भाषाओं के साहित्य में अच्छे रत्न समझे जाते हैं। हिन्दी में तुलसीदास कृत रामायण काव्य, नीति तथा धर्म की शिक्षाओं के विचार से एक बहुत उच्च कोटि का ग्रन्थ है। इसी प्रकार मराठी में श्रीधर कृत रामायण और मुक्तेश्वर कृत महाभारत भी साहित्य के प्रसिद्ध रत्न हैं। भारत में ऐतिहासिक साहित्य केवल इस दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता था कि उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिले।

काव्य- भारतीय काव्यों और नाटकों में भी साहित्य के बहुत अच्छे अच्छे बल्कि सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थरत्न मिलते हैं। भास, कालिदास, भवभूति, बाण, हर्ष, हल, शूद्रक, विशाखदत्त, बिल्हण, राजशेखर, जयदेव तथा और बहुत से ऐसे लोग हो

गये हैं जिनके नाम साहित्य क्षेत्र में बहुत अधिक प्रसिद्ध हैं और जो अपने विषय के बहुत अच्छे आचार्य और पंडित माने जाते हैं। साथ ही नीतिशास्त्र की शिक्षा देनेवाले भर्तृहरि, जातकों और धम्मपद के रचयिता, पंचतन्त्र और हितोपदेश के कर्त्ता और चाणक्य, विदुर, भीष्म तथा और बहुत से लोग बहुत अधिक प्रसिद्ध हैं।

सामाजिक-धार्मिक ग्रन्थ—धर्मशास्त्र में मनु, याज्ञवल्क्य, नारद और विष्णु की स्मृतियाँ हैं; अर्थशास्त्र में कौटिल्य, कामन्दक, शुक्र और सोमदेव सूरि के ग्रन्थ हैं; कामशास्त्र में वात्स्यायन और दूसरे लोगों के ग्रन्थ हैं; और मोक्षशास्त्र में भी बहुत से अच्छे अच्छे ग्रन्थ हैं। उनमें जीवन के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, गार्हस्थ्य और आध्यात्मिक अंगों का बहुत अच्छा विवेचन है। वह विवेचन दार्शनिक ढंग से तो किया ही गया है, पर साथ ही ऐसे ढंग से किया गया है कि उसके अनुसार मनुष्य ठीक तरह से आचरण भी कर सकता है। साहित्यिक, वैज्ञानिक और धार्मिक दृष्टि से वे ग्रन्थ बहुत महत्व के हैं और उनमें इस लोक तथा परलोक के जीवन के सभी अंगों का अच्छा विवेचन है। बाद में इन सभी मान्य और प्रतिष्ठित ग्रन्थों की शिक्षाओं और उपदेशों की टीकाकारों आदि ने बहुत अच्छी व्याख्या और विवेचन किया है और ज्ञान तथा विचार की दृष्टि से उन टीकाओं का भी बहुत अधिक महत्व है। महाभारत में भी इन सब विषयों का बहुत अच्छा विवेचन है।

कलाओं और शास्त्रों के ग्रन्थ—आयुर्वेद विज्ञान पर चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट आदि अच्छे ग्रन्थ लिख गये हैं। शिल्पशास्त्र पर मय और अगस्त्य के ग्रन्थ हैं। गान्धर्ववेद पर शार्गदेव और सोमनाथ के तथा धनुर्वेद पर शुक्र तथा और लोगों के ग्रन्थ हैं।

साम्प्रदायिक साहित्य—संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में साम्प्रदायिक साहित्य के भी बहुत अधिक ग्रन्थ हैं। इस प्रकार के बौद्धों, जैनों, वैष्णवों, शैवों, शाक्तों और दूसरे साम्प्रदायवालों के जो ग्रन्थ हैं, उनका भी साहित्य और ज्ञान या विचार की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व है।

मध्ययुगीन और भक्ति साहित्य—जिस समय आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास हो रहा था, उस समय भारतवासियों का बुद्धि और ज्ञान-मय जीवन पुराने संस्कृत साहित्य और विशेषतः रामायण और महाभारत के अनुवादों और आधारभूत ग्रन्थों, भक्तिमय गीतों और काव्यों तथा सन्तों की जीवनियों की रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक स्वतन्त्र रूप से साहित्य का बहुत ही थोड़ा कार्य हुआ था। पर उस समय लोगों के सामने एक नया युग लाकर उपस्थित किया गया और बुद्धि तथा साहित्य के विकास में बहुत जोर पहुँचाया गया। मध्य युग में बहुत से सन्त और महात्मा हुए थे; जैसे महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, रामदास और तुकाराम; गुजरात और राजस्थान में नरसी मेहता और मीराबाई; उत्तरी भारत में कबीर, सूरदास और तुलसीदास; पंजाब में नानक; बंगाल में चंडी-दास, चैतन्य और कृत्तिवास और बिहार में विद्यापति आदि। इसी प्रकार भारत के भिन्न भिन्न भागों में और भी अनेक सन्त महात्मा हुए थे। इन सभी सन्तों और महात्माओं ने भक्ति मार्ग और भक्ति काव्य का विकास किया था। बहुत से ऐसे विद्वान् पंडित और कवि भी हुए थे जिन्होंने रामायण, महाभारत और पुराणों की पुरानी कथाओं और जीवनियों के आधार पर प्रान्तीय भाषाओं में कविता रूप में अनेक प्रकार की रचनाएँ की थीं। इनके अतिरिक्त गद्य और पद्य दोनों में सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक और ऐतिहासिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक स्वतन्त्र रचनाएँ भी हुई थीं। चारण साहित्य, बखार साहित्य, कुलवृत्त और कुल-कथाएँ, राजनीति सम्बन्धी पुस्तकें और राज्य सम्बन्धी काग़ज़ पत्र आदि अनेक भिन्न भिन्न साधन हैं जिनसे उस समय के साहित्य और बुद्धि सम्बन्धी कार्यों का पता चल सकता है।

फ़ारसी की रचनाएँ—फारसी भाषा में भी साहित्य सम्बन्धी बहुत कुछ कार्य हो रहा था। उसमें हिन्दुओं और मुसलमानों ने इतिहास, जीवन चरित्र और राज्य शासन सम्बन्धी बहुत से ग्रन्थ लिखे थे। मुसलमान लेखकों ने बहुत से बड़े बड़े इतिहास लिखे थे। उनकी लिखी हुई भिन्न भिन्न तवारीखें और नामे इस बात का मानों स्थायी स्मृति-चिह्न हैं कि लेखनकला और

साहित्य-रचना में वे लोग कितने प्रवीण थे और उन्हें इनका कितना शौक था। उन्होंने फारसी भाषा में समाज, प्रेम और भक्ति सम्बन्धी बहुत सी कविताएँ भी रची थीं। इस प्रकार की रचनाएँ साधारणतः भिन्न भिन्न कवियों के दीवानों के नाम से प्रसिद्ध हैं। वेदान्त के भावों के अनुकरण पर जो सूफ़ी साहित्य बना है, उसके भी बहुत से भक्त और पाठक हैं। शासनकला और राज्यव्यवस्था सम्बन्धी विषयों पर भी चाहे थोड़ी ही सही, रचनाएँ अवश्य हुई थीं। अब्बुल-फजल कृत आईन अकबरी में शासन सम्बन्धी सभी बातों का बहुत ही प्रामाणिक और विस्तृत वर्णन मिलता है, जो उस परम प्रवीण लेखक की क़लम से निकला है। भारत में जिन इतिहास-लेखकों, जीवनी-लेखकों, कवियों, सन्तों और सूफियों की अब तक बहुत अधिक ख्याति चली आई है, यहाँ उन सब के नाम और ग्रन्थों आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। हाँ इस सम्बन्ध में एक बहुत बड़ी बात ध्यान रखने के योग्य है; और वह यह कि वे सब ग्रन्थ एक विदेशी भाषा में लिखे गये हैं; इसलिए लोग उनका केवल पठन पाठन ही कर सकते हैं। आजकल के लेखकों के लिए वे ग्रन्थ न तो आदर्श हो सकते हैं और न उन्हें किसी कार्य के लिए प्रेरित ही कर सकते हैं। अब तो पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध हो जाने और ज्ञान तथा कला के सम्बन्ध में उनके प्रचुर साधनों और भिन्न भिन्न अनेक रूपों का ज्ञान हो जाने के कारण आजकल के लेखकों का ढंग और आदर्श ही बदल गया है और उनके ज्ञान के उद्गम भी कुछ और ही हो गये हैं।

आधुनिक साहित्य का प्रवाह और उसका स्वरूप—उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से युरोपीय विचारों और साहित्य के स्वरूपों ने इस देश के लोगों के मन, विचार, नीति और ज्ञान में बड़ी भारी क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। साहित्य के नये आदर्श और परिमाण निश्चित हुए हैं। गद्य और पद्य दोनों के नये नये स्वरूप बहुत जल्दी जल्दी बन रहे हैं। सामाजिक और प्राकृतिक सभी प्रकार के नये विज्ञानों का अध्ययन हो रहा है; शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं और मानसिक कार्यों से सम्बन्ध रखनेवाले समाजों आदि में सामाजिक और प्राकृतिक सभी प्रकार के विज्ञानों का अध्ययन, अनुकरण और ग्रहण हो रहा है। काव्य और नाटक ने ऐसे नये नये अनेक स्वरूप, उद्देश्य और प्रावृत्तियाँ प्राप्त की

हैं जिन्हें पहले कोई जानता भी नहीं था। ध्वनि और विषय के विचार से वे केवल भक्ति, धर्म या प्रेम से ही सम्बन्ध नहीं रखती हैं, बल्कि उनमें मनुष्य और उसके समाज के कार्यों और प्रकृति के भिन्न भिन्न सौन्दर्य और सुख दुःख की बातें अनेक रूपों में और बहुत अधिक मात्रा में अभिव्यक्त होती हैं और वे हम लोगों में आनन्द और दुःख, परिहास और भय आदि भावों का सहानुभूतिपूर्ण उद्रेक करती हैं। मनुष्य के कार्यों और विचारों, प्रकृति की शुभ कृपाओं और विनाश और ईश्वर की उदारता और दण्ड आदि सभी बातों पर ध्यान दिया गया है और भाषा में उनकी अभिव्यक्ति की गई है।

गद्य—गद्य-लेखन का कार्य बहुत शीघ्रतापूर्वक बढ़ा है। गद्य साहित्य के नये नये स्वरूप, जैसे प्रबन्ध, इतिहास, जीवन-चरित्र, तत्वज्ञान, उपन्यास, नाटक और कहानियाँ आदि बहुत अधिक प्रचलित हो गई हैं और उनसे भारत के ज्ञान तथा मानसिक जीवन की उन्नति में बहुत अधिक सहायता पहुँची है। समाचारपत्रों का यथेष्ट विकास हुआ है और मंचों तथा राजकीय सभाओं में धर्म, राजनीति तथा समाज आदि से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत से व्याख्यान और प्रवचन आदि होने लगे हैं, जिनसे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक आदि सभी प्रकार के विचार प्रकट करने के लिए खूब विस्तृत क्षेत्र मिल गया है। कालेजों और विश्वविद्यालयों ने मानसिक तथा ज्ञान सम्बन्धी उन्नति को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया है और शिक्षित लोगों को नये स्वरूपों तथा नये विचारों से परिचित कराया है।

इस समय भारत के मानसिक तथा ज्ञानमय जीवन के भी उतने ही अंग हैं जितने आधुनिक युरोपियन देशों में देखने में आते हैं; और भारतवासी इस नवीन संस्कृति को ग्रहण करके अपनी रचनात्मक प्रतिभा तथा पिछली परम्परा के अनुकूल रूपों में व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। भारतवर्ष ने संसार के सामने ऐसे बड़े बड़े कवि, उपन्यास-लेखक, नाटककार और दार्शनिक प्रस्तुत किये हैं जिनके लिखे हुए ग्रन्थ भारत के बाहर भी पढ़े जाते और प्रशंसित होते हैं। संसार के साहित्यिक क्षितिज में डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रतिभा सब से ऊपर और बढ़ी चढ़ी है।

वैज्ञानिक अध्ययन की कुछ शाखाओं को विकसित करने में भी भारत-वासियों की मानसिक शक्ति ने बहुत कुछ काम किया है। सर जगदीशचन्द्र बोस, डा० पी० सी० राय और डा० रमण की वैज्ञानिक क्षेत्रों और समाजों में बहुत अधिक ख्याति है।

भारतवासियों के पूरे मानसिक विकास में एक अनिवार्य बाधा यह है कि उन्हें अपने विचार प्रकट करने में प्रधानतः अँगरेजी भाषा की सहायता लेनी पड़ती है। बहुत से अच्छे अच्छे ग्रन्थ भी अँगरेज़ी में ही लिखे जाते हैं और उनके सम्बन्ध का अध्ययन भी अँगरेज़ी में ही होता है। इसी लिए हमारी सर्व-श्रेष्ठ रचनाएँ सर्व साधारण तक नहीं पहुँचने पातीं। जनता की राष्ट्रीय अथवा प्रान्तीय भाषाओं में रचनाएँ करने पर कोई जोर नहीं दिया जाता। भारतीय मानसिक प्रतिभा की अधिक पूर्ण तथा उत्तम अभिव्यक्ति और उपयोगिता के लिए यह बात बहुत ही आवश्यक है कि लेखक अपने विचार अपनी मातृभाषा में ही प्रकट करना आरम्भ करें। जब तक यह काम अधिक परिमाण में न होगा, तब तक भारतीय मानसिक शक्तियों की ओर न तो लोगों का ध्यान ही जायगा, न लोग उनका महत्व ही समझेंगे और न उनका ठीक ठीक फल ही होगा।

मुसलमानों का कार्य—भारतवर्ष में मुसलमानों ने हिन्दी, फारसी और अरबी भाषाओं के आधार पर एक नई भाषा गढ़ डाली है। हिन्दी भाषा में फारसी के शब्द बहुत अधिक मिलाने का फल आधुनिक उर्दू भाषा के रूप में प्रकट हुआ है, जिसमें मुसलमान कवि और गद्य लेखक अपने विचार तथा भाव प्रकट करते हैं। उर्दू में रचना के ढंग, शब्द और कहावतें आदि अधिकांश में फारसी कवियों और लेखों से ली गई हैं। कसीदा, गज़ल, मसनवी, मरसिया और रुबाइ आदि फारसी अनुकरण के उदाहरण हैं। अमीर ख़ुसरो से लेकर मुहम्मद इक़बाल तक बहुत से लोगों के नाम उर्दू साहित्य में प्रसिद्ध हैं। इति-हास, जीवनचरित्र, उपन्यास, नाटक और नैतिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक विषयों पर लिखनेवाले बहुत से गद्य लेखक भी हुए हैं। युरोपीय विचारों और साहित्य के प्रभाव से वह भी नये नये रूप और ढंग पकड़ रही है और अनुवाद,

आधार ग्रन्थ तथा स्वतन्त्र रचनाएँ प्रस्तुत करके वह भी अपनी उपयोगिता के क्षेत्र का विकास कर रही है।

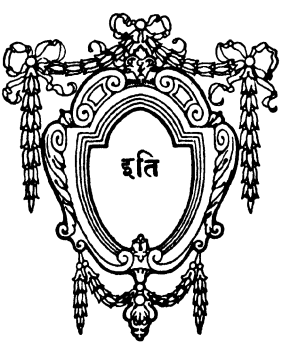

मुद्रक —पं० विश्वम्भरनाथ भार्गव के प्रबन्ध से स्टैन्डर्ड प्रेस, इलाहाबाद।

अनुक्रमणिका

अ

अखिलवादी १०५
अगस्त्य २८३
अ-जातीय समाज १७३
अडयार १११
अधिकारी २६८
अधिवासी १८
अनुलोम १४५
—विवाह १७०
अन्त्यज १८२
अपारिवारिक अवस्था १६२,१६४,१६५
अबीदुबैस १८३
अब्राह्मण आन्दोलन २०४
अमर सिंह २८१
अर्थशास्त्र २८३
अलवार ६३
अल्काट ११०
अवतार के रूप ८६
अस्पृश्यता—१८१
—का आधार १८१
—का प्रचलित रहना भयावह है १८५
—का मूल १८२
—के प्रकार १८१

आ

आधुनिक—कला २२०
—धार्मिक आन्दोलन १०५
आधुनिक—प्रवृत्तियाँ ३३
—शिक्षा २४६, २६२
—साहित्य का प्रवाह और स्वरूप २८५
आनन्द कुमार स्वामी ४६
आयुर्वेद—२८३
—कला २१२
आर्य्य—१६
—अष्टाङ्गिक मार्ग ७८
—उपादान २१
—कुटुम्ब १६६
—द्रविड़ उपकरण ४५
—भट्ट २८१
—भावों और पद्धतियों का प्राधान्य ३६
—भाषाएँ ३७
आर्य्य समाज—१०६, १०८, १८७, २०२, २१०, २७६
—का हिन्दू समाज पर प्रभाव १०८
—के दस सिद्धान्त १०७
आर्य्य समाजी २०३

इ

इतिवृत्त २८२
इतिहास २८२
इस्लाम—१२३, १८७

इस्लाम--का अन्य धर्मों के प्रति विरोधी भाव १३०
—,भारत में १२९
इस्लामधर्म--१२४, १९०
—,प्रतिज्ञा १२४

ई

ईश्वरीय संदेश २३०
ईसा ११७, ११८, १२१
ईसाई—१८७, २०३
—अधिवासी ३२
—धर्म ३२, ११७, १२०, २०२
—धर्मानुसार ईश्वर का स्वरूप १२०
—नीति २०४
—पादरियों का उद्देश्य २६३
—पादरी २०३
—मिशनरी २०३, २१०
—लोग १२१

उ

उज्जयिनी २४४
उत्तर-पश्चिमी भाग ७
उत्तर मीमांसा २८१
उत्तराधिकार १६७, १६८
उत्तराधिकारी १६८
उत्तरी भाग ७
उपजातियाँ १५७
उपनिषद् ६२, ६४
उपनिषद्-कालिक शिक्षा—२३८
—, अध्ययन की रीति; २४३
उपनिषद्, अध्ययन के विषय; २४३
—, आय के मूल-साधन; २४१
—, 'कौन लोग पढ़ते थे' २४०
—, प्रणाली की विशेषताएँ; २४५
—, विद्या के बड़े केन्द्र; २४४
—, विश्वविद्यालय; २४२
—, शिक्षा संघ; ,,
—, शूद्रों की शिक्षा; २४४
—, स्त्री-शिक्षा; २४३
—, स्नातक के कर्त्तव्य; २४०
उपपुराण २८२
उपादान—, आदि— २१
—, आर्य्य— ,,
—, द्रविड़— ,,
उपादानों की मुख्य विशेषताएँ २१
उर्दू ३७

ऋ

ऋग्वेद— ५५
— के देवता ५५

ए

एकता का ज्ञान—
—, आरंभिक काल से—१०
—, देश की धार्मिक—१२
—, देश की राजनीतिक—१३
—, धर्म-प्रचारकों तथा उपनिवेश स्थापकों में—१४
—, सामाजिक— ,,
एकता का भाव—

एकता०—, आधुनिक काल में—१६
—, का भारतीय इतिहास पर प्रभाव १५
—, माध्यमिक काल में—१५
एकता की झलक—, संस्कृत भाषा में—१५
एकनाथ ६८, २८४
एक-पति-प्रथा १६५
एक-पत्नी-प्रथा ,,
एजूकेशन कमीशन २७३
एनी बेसेण्ट १११, २०४

ऐ

ऐपनिषदिक—धर्म ८४
—सिद्धान्त ,,

अं

अंग्रेजी—भाषा ४२
—शासन २०३

क

कथाएँ २८२
कबीर ६६, २८४
कर्त्ता १६८
कर्म—कला २१२
—काण्ड ६१
कलकत्ता-यूनिवर्सिटी-कमीशन २७४
कला—२११
—, आधुनिक—२२०
— का उद्गम २१२
— की अन्तर्भूत एकता ३६
— की प्रवृत्ति और स्वरूप २१२
कला—, चित्र—२१७
—, पाश्चात्य—२१५
—, बौद्धकाल से पूर्व २१८
—, बौद्धकालिक— ,,
—, भारतीय—२१३, २१६
—, मूर्त्ति-निर्माण—२२१
—, ललित—२११
—, वास्तु—२२३
—, संगीत—२२६
काम—कला २१२
—, शास्त्र २८३
कामन्दक ,,
कालिदास २८२
काली का नृत्य २२६
काव्य—२८१, २८२
—, कला २१२
काशी २४४, २५१
कुटुम्ब—१६०, १६५, १६८, १७१
—, अविभक्त—१६७
—का धर्म ,,
—की प्राचीनता १६१
—भावना १६६
—, संयुक्त—१६८
—संस्था १६६
कुरुल ६५
कुल—कथाएँ २८४
—देवता १६७
—धर्म ,,
—वृत्त २८२, २८४

कुलाचार १६७
कृत्तवास २८४
कृष्ण—७०
—का नृत्य २३०
केशवचन्द्र सेन १०६, २०३
कोष २८१
कौटिल्य २५४, २८३
—, राजकुमारों की शिक्षा २५४
कौटुम्बिक जीवन १६६
क्षत्रिय—१३८, १४६
—वर्ण १४२
—व्यवसाय २३२

ख

खालसा—पन्थ १०२
—संगत १०२
खैबर की घाटी ६
खोजा १३१

ग

गणित २८१
गद्य २८६
गान्धर्व वेद—२८३
—कला २१२
गुप्तकाल २२५
गुरू २४१, २४२
गृह-निर्माण-कला २१२, २२३
गृहपति १६६, १६८
गृहस्थाश्रम १७५
गृहस्वामी १६६
गृह्य और श्रौत ६१
गोत्र १३६
गोविन्द सिंह १०२, १०३
गौतम ७७
गौतम बुद्ध और हिन्दू धर्म ८४
ग्राम-संस्थाएँ २०६

च

चंडीदास २८४
चरक २८३
चाणक्य २८३
चाण्डाल—१८२
—का अपराध १८४
चातुर्वर्ण—की शिक्षा २३२
—के प्रारम्भ की अवस्था २३३
चारों वर्ण १३८, १४१, १४५
चार्वाक २८१
चित्रकला—२१२, २१७, २२०
—के छः अंग २१८
चीनी-यात्री हुत्सिंग २५६
चौंसठ कलाएँ २११

छ

छन्द—२८१
—शास्त्र २८१
छूआछूत—१८१
—, घरेलू— ,,
—, जातिगत— ,,
—, स्थायी—१८२

ज

जगदीशचन्द्र वसु ४६
जगन्नाथ १८६

जयदेव २८२
ज़रदुश्त ११४, ११५
जाति—१३७
—का मूल १३६
—की धारणा का उत्थान १३८
—की प्रथा १५४
जातिगत संमिश्रण के बाधक कारण ३३
जातियाँ—१३८, १४०, १५७, १६०, २०७
—जो भारत में आईं १६
जातियों का युरोपीय विभाजन—१४६
—के साधन १४६
जातियों का वर्गीकरण—
—,मस्तक-विज्ञान के अनुसार १६
—,रिसले का २०
जातियों—की वृद्धि १४२
—के स्थान-परिवर्त्तन के कारण १८
—पर प्रभाव डालनेवाले कारण २२
जातिहीन समाज १७३
जातीय भावना १५२
जान वेप्टिस्ट ११८
जिन २८१
जीवन-निर्वाह की सामान्य विधि ४०
जैन—७२, १८७
—,पूर्ण—७४
जैन धर्म—७२
—का उपनिषदों से अंतर ७५
—के पवित्र ग्रन्थ ७५
जैन धर्म—के सम्प्रदाय ७५
—में उपनिषदों के भावों का ग्रहण ७५
जैनी—२०२
—की संख्या ७५
ज्ञान—कला २१२
—की प्राप्ति ७७
—देव ६८
ज्ञानमय जीवन २८०
ज्ञानेश्वर २८४
ज्योतिष २८१

झ

झुण्ड १६६

ट

टोकाकार २८२

त

तक्षशिला २४८
तत्त्वज्ञान १०२
तवारीखें २८४
तामिल संत ८८, ६३
तिरुवल्लुवर ६५
तिरुवा सगम् ८८
तिलक—२०४
—का गीता-रहस्य २०४
तुकाराम ६८, ६६, १८६, २८४
तुलसीदास ६७, ६८, २८४
तैलंग १०६
त्रिमूर्त्ति की धारणा ८५

थ

थियासोफ़िकल—समाज १८७

थियासोफ़िकल—साहित्य २०४
—सोसाइटी १११, २७६
थियासोफ़िस्ट २०३
थियासोफ़ी का आन्दोलन ११०

द

दक्षिण—८, २४४
—तथा सागर ८
दक्षिणी भाग ७
दयानन्द १०७, २०३
दरबार साहब १०३
दर्शन शास्त्र २८१
दादू ९६
देवता ५५
देव—नागरी ४३
—समाज १८७
देवेंद्रनाथ ठाकुर १०५, २०३
देश—की सीमा ६
—प्रेम ४, ५, १६
—भक्ति १२
दंडी २८१
द्रविड़—१९
—भाषाएँ ३७

ध

धन १६८
धनुर्वेद—२८३
—कला २१२
धर्म—का आधार ५२
—का प्रभाव ''
—का महत्त्व ५१
धर्म—की उपयोगिता १३१
—की मुख्य धारणा ५३
—की सार्वदेशिक प्रधानता ५१
—के अध्ययन की विधि ५३
—के तात्त्विक उपकरण ६९
—के विभिन्न मार्ग और प्रणालियाँ ५३
—के सिद्धान्त ७०
—परिवर्त्तन २१, १०९
—परिवर्त्तन, ज़बरदस्ती ३२
—शास्त्र २८३
—साधन १०३
—साधन के तीन प्रकार १०३
—सुधारक १४३
धार्मिक—असहिष्णुता १३५
—जीवन ५१
—सहिष्णुता १३३
धार्मिक—सुधार १५८

न

नई शिक्षा का प्रभाव २६७
नयनमर ८८
नरसिंह सरस्वती ९८
नरसी मेहता ९७, २८४
नव विधान १०६
नवीन धार्मिक आन्दोलन १८७
नागरिक १
नाथ मुनि ९३
नानक ९९, १००, २८४
—का संदेश १००

नानक—की शिक्षाएँ १००
—पन्थ १०२
नाना शंकर शेठ २६६
नामदेव ६८, १८६, २८४
नामशूद्र १८६
नारद २८३
नालन्द २४७, २४६
नालाइरा प्रबन्धम् ६३
नास्तिक मत २८१
निम्बार्क ६३
नियोग १६६
निरुक्त २८१
निवेदिता ४६
नीति-शास्त्र २८३
नृत्य—और अभिनय २१२
—कला २२८
—कला का उद्देश्य २२८
न्यू टेस्टामेन्ट १२०

प

पचैयप्पा २६६
पञ्च ककार १०३
पण्डित मदनमोहन मालवीय २७६
पतंजलि २८१
पत्नी का कर्त्तव्य १६६
पराशर १८३
परिवार—१६०–१६४
—का अर्थ १६३
—की प्राचीनता १६१
—, पितृ-प्रधान—१६३, १६५
परिवार—प्रणाली १६४
—, मातृ-प्रधान—१६४
पवित्रता और संकरता की धारणा—१५२
—की बुराइयाँ १५५
—के लाभ १५२
पाणिनि २८१
पाप-पुरुष ११५
पारसी धर्म ११४
पाश्चात्य प्रभाव १५८
पिंगल २८१
पुनरुत्थान—१६६
—प्रेमी २००
पुनर्जन्म ८३
पुनर्विवाह १७६
पुराण ६६, २८२ , २८४
पुरोहित ६३
पूर्व-पारिवारिक अवस्था १६२, १६४, १६५
पूर्व मीमांसा २८१
पैगम्बर मुहम्मद १८६
पौराणिक काल ६८
पौरोहित्य—६१
—का विरोध १२८
पंचतन्त्र २८३
पंचम १८२, १८३
प्रतिलोम १४५
प्राचीन कट्टरपन १५६
प्रान्तों की समस्या २०७

प्रारम्भिक शिक्षा-प्रणाली २६०
—, अंग्रेज़ जाति के शासन-काल की—२६१
—, अंग्रेज़ों के आने के पूर्व की—२६०
प्रार्थना समाज १०६, १८७

फ

फ़ारसी की रचना २८४
फ़िरके ११२

ब

बखार साहित्य २८४
बल्लभाचार्य्य ६३, ६६
बहिर्गोत्र १३६
बहुपति प्रथा १६५
बहुपत्नी प्रथा १६५
बहु-विवाह १६३, १६४, १७०, १७८
बाल-विवाह १७७, १८०
बासव १०३
बिल्हण २८२
बुद्ध—७७–७६, २८१
—, उपास्य के रूप में—७६
—का संदेश ७७
—की प्रधान शिक्षाएँ ८०
बुद्ध—के अनुशासन ७६
—, गौतम—७७
—, ज्ञान की प्राप्ति ७७
बौद्ध १८७, २०२
बौद्ध धर्म—७६, ७७
—, 'अभेद्य अन्तर नहीं' ८२
बौद्ध धर्म—का प्रचार ८१
—का विभक्तीकरण ७६
—की पवित्र पुस्तकें ८१
—के मतभेद ७६
—के मुख्य सिद्धान्त ८०
—के संघ और नियमबद्धता ८०
बौद्ध प्रणाली—२४६
—का स्वरूप ,,
बौद्ध विश्वविद्यालय २४६
बंगाल २४५
ब्रह्म ६५
ब्रह्मगुप्त २८१
ब्रह्मचर्य्य १७४
ब्रह्मचर्य्याश्रम १७५
ब्रह्मवादिनी-गार्गी ८३
—महिलाएँ ,,
ब्रह्म-समाज—१०५, १८७, २०२, २०३, २१०, २७६
—साधारण—१०६
ब्रह्म-समाजी— २०३
ब्राह्मण—१३८, १३६, १४५, १४६
—काल ६३
—गुरू २३२
—ग्रन्थ ६३
—धर्म का प्रभाव ८१
—प्रणाली २३१
—वर्ण १४१
—विश्वविद्यालय २४८
—व्यवसाय २३२

ब्रिटिश शासक—२६२
—की आवश्यकताएँ २६२
—के उद्देश्य २६३
—के प्रयत्न २६२
ब्लैवेट्स्की ११०

भ

भक्त सन्त १८६
भक्ति—आन्दोलन ६४
—मार्ग ६८
भरत २८१
भर्तृहरि २८३
भवभूति २८२
भागवतवाद—७०
—का बौद्ध एवं जैन धर्मों पर प्रभाव ७१
भागवत सम्प्रदाय ६४
भाण्डारकर २०४
भारत—४६, ४७
—का आकर्षण १६
—का भविष्य ४६
—की प्रधान ध्वनि ४८
—की राष्ट्रभाषा ३८
—की समाज संस्थाएँ १३६
—के मुसलमान २६
—धर्म महामण्डल २०४
—में इस्लाम १२६
—पर अँग्रेजों की विजय ३२
—,विश्व की संस्कृतियों का संगम-स्थल ४७
भारतवर्ष—१३, १५, १६
—की परिपूर्णता २
—की भौगोलिक एकता ५
—के पड़ोसी ६
भारतीय कला—२१६, २१७
—का विकास २१३
—की विशेषता ,,
—की विशेष ध्वनि ,,
भारतीय—कार्यकर्त्ता २६५
—धर्मों की घनिष्ठता ३८
—नागरिक २,५
—नागरिकता १
—मत और विदेशी मत ३६
—मुसलमानी कला २२५
भारतीय सभ्यता—२२, २८
—,अरब का प्रभाव ४५
—,ईरानियों का अल्प प्रभाव २३
—,विदेशियों का प्रभाव २२
—,शक और हूणों के प्रभाव का अभाव २५
भारतीय सामाजिक इतिहास के काल-विभाग १४१
भारतीय सामाजिक सुधार, १६वीं और २० वीं शताब्दि २०३
भारतीय संस्कृति—३६
—,अनुभूति,विचारधारा और जीवन-सम्बन्धी दृष्टि कोण ४१
—की एकता ३६
—,साहित्य में सामान्य धारा ४०

भाषाओं की घनिष्ठता ३६
भाष्यकार २८२
भास २८२
भास्कराचार्य्य २८१
भिक्षु २०६
भिक्षुणियों की प्रणाली ८३
भिक्षुप्रणाली ८२
भीष्म २८३
भौगोलिक—एकता ११
—तत्त्वों का मनुष्य पर प्रभाव ३

म

मकतब २५८
मदरसा ''
मध्ययुगीन और भक्ति साहित्य २८४
मध्व २८१
मनु—१७६, १८३, २८३
—के नियम २३४
—स्मृति ६७
मनुष्य जाति का आदि निवास-स्थान १८
'मनुष्य ही ईश्वर है' ६५
मन्त्रीगण और शिक्षा २७५
मम्मट २८१
मय २८३
मस्तक विज्ञान १६
महादेव गोविन्द रानडे १०६
महाभारत २८२, २८४
महायान ७६
महाराष्ट्र—२०२
महाराष्ट्र—सन्त ६८
महावीर—७२—७४, ७६
—का संदेश ७३
मातृप्रधान प्रणाली १६५
माधव ६३
मानवी अधिकार १८४
मानिक्क वासगर ८८
मीराबाई ६७, २८४
मुग़ल—कला २१६
—गृह-निर्माण २२५
मुण्डा भाषाएँ ३८
मुसलमान सुलतान २६
मुसलमानों का कार्य्य २८७
मुसलमानों की शिक्षा—२५८
—का मध्य युग में महत्त्व २६०
—के दोष २६०
—के संरक्षक २५६
—,पाठ्य विषय २५६
मुसलमानों—के कर्त्तव्य १२७
—के सामाजिक जीवन के सिद्धान्त १८८
—में एकता २७
—में दासत्व प्रथा १८६
—पर हिन्दुओं का प्रभाव २८
—,संख्या १३०
मुस्लिम जनता २७
मुहम्मद—१२३, १२५, १२८, १८६
—की धार्मिक प्रवृत्तियाँ १२३
—के संदेश और शिक्षाएँ १२५

मूर्त्ति-निर्माण—२१७
—कला २१२, २२१
—कला की गान्धार शाखा २२२
—कला की दक्षिणी शाखा २२३
मूर्त्ति-पूजा १२८
मूसा ११६
मेकाले २०३
मोक्षशास्त्र २८३
मोपला १३१
मौर्यकाल २२४

य

यज्ञ से मुक्ति ६४
यज्ञोपवीत संस्कार १७६
याज्ञवल्क्य २८३
युरोपीय—आदर्श ४७
—प्रभाव ३१, ४६
यूनानी—२३, २५
—प्रभाव २३
यूनिवर्सिटी—ऐक्ट २७३
—कमीशन २७३
यूरेशियन अधिवासी ३२
योग २८१

र

रक्त-सम्बन्ध का विचार १६०
रस २१५
राजनीतिक सुधार २०६
राजनीति-सम्बन्धी पुस्तकें २८४
राजपूत कला २१६
राजशेखर २८२
राजा राममोहन राय १०५, २०३, २६५
राधाकुमुद मुकर्जी १७, १५६
राधास्वामी १०४
रानडे २०४
रामकृष्ण—आश्रम २१०
—परम हंस १०६
—मिशन १०६
रामचरितमानस ६८
रामदास ६८, २८४
रामानुज ६३, ६५, १८६, २८१
रामानन्द ६५, १८६
रामायण २८२, २८४
राष्ट्र १३२, १६०
—और धर्म १३२
राष्ट्रीय—जीवन में धर्म का स्थान १३१
—शिक्षा २७५
राष्ट्रीयता का भाव १६
रिफ़ार्म ऐक्ट २०४
रिसले का वर्गीकरण २०

ल

ललित कलाएँ २११, २१२
ला, एन० एन०—१५६
लार्ड हार्डिंज २६८
लिंगायत १०३, २०२
लिपि—३८
—की वर्त्तमान समस्या ४३
लोक-नीति—१
—के अंग ५१

व

वर्ण—१३६, १३७, १३८
—सम्बन्धी धारणा १३६
—संकर यूरेशियन समाज ३२
वर्णात्मक समुदाय १४६
वर्णाश्रम व्यवस्था ६७
वल्लभ २८१
वाग्भट्ट २८३
वाण २८२
वात्स्यायन २८३
वानप्रस्थ—१७५
—आश्रम ''
वाराहमिहिर २८१
वासुदेवोपासना ७०
वास्तु-कला—२२३
—की आवश्यकता २२४
वास्तु-कला की शैली—२२४, २२५
—, द्रविड़ २२५
—, पठान ''
—, प्रान्तीय ''
—, मुग़ल ''
वास्तुशास्त्र २२४
विक्रमशिला २४७
विट्रोवा १८६
विदुर २८३
विद्यापति २८४
विधवा—१६६
—का पुनर्विवाह १७०
—की जायदाद १६८
विधवा—विवाह १७८
—विवाह का निषेध १६६
विवाह और गोत्र की भावना १७०
विवाह-विधियाँ १७७
विवेकानन्द २०४
विशाखदत्त २८२
विश्व की धारणा ८६
विश्वविद्यालय—२४२, २४७
—,नये २७४
—,पुराने २७३
विश्व—सभ्यता ४८
विष्णु—८६
—के तीन रूप ६०
वेद—५५, २८०, २८१
—क्या है ५५
—में विष्णु ७०
—में शिव ८६
वेदांग २८१
वेदांती ३६
वैक्ट्रियन यूनानी २४
वैदिक काल ५४
वैदिक देवताओं की विशेषता—५८
—,'अनेकता के मूल में एकता' ५६
—,'वस्तुतः केवल एक देवता' ५६
वैदिक—धर्म ६६
—प्रार्थना ६०
—यज्ञ ''
—यज्ञ का उद्देश्य ६०
—विचार-धारा ५७

वैदिक—संस्कृति की प्रकृति ६२
वैवाहिक बाधाएँ १७८
वैशेषिक २८१
वैश्य—१३८, १४६
—का ज्ञान २५५
—जाति १४७
—वर्ण १४२
—व्यवसाय २३३
वैष्णव २८१
वैष्णव धर्म—८६, ६३, ६४
—का संदेश ६०
—के पवित्र ग्रन्थ ६०
वैष्णव सम्प्रदाय ६७

श

शाक्त ६४, २८१
शारङ्गदेव २८३
शाश्वत २८१
शिक्षा—७८, ११५
—का स्वाभाविक काल २३३
—की नई शक्तियाँ और साधन २६२
—के भिन्न भिन्न अंग २३१
—को सरकारी बनाने की नीति २६६
—मय जीवन २३१
—संघ २४२
शिक्षित समुदाय २०४
शिल्प-शास्त्र २११, २२४,२ ८३
शिव—का नृत्य २२८
शिव—का स्वरूप ८६
—के तीन मुख्य रूप ८७
—, वेदों में ८६
—, सर्वोच्च देवता ८७
शिष्य का नियम २३४
शीया १३१
शुक्र २८३
शुद्धि ३१, २०२, २०५
शूद्र—१३८, १४७
—, अति—१८३
— जाति १४८
—, नाम—१८३
—वर्ग २३३
—वर्ण २४३
—, सत १८३
शूद्रक २८२
शूद्रों की शिक्षा २४४
शैव २८१
शैवमत—८६, ८८
—की मूल बातें ८७
शंकर २८१
शंकराचार्य्य ८८, ६३, ६४, १८६

स

संन्यास १७६
सगोत्र १३६
—विवाह १७०
सन्नामी १०४
सत्य की अनेकरूपता ११३
सत्यार्थप्रकाश २०४

सत् शूद्र १८३
सनातनी २०२
सन्तपाल ११६
सन्तों का—जीवन ६६
—व्यवहार १८६
सभ्यता २५
समाज—, पुराना—१६०
—शास्त्र १६०—१६२
—शास्त्रवेत्ता १६१, १६२
—शास्त्री १६६
समाज सुधार—१६१
—, 'कट्टर लोगों का विरोध' १६३
—का लक्ष्य १६५
—की प्रेरक भावना १६६
—की बाधाएँ १६५
—की समस्या १६४
— 'समाज-सुधारकों का विरोध' १६३
समाज-सेवा— २०८
—, आधुनिक काल में—२०६
—की आवश्यकता २०८
—, प्राचीन काल में—२०६
—संघ, विशेष प्रकार के २०६
—, औद्योगिक १४६
—, धार्मिक या साम्प्रदायिक १५१
समुदाय—, वर्ग या वर्णात्मक १४६
—, स्थानीय या प्रवासी १५०
समुद्र का प्रभाव ६
सम्राट् अशोक २०६
सम्राट् के कार्य्य १४३
सवर्ग विवाह १७०
सहनशीलता की आवश्यकता ११३
सहभोज १४०
सहवास बिल २०४
सहिष्णुता १३४
सामाजिक कुरीतियाँ १६०
—का धार्मिक आधार १६०
सामाजिक—चेतना २१०
—जीवन १३६
—बुराइयाँ १६०
—बुराइयों के कारण १६१
—रीतियाँ १७४
—विच्छृङ्खलता के कारण १४३
—विधियाँ ४०
—समानता १८६, १८६
—सुधार २०५, २०६
—सुधार में सरकारी हस्तक्षेप २०५
—सुधार का अभाव १४८
—संघटन १४४, १५७
—संस्था के रूप में शिक्षा की व्यवस्था २३१
सामान्य माध्यम—४२
—, अंग्रेजी भाषा ४२
—, हिन्दुस्तानी ४३
सामान्य लिपि ४३
—, फ़ारसी—,४४
—, देवनागरी, ४३
—, रोमन—,४४

सार्वजनिक शिक्षा— २७२
—की उन्नति ,,
सार्व प्रान्तीय—जाति विवाह १५६
—सम्बन्ध ,,
सिक्ख धर्म ६६
सिख १८७, २०२
सिस्टर निवेदिता २०४
सुधार—की क्रान्तिमय प्रणाली २०१
—की विकासवादिनी प्रणाली २०२
—के प्रकार, अनिवार्य्य १६८
—के प्रकार, स्वेच्छाजन्य ,,
—, नकल, १६६
—, युक्तिसंगत पुनर्घटन २००
—, राजनीतिक—२०६
सुधारक—१४३, १८६
—के कार्य्य १४३
—के व्यवहार १८६
सुन्नी—१३१
— और शीया १२७
सुश्रुत २८३
सूफ़ी—३६, १३१
—साहित्य २८५
सूरदास ६७, २८४
सेकेंडरी स्कूल एंड इंटरमीडियट कालेज बोर्ड २७५
सेवा-सदन २०६
—समितियाँ २०६
सैयद अहमद २७६
सैलवेशन आरमी २१०
सोमदेव २८३
सोमनाथ ,,
सौन्दर्य्य—का विचार २१५
—मय जीवन २११
—शास्त्र २११
संकरता १५२
संगीत कला—२१२, २२६
—का धार्मिक स्वरूप २२६
—की शैलियाँ, दक्षिणीय या कर्णाटकी २२७
—की शैलियाँ, हिन्दुस्तानी २२७
संघ ७४, ८०
संघटन ३१, २०२, २०५
संयुक्त कुटुम्ब—१७१
—की उपयोगिता १७१
—के दोष १७१
संयुक्त परिवार १६३
सांख्य २८१
स्त्रियें—की आधुनिक आवश्यकताएँ १८०
—की स्थिति १६८, १७६
स्त्री—१६७
—की प्रशंसा १८०
—की मर्यादा १६७, १७६
—शिक्षा २४२, २४४
स्थान—तथा मनुष्य का एक दूसरे पर प्रभाव ५
—से प्रेम ४

स्नातक के कर्त्तव्य २४०
स्मृतिकार ,,
स्मृतिकाल ,,
स्मृतियाँ ६६
स्वयंवर १७६
स्वर्ग—नरक ११७
स्वामित्व १६८, १६६
स्वामी—, ए० सी० २१३
—दयानन्द १०६
—रामकृष्ण १०६
—रामतीर्थ २०४
—विवेकानन्द १०६, ११०, २०४
स्वाम्याधिकार १६७

ह

'हमारी दुर्बलताएँ' १६६
हर्ष २८२
हल ,,
हिजरत १२४
हितोपदेश २८३
हिन्दुओं—का कर्त्तव्य १८४
—की जाति-भावना २५
—पर मुसलमानों का प्रभाव २८, ३०
हिन्दुत्व—, लोकप्रिय—६८
हिन्दुस्तान नाम का कारण १२
हिन्दू धर्म—५४
—, एक महान धर्म है ५४
—की मुख्य धारणा ,,
—के पुनरुद्धार का आन्दोलन २०४
—, सबसे प्राचीन है ५४
हिन्दू भावना की प्रधानता २३
हिन्दू शिक्षा—२३१
—का सामान्य स्वरूप २५७
हिन्दू सभा—२१०
—वाले २०२
हिन्दू—'सम्प्रदायों का मौलिक विरोध नहीं' ११२
—सामाजिक जीवन की सामान्य धारा १८७
—सुधार २०५
—संघटन १०६
हीनयान ७६
हेमचन्द २८१